काव्य कल्पद्रुम

परिवर्द्धित और परिष्कृत

तृतीय संस्करण

का

द्वितीय भाग

अलङ्कार मञ्जरी

अर्थात्

संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रंथों के आधार पर

अलङ्कार

का

विवेचनात्मक अपूर्व हिन्दी ग्रंथ

—❧✻❧—

लेखक

रामगढ़ (सीकर-जयपुर) निवासी संप्रति मथुरास्थ

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

—❧✻❧—

तृतीय संस्करण } सं० १९९३ { मूल्य १॥) सजिल्द १॥॥)

प्रकाशक—
पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा,
मथुरा ।

मिलने का पता—
पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा,
चुड़ीवालों का मकान, मथुरा ।

मुद्रक—
सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस,
आगरा ।

विषयानुक्रमणिका

अष्टम स्तवक

नवम स्तवक

दशम स्तवक

* श्री हरिःशरणम् *

प्राक्कथन ।

"वितीर्णशिक्षा इव हृत्पदस्थ—
सरस्वतीवाहनराजहंसैः ।
ये क्षीरनीरप्रविभागदक्षा
विवेकिनस्ते कवयो जयन्ति ।"

—महाकवि मंखक

काव्यकल्पद्रुम का प्रस्तुत संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया है । इस द्वितीय भाग में केवल अलंकारों का निरूपण किया गया है । अतएव यहाँ अलङ्कार विषयक कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया जाना उपयुक्त होगा ।

सब से प्रथम यह जानना आवश्यक है कि—

काव्य में अलंकार का क्या स्थान है

काव्य के प्रधान तीन भेद हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अलङ्कार । इनमें ध्वनि का स्थान प्रथम है । क्योंकि रस, भाव आदि जो काव्य के अनिर्वचनीय पदार्थ हैं, वे व्यंग्यार्थ पर निर्भर हैं और व्यंग्यार्थ है वही ध्वनि है । अतएव काव्य में ध्वनि को ही सर्वोच्च स्थान उपलब्ध है । गुणीभूतव्यंग्य का दूसरा† और अलङ्कार का तीसरा स्थान है ।

---

† ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य आदि का निरूपण काव्यकल्पद्रुम के प्रथम भाग में किया गया है ।

अलङ्कार क्या है ?

अलङ्करोतीति अलङ्कारः। अर्थात् शोभाकारक पदार्थ को अलङ्कार कहते हैं। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सुवर्ण और रत्न-निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को अलंकृत—शोभायमान—करने वाले शब्दार्थ की रचना को काव्य में अलङ्कार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने कहा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'*

—काव्यादर्श।

अतएव शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलङ्कारों को शब्दालङ्कार और अर्थ-वैचित्र्य की रचना द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलङ्कारों को अर्थालङ्कार कहते हैं। शब्दालङ्कारों की विचित्रता वर्णों अथवा शब्दों की पुनरावृत्ति और श्लिष्ट-शब्दों के प्रयोग पर निर्भर है। अर्थालङ्कारों की विचित्रता अर्थ-वैचित्र्य पर निर्भर है।

आचार्य भामह जो संस्कृत के उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर श्रीभरतमुनि के बाद अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं, उन्होंने इस शब्दार्थ-वैचित्र्य की 'वक्रोक्ति' संज्ञा मानी है—

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।'

—भामह काव्यालङ्कार १।३६

फिर भामह ने इस वक्रोक्ति को सम्पूर्ण अलङ्कारों में सर्वत्र व्यापक बतलाते हुए इसे अलङ्कारों का एक मात्र आश्रय माना है—

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोलङ्कारोऽनया बिना।'

—भामह काव्यालङ्कार २।८५

---

* इस विषय की अधिक स्पष्टता पृष्ठ २ में देखिये।

आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने जो अलङ्कार सम्प्रदाय के अन्यतम प्रधान आचार्य हैं, इसी उक्ति-वैचित्र्य को 'अतिशयोक्ति' संज्ञा मानकर सारे अलङ्कारों का एकमात्र आश्रय बताया है। दण्डी ने 'अतिशयोक्ति' नामक विशेष अलङ्कार का निरूपण करने के बाद अन्त में कहा है—

'अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्,
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।'*

—काव्यादर्श २।२२०

अर्थ-वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति वस्तुतः अतिशय-उक्ति ही है। यह दोनों पर्याय शब्द हैं—'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्†।' यद्यपि भामहाचार्य ने इसको वक्रोक्ति संज्ञा दी है, पर भामह ने भी वक्रोक्ति का प्रयोग अतिशय-उक्ति के अर्थ में ही किया है, जैसा कि उनके द्वारा अतिशयोक्ति अलङ्कार के प्रकरण में दी हुई उपर्युक्त कारिका से स्पष्ट है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति का अर्थ है—'किसी वक्तव्य का लोकोत्तर अतिशय से कहा जाना।' महान् साहित्याचार्य श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने (जिनको सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य श्री मम्मट ने, अपने काव्यप्रकाश में अत्यन्त प्रतिष्ठा के साथ आचार्य पद से उल्लेख किया है) कहा है—

---

* आचार्य भामह ने इस कारिका में वक्रोक्ति का प्रयोग 'वक्रोक्ति' नामक एक अलङ्कार विशेष के लिए नहीं, किन्तु व्यापक रूप से सम्पूर्ण अलङ्कारों की प्राणभूत अतिशय-उक्ति के लिये किया है। 'वक्रोक्ति' नामक विशेष अलङ्कार का न तो भामह ने निरूपण ही किया है और न भामह के समय तक के अन्य अलङ्कार विषयक ग्रन्थों में ही इसका नामोल्लेख मिलता है।

† काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ६०६ ।

'लोकोत्तरेण चैवातिशयः''''''अनया अतिशयोक्त्या''''''
विचित्रतया भाव्यते।' —ध्वन्यालोक-लोचन पृ० २०१

निष्कर्ष यह है कि लोकोत्तर अतिशय से कहना ही उक्ति-वैचित्र्य है। वही अलङ्कार है। अर्थात् किसी वक्तव्य को लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढंग से—चमत्कार पूर्वक वर्णन करने को ही अलङ्कार कहते हैं। उक्ति-वैचित्र्य अनेक प्रकार का होता है अतएव इसी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर भिन्न भिन्न प्रकार के अलङ्कारों का होना निर्भर है। कहा है—

"यश्चायमुपमाश्लेषादिऽलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्।"
—ध्वन्यालोक पृ० २४३

साधारण बोलचाल से भिन्न शैली में क्या विचित्रता होती है और वह अनेक प्रकार से किस प्रकार कही जा सकती है, इस विषय का संक्षिप्त रूप से स्पष्ट किया जाना यहाँ उपयुक्त होगा। इसके उदाहरण रूप में प्रभात वर्णात्मक अनेक प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य का यहाँ दिक्दर्शन कराया जाता है—

प्रातःकाल में चन्द्रमा को देखकर साधारण बोलचाल में कहा जाता है—'चन्द्रमा फीका पड़ गया है'।

(१) महाकवि माघ ने इस निस्तेज चन्द्रमा के दृश्य का उक्ति-वैचित्र्य द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है—

'सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि,
क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः।
इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्गमिन्दु—
र्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभं शुचेव।'
—शिशुपालवध ११।२४

कुमोदिनी निमीलन होगई, उसके साथ ही प्रियतमा रात्रि भी नष्ट होगई और परिजन रूप सारे तारागण भी अस्त होगये। इस प्रकार अपने समस्त प्रिय परिवार के विनाश हो जाने के कारण मानों बेचारा शोकग्रस्त रजनीपति—चन्द्रमा इस समय अत्यन्त क्षीणांग होकर कान्ति हीन हो रहा है। इस उक्ति-वैचित्र्य में रूपक द्वारा परिपोषित हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है*।

(२) निस्तेज चन्द्रमा के इसी दृश्य का कविराज विश्वनाथ ने अन्य प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वर्णन किया है—

'विकसितमुखीं रागासङ्गाद्गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः।'

—साहित्यदर्पण।

सम्भवतः आप नहीं जानते होंगे कि क्षीण कान्ति—पीला पड़ा हुआ चन्द्रमा पश्चिम दिशा को क्यों जा रहा है? सुनिये, इसका कारण हम आपको बतलाते हैं। बात यह है कि जो ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धिनी पूर्व दिशा) रात्रि में तेजस्वी चन्द्रमा के साथ रमण कर रही थी, वही (पूर्व दिशा) अब चन्द्रमा को निस्तेज देखकर सूर्य के साथ रमण करने लगी है। देखिये न, सूर्य के कर-स्पर्श (श्लेपार्थ—हस्त-स्पर्श) से उत्पन्न होने वाले राग से (अरुणिमा से, श्लेषार्थ—अनुराग से) अन्धकार रूप आवरण (श्लेषार्थ—घूँघट) हट जाने पर, इसका मुख (पूर्व दिशा

---

* यहाँ चन्द्रमा के निस्तेज हो जाने में कुमोदिनी, रात्रि और तारागण रूप परिवार के नष्ट हो जाने के कारण उत्पन्न शोक की सम्भावना की गई है, जो कि वास्तव में कारण नहीं है, अतः हेतूत्प्रेक्षा है कुमोदिनी और रात्रि में नायिका के, एवं तारागणों में परिजनों के आरोप में जो 'रूपक' है वह हेतूत्प्रेक्षा का अङ्ग है।

के पक्ष में अग्रभाग और नायिका के पक्ष में मुख) विकसित (प्राची दिशा के पक्ष में प्रकाशित और नायिका के पक्ष में मन्द हास्ययुक्त) हो रहा है। पूर्व दिशा का यह व्यवहार अपने सन्मुख (आँखों के सामने) देखकर कलुषितान्तःकरण होकर (श्लेषार्थ दुःखित हृदय होकर) बेचारा चन्द्रमा अब प्राचेतसी दिशा को (पश्चिम दिशा, श्लेषार्थ—यमराज की दिशा को मरने के लिये) जा रहा है।

इस वर्णन में कवि ने श्लिष्ट-विशेषणों की सामर्थ्य से चन्द्रमा में ऐसे विलासी पुरुष की अवस्था की प्रतीत कराई है जो अपने में पूर्वानुरक्ता कामिनी को अपने समक्ष अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर मरने को उद्यत हो जाता है। और पूर्व दिशा में ऐसी कुलटा स्त्री की अवस्था की प्रतीति कराई है जो अपने पहिले प्रेम-पात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है। और यह भी दिखाया गया है कि कुलटा स्त्रियों में आसक्त रहने वाले चरित्र भ्रष्ट पुरुषों की यही शोचनीय दशा होती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है।

(३) प्रातःकालीन चन्द्रमा के इसी दृश्य का हमारे महाकवि-शेखर कालिदास ने अन्यतम उक्ति-वैचित्र्य द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है—

"निद्रावशेन भवता ह्यनवेक्ष्यमाणा,
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव—
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चंद्रः।"

—रघुवंश ५।६७

महाराजा अज को निन्द्रा से उद्बोधन करने के लिये बन्दीजन कहते हैं—हे राजन् ! यह तो आप जानते ही हैं कि लक्ष्मी* आप पर

---

* यहाँ लक्ष्मी का अर्थ राज्य लक्ष्मी अथवा मुख की शोभा दोनों लिये जा सकते हैं।

अत्यन्त अनुरक्त है। किन्तु निद्रा के वशीभूत होकर आपने उसको स्वीकार (उसका सत्कार) नहीं किया अतः आपको निद्रासक्त (श्लेषार्थ—अन्य नायिकासक्त) देखकर वह अत्यन्त विकल होगई, यहाँ तक कि आप में उसका जो अनन्य प्रेम था उसकी उपेक्षा करके वह खण्डिता-नायिका* की तरह रुष्ट होकर आपके निकट से चली गई थी—पर आपके वियोग की व्यथा उससे न सही गई, अतएव इस वियोग-व्यथा को दूर करने के लिये आपकी मुख-कान्ति का कुछ सादृश्य चन्द्रमा में देख कर वह चन्द्रमा को देख-देख कर ही अपना मन अब तक बहला रही थी। किन्तु चन्द्रमा भी इस समय प्रभात होने पर आपके मुख के सादृश्य को छोड़कर पश्चिम दिशा को जा रहा है। अतएव अब आपके सादृश्य-दर्शन का मनोविनोद भी उसके लिये अदृश्य होगया है—वह निराश्रित होगई है। कृपया अब निद्रा को त्यागकर उस अनन्य-शरणा लक्ष्मी को सत्कार पूर्वक स्वीकार करियेगा।

यहाँ राजा अज में नायक के, लक्ष्मी में राजा की प्रियतमा के और निद्रा में राजा की अन्यतम नायिका के, आरोप में रूपक अलङ्कार है। यह रूपक, प्रातःकालीन निस्तेज-चन्द्रमा के भंग्यन्तर से वर्णन किये जाने में जो पर्यायोक्ति अलङ्कार है, उसका अङ्ग है।

(४) प्रभातकालीन दृश्य पर महाकवि श्री हर्ष का एक उक्ति-वैचित्र्य देखिये—

'वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुं रुची—
निचयसिचयांशांशभ्रंशक्रमेण निरंशुकम्।
तुहिनमहसं पश्यन्तीव प्रसादमिषादसौ,
निजमुखमितःस्मेरं धत्ते हरेर्महिषी हरित्।'

—नैषधीयचरित १९।२।

---

* अपने नायक को अन्य नायिकासक्त जान कर जो कामिनी रुष्ट हो जाती है उसे खण्डिता नायिका कहते हैं।

लोग कहते हैं अन्धकार हट जाने से सुरेन्द्र की रानी* (प्राची दिशा) प्रकाशित हो रही है। हमारे विचार में तो यह कुछ और ही है। प्राची दिशा का इस समय प्रकाशित दिखाई देना तो एक बहाना मात्र है असल बात यह है कि वरुण की पत्नी† (पश्चिम दिशा) के निकट जाने पर चन्द्रमा का किरण-समूह रूपी वस्त्र का प्रत्येक भाग क्रमश: हट कर इस समय सर्वथा दूर हो गया है। अतएव चन्द्रमा की इस नग्न अवस्था के हास्य-जनक दृश्य को देखकर वह (प्राची दिशा) हँस रही है, क्योंकि अन्य रमणी में आसक्त किसी सम्मान्य पुरुष की ऐसी हास्योत्पादक दशा देखकर कामिनी जनों को हँसी आ जाना स्वाभाविक है।

इस उक्ति-वैचित्र्य में प्रात:कालीन क्षीण-कान्ति चन्द्रमा में नग्नावस्था की, और प्राची दिशा में प्रकाशित हो जाने के व्याज से स्मित हास्य की, सम्भावना की जाने के कारण सापन्हव उत्प्रेक्षा है।

(४) और देखिये—

"स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धंभविष्णुतया जनः
किमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्ट रवेरनवेक्षिकाम् ।
लिखितपठिता राज्ञो दाराः कविप्रतिभासु ये
शृणुतशृणुतासूर्यंपश्या न सा किल भाविनी ।"

—नैषधीयचरित १६।३६

कुमुदिनी प्रभात समय में अपने कलिकामयी नेत्रों को बन्द करके जान बूझकर अन्धी हो जाती है। पर लोग कहते हैं कि कुमुदिनी बड़ी

---

* पूर्व दिशा का पति इन्द्र है अतः यहाँ पूर्व दिशा को इन्द्र की रानी कल्पना की गई है।

† पश्चिम दिशा का पति वरुण है, अतः पश्चिम दिशा को यहाँ वरुण की रानी कल्पना की गई है।

हतभागिनी है जो प्रभात में जगत्पूज्य भगवान् सूर्य के दर्शन नहीं कर सकती। अथवा लोग यह समझते हैं कि कुमुदिनी ईर्ष्यालु है जो भगवान् भास्कर को नहीं देखती। इस प्रकार कुमुदिनी की निन्दा करने वाले लोग बड़ी भूल करते हैं—वस्तुतः वे लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण कुमुदिनी पर ऐसा आक्षेप करके उसके साथ अन्याय करते हैं। हमारी इस बात पर आप चौंकियेगा नहीं—कुछ ध्यान देकर सुनिये तो सही। राज-रमणियों का असूर्यंपश्या होना प्रसिद्ध है। प्रतिभाशाली महाकवि राज-पत्नियों को सदा से असूर्यंपश्या (सूर्य द्वारा भी दृष्टि-पथ न होने वाली) कहते और मानते चले आये हैं। केवल महाकवि ही नहीं किन्तु प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनि एवं ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा भी राज-पत्नियों को यह गौरव उपलब्ध है। फिर भला कुमुदिनी द्वारा सूर्य को देखा जाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, आप कहेंगे कि कुमुदिनी एक रात्रि विकाशिनी पुष्प जाति है, इसकी और राज-पत्नियों की क्या समता? अच्छा, हम आपसे पूछते हैं कि विस्तृत आकाश मण्डल में व्याप्त समस्त तारागणों का क्या चन्द्रमा राजा नहीं हैं और क्या कुमुदिनी का पति होने के कारण चन्द्रमा का नाम कुमुदिनी-नाथ नहीं है? अब आपही कहिये, ऐसी परिस्थिति में राज-रमणी कुमुदिनी द्वारा सूर्य को न देखा जाना, उसके गौरव के अनुरूप है या नहीं?

यहाँ इस उक्ति-वैचित्र्य में व्याघात अलङ्कार है।

और भी देखिये—

अरुण कान्तिमय कोमल जिसके हस्त-पाद हैं कमल-सनाल,
मधुपावलि है शोभित कज्जल नीलेन्दीवर नयन विशाल।
प्रातः संध्या कल खग-रव का करती सी आलाप महान,
भगी जा रही निशि के पीछे अल्प-वयस्का सुता समान,

—शिशुपालवध से अनुवादित।

प्रभात में रात्रि के साथ-साथ ही अल्प-कालिक प्रातः सन्ध्या भी शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। देखिये, इस पर महाकवि माघ का उक्ति-वैचित्र्य —

स-नाल कमल ही जिसके कर और चरण है, प्रफुल्लित नील-कमल-दल ही जिसके नेत्र हैं, कमलों पर मडराती हुई भृङ्गावली ही जिसके कज्जल लगा हुआ है और पक्षियों का प्रातःकालिक कल-रव है वही मानों उसका मधुर आलाप है; ऐसी प्रातःकालिक संध्या (अरुणोदय के बाद और सूर्योदय के प्रथम की वेला) उसी प्रकार रात्रिके पीछे भागी जा रही है जिस प्रकार अल्प-वयस्का पुत्री अपनी माता के साथ भागी हुई जाती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में उपमा अलङ्कार है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा विदित हो सकता है कि साधारण बोल-चाल से भिन्न शैली या उक्ति-वैचित्र्य क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार से कहा जाता है, तथा यह उक्ति-वैचित्र्य ही भिन्न-भिन्न अलङ्कारों का किस प्रकार आधार है।

इस उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर ही महान् साहित्याचार्यों ने अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट किये हैं।

अलङ्कारों के 'नाम' और 'लक्षण'

प्रश्न हो सकता है कि "जब भिन्न-भिन्न उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं तब अलङ्कारों के नामों द्वारा ही उनका स्वरूप एवं अन्य अलङ्कार से पार्थक्य प्रकट हो जाता है, फिर प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारों के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्माण करने की क्यों आवश्यकता समझी?" यद्यपि यह प्रश्न साधारणतया सारगर्भित प्रतीत हो सकता है किन्तु बात यह है कि जिस अलङ्कार में जिस विशेष प्रकार की उक्ति का वैचित्र्य—प्रधान चमत्कार है उसको लक्ष्य में रखकर उस चमत्कार का संकेतमात्र अलङ्कार के नाम द्वारा सूचित किया

गया है। किन्तु अलङ्कार के केवल नाम द्वारा किसी अलङ्कार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी लिये प्राचीन साहित्याचार्यों ने प्रत्येक अलङ्कार का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये प्रत्येक अलङ्कार का लक्षण निर्माण किया है। अतएव लक्षणों का निर्माण किया जाना अत्यन्त उपयोगी और परमावश्यक है। किसी भी वस्तु का सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण वही कहा जा सकता है, जिसके द्वारा केवल उसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो सके। इस लक्षण निर्माण क्रिया में कुछ भी असावधानी हो जाने पर लक्षण में अति व्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोष हो जाता है—

(१) अतिव्याप्ति दोष—जिस वस्तु का जो लक्षण (चिह्न) बताया जाय वह लक्षण (चिह्न) उस वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु में भी व्याप्त हो। जैसे, यदि मरुस्थल निवासी मारवाड़ियों का लक्षण यह कहा जाय कि—

'पगड़ी पहनने वाले को मारवाड़ी कहते हैं।'

तो इस लक्षण की व्याप्ति मारवाड़ियों के सिवा गुजराती और महाराष्ट्र आदि जनों में भी हो जाती है क्योंकि गुजराती और महाराष्ट्रीय भी पगड़ी पहिनते हैं अतः इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति' दोष है।

(२) अव्याप्ति दोष—जिस वस्तु का जो लक्षण कहा जाय वह उस वस्तु में सर्वत्र व्यापक न हो—कहीं व्यापक हो और कहीं नहीं। जैसे—

'व्यापारी को मारवाड़ी कहते हैं।'

इस लक्षण की व्याप्ति मारवाड़ियों में सर्वत्र नहीं, क्योंकि सभी मारवाड़ी व्यापारी नहीं होते ऐसे भी मारवाड़ी हैं जो व्यापार नहीं करते हैं। अतः इस लक्षण की उनमें अव्याप्ति है जो व्यापार नहीं करते हैं अतएव 'अव्याप्ति' दोष है।

इसी प्रकार अलङ्कारों के लक्षणों में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आ जाता है। जैसे, भारतीभूषण में विभावना अलङ्कार का सामान्य लक्षण—

"जहाँ कारण और कार्य के सम्बंध का किसी विचित्रता से वर्णन हो वहाँ विभावना अलङ्कार होता है।"

इसमें अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि 'विषम'* और 'असङ्गति'† आदि अलङ्कारों में भी कारण और कार्य के विचित्र सम्बन्ध का ही वर्णन होता है।

और 'भाषाभूषण' में लिखे हुए—

'परिवृत्ति लीजै अधिक जहँ थोरो ही कछु देय।'

इस परिवृत्ति अलङ्कार के लक्षण में अव्याप्ति दोष आ गया है—परिवृत्ति में केवल थोड़ा देकर ही अधिक नहीं लिया जाता अधिक देकर भी थोड़ा लिया जाता है। और समान वस्तु भी ली, दी जाती है‡ अतः ऐसे लक्षणों में अव्याप्ति दोष रहता है।

लक्षण में एक दोष 'असम्भव' भी होता है। अर्थात् जिस वस्तु के लक्षण में जो बात बतलाई जाय वह बात उस वस्तु में न हो। जैसे, असङ्गति अलङ्कार के तीसरे भेद का भाषाभूषण में—

'और काज आरंभिये औरै करिये दौर।'

यह लक्षण बताया गया है। किन्तु असङ्गति के तीसरे भेद में जिस कार्य को करने को उद्यत हो उसके विपरीत कार्य किये जाने का वर्णन

---

* देखिये तीसरे विषम अलङ्कार का लक्षण पृ० २९२।

† देखिये असङ्गति अलङ्कार का लक्षण पृ० २९१।

‡ देखिये परिवृत्ति अलङ्कार का लक्षण और उदाहरण पृ० २८८।

होता है। यह बात उक्त लक्षण में नहीं कही गई है अतः असम्भव दोष है*।

कहने का अभिप्राय यह है कि अलङ्कारों के लक्षण निर्माण का कार्य अत्यन्त कष्ट साध्य है, यह अलंकार के नाममात्र में कभी समाविष्ट नहीं हो सकता।

अलङ्कारों के केवल लक्षणों के ही नहीं उदाहरणों के निर्वाचन में भी अत्यन्त सूक्ष्म-दर्शिता की आवश्यकता है। यह कार्य भी बड़ा जटिल है। इस कार्य में थोड़ी भी असावधानी हो जाने पर जिस पद्य को जिस अलङ्कार के उदाहरण में दिया जाता है वह उस अलङ्कार का उदाहरण न हो कर प्रायः अन्य अलङ्कार का उदाहरण हो जाता है†। इस विषय में यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ एक ही छन्द में एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति होती है और सभी अलङ्कार समान बल के होते हैं वहाँ उनमें एक को प्रधान और दूसरे को गौण नहीं माना जा सकता, ऐसे छन्द को सम-प्रधान-संकर के उदाहरण में ही दिया जा सकता है, अन्य किसी अलङ्कार के उदाहरण में नहीं। हाँ, जहाँ कहीं एक छन्द में अनेक अलङ्कारों की स्थिति होने पर एक गौण और दूसरा प्रधान होता है, ऐसे स्थल पर जिस अलङ्कार की प्रधानता होती है उसी के उदाहरण में वह छन्द दिया जा सकता है, न कि गौण अलङ्कारों के उदाहरण में।

कुछ अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनके उदाहरण प्राय एक दूसरे से बहुत कुछ समानता लिए हुए प्रतीत होते हैं। जैसे वाचक-लुप्ता उपमा और

---

* देखिये पृ० १७० में उद्धत 'भारतीभूषण' के मालादीपक का और पृ० २४७ में उद्धृत विभावना का लक्षण।

† ऐसे उदाहरण पृ० ६१, ६२, १००, १०२, ११५, १२३, १४६ में दिखाये गये हैं।

रूपक*, प्रतीप और व्यतिरेक, एवं दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास। ऐसे अलङ्कारों के उदाहरण चुनने में अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिता की आवश्यकता है।

अलङ्कारों का ऐतिहासिक विवेचन

अब अलङ्कारों के सम्बन्ध में यह ऐतिहासिक विवेचन किया जाना प्रसङ्गोचित होगा कि प्रारम्भ में अलङ्कारों की कितनी संख्या थी और क्या परिस्थिति थी, फिर उनकी संख्या आदि में किस-किस प्राचीनाचार्य द्वारा किस-किस समय में किस प्रकार क्रमशः वृद्धि होकर अब उनकी क्या परिस्थिति है। इस क्रम-विकास के विवेचन के लिये प्रथम संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थों के विषय में कुछ† उल्लेख किया जाना आवश्यक है।

संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलङ्कार ग्रन्थ‡

श्रीभरतमुनि का नाट्यशास्त्र

प्राचीन उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों में सर्वोपरि स्थान श्रीभरतमुनि के नाट्यशास्त्र को दिया जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में 'अन्ये' (६।१३०), 'अन्यैरपि उक्तम्' (६।१४४) और 'अन्येतु' (६।१६६) आदि वाक्यों के आगे उद्धृत किये गये अवतरणों से

* देखिये पृ० ६०।

† संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण हमने विस्तारपूर्वक 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है। यह ग्रन्थ शीघ्र मुद्रित होने वाला है, उसमें इस विषय के पाश्चात्य और एतद्देशीय लेखकों के मत की सविस्तृत आलोचना भी की गई है। यहाँ उसी ग्रन्थ के आधार पर अत्यन्त संक्षेप में लिखा जाता है।

‡ संस्कृत में साहित्य विषयक रीति ग्रन्थ भी अगणित लिखे गये हैं। यहाँ केवल साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा लिखे हुए प्रायः उन्हीं मुद्रित

विदित होता है कि श्रीभरतमुनि के पूर्व भी अनेक अज्ञातनाम साहित्याचार्य हो गये थे। किन्तु उनके नाम और ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण श्रीभरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही सर्व प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। श्रीभरतमुनि के विषय में केवल यही ज्ञात हो सकता है कि वे भगवान् श्रीवेदव्यास के पूर्ववर्ती हैं।

श्रीभरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में केवल उपमा, दीपक, रूपक और यमक येही चार अलङ्कार निरूपण किये हैं।

भगवान् वेदव्यास का अग्निपुराण

श्रीभरतमुनि के बाद अष्टादश पुराणान्तर्गत सुप्रसिद्ध अग्निपुराण के साहित्य प्रकरण में (अध्याय ३४४ में) केवल अनुप्रास, यमक, चित्र (गोमूत्रिकादिबन्ध), प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त (स्वर, बिन्दुच्युत आदि) और समस्या, ये ७ शब्दालङ्कार और (अध्याय ३४५ में) निम्नलिखित केवल १५ अर्थालङ्कारों का उल्लेख है और उन के लक्षण मात्र लिखे गये हैं—

१—स्वरूप (स्वभावोक्ति)।
२—उपमा।
३—रूपक।
४—सहोक्ति।

(यह चारों सादृश्य के अन्तर्गत लिखे गये हैं।)

५—अर्थान्तरन्यास।
६—उत्प्रेक्षा।
७—अतिशयोक्ति।
८—विशेषोक्ति।
९—विभावना।
१०—विरोध।
११—हेतु।
१२—आक्षेप।
१३—समासोक्ति।
१४—अपन्हुति।
१५—पर्यायोक्ति।

ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिनमें या तो केवल अलङ्कारों का या अन्य साहित्य विषय के साथ अलङ्कारों का निरूपण किया गया है।

अग्निपुराण के बाद का और ईसवी सन् के प्रारम्भ काल तक का और कोई रीतिग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। ईसा की लगभग पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के ग्रन्थ क्रमशः इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

भट्टिकाव्य

भट्टि द्वारा प्रणीत 'भट्टिकाव्य' यद्यपि रीति-ग्रन्थ नहीं है—श्रीराम-चरित वर्णनात्मक काव्य है, पर उसके प्रसन्न नामक तीसरे काण्ड के १० से १३ तक चार सर्गों में किये गये काव्य विषयक निदर्शन के अन्तर्गत १० वें सर्ग में ३८ अलङ्कारों के उदाहरण मात्र हैं। भट्टि का समय सन् ५०० से ६५० ई० तक किसी समय में माना जा सकता है। भट्टि सम्भवतः आचार्य भामह के पूर्ववर्ती हैं।

आचार्य भामह का काव्यालङ्कार

भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्रथम ग्रन्थ जिसमें अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं, वह भामह का काव्यालङ्कार ही है। इसमें केवल ३८ अलङ्कारों का निरूपण है। भामह का समय संदिग्ध है। वह ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद और छठी शताब्दी के प्रथम अनुमान किया जाता है।

आचार्य दण्डी का काव्यादर्श

दण्डी ने काव्यादर्श में केवल ३६ अलङ्कारों का निरूपण किया है। इनमें 'आवृत्ति-दीपक' नवीन अलङ्कार हैं। यद्यपि 'सूक्ष्म' और 'लेश' ये दोनों भी दण्डी के पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में नहीं हैं पर भामह के पूर्व थे किसी आचार्य द्वारा निरूपित अवश्य हो चुके थे क्योंकि भामह ने इनका खण्डन किया है।

आचार्य दण्डी सुप्रसिद्ध किरातार्जुनीय महाकाव्य के प्रणेता महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। यह दण्डी प्रणीत अवन्तिसुन्दरी-कथा नामक ग्रन्थ से सिद्ध होता है*। दण्डी का समय सम्भवतः ईसा की सप्तम शताब्दी का अन्तिम चरण है।

उद्भट का काव्यालङ्कार सारसंग्रह

उद्भटाचार्य ने ४१ अलङ्कारों का निरूपण किया है इनमें छः अलङ्कार नवीन हैं। 'दृष्टान्त', 'काव्यलिङ्ग' और 'पुनरुक्तवदाभास' ये तीन तो सर्वथा नवीन हैं। 'लाटानुप्रास' और 'छेकानुप्रास' ये दो अनुप्रास के उपभेद हैं और संकर को संसृष्टि या संकीर्ण के अन्तर्गत पूर्वाचार्यों ने माना है। उद्भट का समय ईसा की अष्टम शताब्दी के लगभग है। काव्यालंकारसारसंग्रह परइन्दुराज की लघुवृत्ति भी बड़ी विद्वत्तापूर्ण है।

वामन का काव्यालंकारसूत्र

वामन ने काव्यालङ्कार सूत्र में केवल ३३ अलङ्कार निरूपण किये हैं इनमें व्याजोक्ति और वक्रोक्ति दो नवीन हैं। आचार्य वामन का समय ईसा की अष्टम शताब्दी के लगभग है। सम्भवतः उद्भट और वामन समकालीन थे।

भट्टि आदि उपर्युक्त पाँचों आचार्यों के बाद ईसा की अष्टम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक रुद्रट, महाराज भोज, श्रीमम्मट और रुय्यक इन अलङ्कार शास्त्र के महान् आचार्यों द्वारा क्रमशः निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे गये हैं—

रुद्रट का काव्यालंकार

रुद्रट ने ५ शब्दालङ्कार और ५० अर्थालङ्कार निरूपण किये हैं। यद्यपि रुद्रट द्वारा किये गये वर्गीकरण के अनुसार २३, २१, १२, और १ अर्थात् कुल ५७ और १ संकर, इस प्रकार ५८ अर्थालङ्कार हैं। किन्तु इसमें ७ अर्थालङ्कार दो बार गिने गये हैं और श्लेष को

---

* 'अवन्तिसुन्दरी' मद्रास में मुद्रित हुआ है।

शब्द और अर्थ दोनों अलङ्कारों में गिना गया है। इन ८ को न गिना जाय तो शेष ५० रह जाते हैं। रुद्रट का समय सम्भवतः ईसा की नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

महाराज भोज का सरस्वतीकण्ठा-भरण

धारा नगरी के सुप्रसिद्ध महाराज भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण केवल आकार में ही बृहत्काय नहीं है, विषय-विवेचन में भी महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में २४ अर्थालङ्कार, २४ शब्दालङ्कार और २४ शब्दार्थ उभयालङ्कार निरूपित किये गये हैं। शब्दालङ्कारों में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, पाक, अनुप्रास और चित्र ये नौ अलङ्कार अग्निपुराण के मतानुसार निरूपित हैं और शेष शब्दालङ्कारों में इन्होंने रीति (वैदर्भी आदि), वृत्ति (कौशिकी आदि) आदि की गणना भी अलङ्कारों में करली है, जिनको (रीति, वृत्ति आदि को) अन्य आचार्यों ने अलङ्कारों से भिन्न माना है। अर्थालङ्कारों में राजा भोज ने अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा ६ नवीन अलङ्कार निर्माण किये हैं†। इनका समय अनुमानतः ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १०५० ई० तक है।

श्रीमम्मट का काव्यप्रकाश

आचार्य मम्मट और उनके काव्यप्रकाश का स्थान केवल अलङ्कार विषय में ही नहीं सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र में सर्वोच्च और महत्वपूर्ण है। श्री मम्मट और उनके काव्यप्रकाश को जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त है वैसी आज तक किसी साहित्याचार्य और साहित्य ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हुई। काव्यप्रकाश में जिस

---

† किसके द्वारा कितने अलंकार पूर्वाचार्यों के निरूपित और कितने नवीन दिये गये हैं वह आगे दी हुई अलंकार विवरण तालिकाओंमें देखिये।

शैली से थोड़े शब्दों में काव्य के जटिल विषयों का गाम्भीर्य और मार्मिक विवेचन किया गया है, वह वस्तुतः अभूतपूर्व है। काव्यप्रकाश से पहले भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और भोज आदि द्वारा साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य लिखे जा चुके थे, किन्तु काव्यप्रकाश के सम्मुख वे सभी ग्रन्थ अपने स्वतन्त्र प्रकाश की विशेषता प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

काव्यप्रकाश में ८ शब्दालङ्कार और ६२ अर्थालंकार हैं। इनमें असद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम ये पाँच अलंकार नवीन हैं। और सम्भवतः श्रीमम्मट द्वारा आविष्कृत हैं। काव्यप्रकाश पर अनेक दार्शनिक विद्वानों ने व्याख्याएँ की हैं जिनमें श्रीगोविन्द ठक्कुर कृत 'प्रदीप' व्याख्या विद्वद् समाज में बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। आचार्य मम्मट का समय महाराजा भोजके बाद अनुमानतः ईसा की ११ वीं शताब्दी है।

रुय्यक अलंकार सूत्र

रुय्यक का अलंकार सूत्र या अलङ्कारसर्वस्व भी अलंकार विषय पर बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। विशेषतया इस ग्रन्थ का महत्त्व इस पर रुय्यक के शिष्य मंखक द्वारा लिखी गई सार-गर्भित वृत्ति पर है। इस ग्रन्थ की जयरथ कृत विमर्शनी व्याख्या का भी साहित्य ग्रन्थों में एक विशेष स्थान है। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण विद्वद् समाज में मूलग्रन्थ के समान समादृत है। इस ग्रन्थ में ८४ अलंकार हैं। इनमें उल्लेख, काव्यार्थापत्ति, परिणाम, विचित्र, विकल्प ये चार अलंकार नवीन हैं। और भावोदय, भावसंधि और भावशबलता ये तीन अलंकार रसभाव सम्बन्धीय ऐसे हैं जिनको श्रीमम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य का विषय माना है। रुय्यक का समय लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है।

रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के बाद निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

जैन विद्वान् वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार सूत्रबद्ध ग्रन्थ है।

वाग्भट प्रथम का वाग्भटालंकार

इसमें वाग्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों में से केवल ४ शब्दालंकार और ३५ अर्थालंकार निरूपित किये गये हैं। इसका समय ईसा की १२वीं शताब्दी के लगभग है।

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन सूत्रबद्ध महत्वपूर्ण ग्रन्थ है पर

हेमचन्द्राचार्य का काव्यानुशासन

इसमें अलंकार विषय का संक्षिप्त वर्णन है। पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों में से केवल ६ शब्दालंकार और २९ अर्थालंकार इन्होंने माने हैं। हेमचन्द्र सुप्रसिद्ध जैनाचार्य था। इसका समय सम्भवतः ईसा की १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

पीयूषवर्ष जयदेव के चन्द्रालोक में साहित्य के सभी विषयों का समावेश

पीयूषवर्ष जयदेव का चन्द्रालोक

है। इसके पंचम मयूख में ८ शब्दालङ्कार और ८२ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया गया है। जिनमें १६ अलङ्कार ऐसे हैं जो जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों के उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं हैं*। जयदेव का समय अनिश्चित है। अनुमानतः जयदेव का समय आचार्य मम्मट के बाद ईसा की १२वीं और १३वीं शताब्दी के अन्तर्गत प्रतीत होता है।

विद्याधर ने अपने एकावली ग्रन्थ के सातवें उन्मेष में शब्दालंकार

विद्याधर का एकावली

और आठवें में अर्थालंकार का विषय निरूपित किया है। यह ग्रन्थ प्रायः ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व के आधार पर लिखा गया है। विद्याधर का समय सम्भवतः सन् १२७५-१३२५ ई० है।

---

* इनका नामोल्लेख आगे चन्द्रालोक के अलङ्कार विवरण में किया गया है।

विद्यानाथ के प्रतापरुद्र यशोभूषण में साहित्य के अन्य विषयों के साथ अलंकार विषय का भी समावेश है। विद्यानाथ ने अधिकांश में काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व का अनुकरण किया है। इसका समय भी सन् १२७५ से १३२५ ई० तक माना जा सकता है।

विद्यानाथ का प्रतापरुद्र यशोभूषण

द्वितीय वाग्भट के काव्यानुशासन में 'अन्य' और 'अपर' ये दो अलंकार नाम मात्र नवीन हैं। वास्तव में 'अन्य' तुल्ययोगिता के और 'अपर' समुच्चय के अन्तर्गत है। इसका समय सम्भवतः ईसा की १४ वीं शताब्दी है।

द्वितीय वाग्भट का काव्यानुशासन

आचार्य मम्मट और रुय्यक के बाद अलंकार शास्त्र का उल्लेखनीय लेखक विश्वनाथ है। इनके साहित्यदर्पण के दसवें परिच्छेद में १२ शब्दालंकार और ६६ अर्थालंकार एवं ७ रसवदादि अलंकार और संकर एवं संसृष्टी, इस प्रकार सब ९० अलंकारों का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अलंकार प्रकरण विशेषतया काव्य-प्रकाश और अलंकारसर्वस्व से लिया गया है। इन्होंने श्रुत्यनुप्रास और अन्त्यानुप्रास ये दो नवीन शब्दालङ्कार लिखे हैं। ये महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते। इसी प्रकार निश्चय और अनुकूल ये दो नवीन अर्था-लंकार निरूपण किये हैं। पर ये भी वस्तुतः नवीन नहीं हैं, जिसे दण्डी ने 'तत्वोपाख्यानोपमा' के नाम से उपमा का भेद और जयदेव ने 'भ्रान्तापन्हुति के नाम से लिखा है उसको विश्वनाथ ने 'निश्चय' नाम से लिखा है। 'अनुकूल' भी प्राचीनों द्वारा निरूपित 'विषम' के दूसरे भेद से अधिकांश में भिन्न नहीं। विश्वनाथ, नैषधकार श्रीहर्ष (१२ वीं शताब्दी) और जयदेव (१३ वीं शताब्दी) के परवर्ती है क्योंकि साहित्यदर्पण में नैषधीयचरित के—'धन्यासि वैद-भिगुणैरुदारै'.....(३।११६) इस पद्य को अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण

विश्वनाथ का साहित्यदर्पण

में और—'हनूमतार्थैर्यशसामया पुन'……' (६।१२३) इस पद्य को व्यतिरेक के उदाहरण में दिया गया है। और पीयूषवर्ष जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नाटक के—'कदली कदली करभः करभः'……' इस पद्य को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण में दिया गया है। अतएव सम्भवतः विश्वनाथ का समय ईसा की १४वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

अप्पय्य दीक्षित का कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा

अप्पय्य दीक्षित का कुवलयानन्द अलङ्कार विषय का सरल एवं सुबोध ग्रन्थ है। अतएव इसका अधिक प्रचार है। इसमें १०० अर्थालङ्कार, ७ रसवद आदि, ११ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणालङ्कार और १ संसृष्टि एवं १ संकर इस प्रकार १२० अलङ्कारों का निरूपण है।

कुवलानन्द के अधिकांश में तो चन्द्रालोक की लक्षण और उदाहरणों की कारिकाओं पर वृत्ति और उदाहरण लिखकर विषय को स्पष्ट किया गया है। इसके सिवा कुछ अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों की कारिकाएँ दीक्षितजी ने अपनी रचना की भी चन्द्रालोक के अनुकरण पर लिखकर बढ़ाई हैं। कुवलयानन्द में चन्द्रालोक से १७ अर्थालङ्कारों के सिवा ७ रसवद आदि और ११ प्रमाणादि एवं संसृष्टी, संकर कुल ३७, अलङ्कार अधिक हैं। और १ हुंकृति अर्थालङ्कार एवं ८ शब्दालङ्कार—जो चन्द्रा-लोक में हैं कुवलयानन्द में नहीं लिखे हैं।

दीक्षितजी का चित्रमीमांसा ग्रन्थ भी अलङ्कार विषयक आलोचनात्मक महत्वपूर्ण है किन्तु यह अपूर्ण है। इसका बहुत ही थोड़ा भाग प्रकाशित हुआ है। दीक्षितजी का समय सम्भवतः सन् १५७५ से १६६७ ई० तक है।

शोभाकर का अलंकाररत्नाकर

शोभाकर के अलंकार रत्नाकर में २७ अलङ्कार यद्यपि पूर्वाचार्यों के निरूपित अलङ्कारों से अधिक हैं। किन्तु इनमें अधिकाँश अलङ्कार ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों के निरूपित अलङ्कारों के अन्तर्गत हैं। शोभाकर का समय अनिश्चित है। पण्डितराज ने रसगंगाधर

में अलङ्काररत्नाकर का खण्डन किया है अतः शोभाकर पण्डित-राज का पूर्ववर्ती अवश्य है।

यशस्क का अलंकारोदाहरण

यशस्क के अलङ्कारोदाहरण में ६ अलङ्कार नवीन हैं किन्तु ये महत्वपूर्ण नहीं हैं। इसका समय भी अज्ञात है।

पंडितराज का रसगंगाधर

पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली का रसगंगाधर अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आलोचनात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। मौलिकता में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद इसी का स्थान है। पंडितराज ने इस ग्रन्थ में अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के ग्रन्थों की विद्वत्ता पूर्वक मार्मिक आलोचनाएँ की हैं। अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा की तो पंकितराज ने प्रायः प्रत्येक अलंकार प्रकरण में विस्तृत आलोचना की है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है इसमें केवल 'उत्तरालंकार' तक ७० अर्थालंकारों का निरूपण ही है। इन्होंने सम्भवतः 'तिरस्कार' अलंकार नवीन लिखा है।

पंडितराज यवन सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। अतः इनका समय ईसा की १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से तृतीय चरण तक है।

पण्डितराज का समय संस्कृत साहित्य ग्रन्थों की रचना का अन्तिम काल है, १७ वीं शताब्दी के बाद संस्कृत-साहित्य में उल्लेखनीय ग्रन्थ कोई उपलब्ध नहीं होता है।*

---

* यद्यपि मुरारीदानजी के हिन्दी 'जसवन्तजसोभूषण' का संस्कृत अनुवाद सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा बीसवीं सदी में किया गया है। पर वस्तुतः वह हिन्दी 'जसवन्तजसोभूषण' का ही भाषान्तर होने के कारण उसका उल्लेख आगे हिन्दी ग्रन्थों के प्रकरण में किया जायगा।

अलङ्कारों का क्रम विकास

प्रारम्भिक विकासकाल

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में केवल ४ और अग्निपुराण में केवल १२ अलंकार हैं। अग्निपुराण के पश्चात् और भट्टि और भामह के प्रथम लगभग ३५०० वर्ष के मध्यवर्ती दीर्घ काल में लिखा हुआ कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। पर इस काल में अलंकारों का क्रम-विकास अवश्य हुआ है। ईसा की छठी शताब्दी के लगभग का सर्व प्रथम ग्रन्थ हमको आचार्य भामह का काव्यालंकार मिलता है। इसमें किये गये 'परे', 'अन्ये', 'अन्यैः', 'कैश्चित्', 'केचित्', 'केषांचित्' और 'अपरे' इत्यादि प्रयोगों द्वारा एवं शाखावर्द्धन, रामशर्म्मा और मेधाविन् आदि अनेक आलंकारिकों के नामोल्लेख के कारण यह सिद्ध होता है कि भामह के पहले अनेक अलंकार ग्रन्थ लिखे गये हैं। अग्निपुराण के बाद भामह के काव्यालंकार में जो अलंकारों की संख्या-वृद्धि एवं उनका विकास दृष्टिगत होता है वह केवल भामह द्वारा ही नहीं, किन्तु अनेक विद्वानों द्वारा क्रमशः हुआ है।

द्वितिय विकास-काल

भट्टि और भामह से वामन तक अर्थात् ईसा की छठी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। भट्टि और भामह द्वारा ३८ अलंकारों का निरूपण किया गया है और इनके बाद दण्डी, उद्भट और वामन तक १४ अलंकारों की वृद्धि हुई है। यद्यपि वामन के समय तक ईसा की आठवीं शताब्दी तक अलंकारों की संख्या ५२ से अधिक नहीं बढ़ सकी, तथापि दण्डी आदि के द्वारा विषय का विवेचन क्रमशः विस्तृत और अधिकाधिक स्पष्ट किया गया है, यह क्रम-विकास का विशेषतः परिचायक है।

ईसा की आठवीं शताब्दी के अनन्तर और चन्द्रालोक-प्रणेता पीयूषवर्ष जयदेव के पूर्व अर्थात् लगभग १२वीं शताब्दी तक की चार शताब्दी अलंकारों के क्रम-विकास का सर्वोपरि महत्वपूर्ण काल है। इस काल में हमको रुद्रट, भोज, श्रीमम्मट और रुय्यक ये चार उल्लेखनीय महान् आलंकारिक आचार्य उपलब्ध होते हैं। इनके द्वारा अलंकारों के विषय में जो कुछ लिखा गया है उससे अलंकारों के क्रम-विकाश पर बहुत कुछ चमत्कारपूर्ण प्रकाश पड़ता है। जबकि अलंकारों की संख्या आठवीं शताब्दी तक ५२ से अधिक नहीं बढ़ पाई थी, इन आचार्यों के समय में १०३ तक पहुँच गई। और अलंकारों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ विषय-विवेचन भी अधिकाधिक सूक्ष्म और गम्भीर होता चला गया। सत्य तो यह है कि श्रीभरतमुनि द्वारा स्थापित और भामह आदि द्वारा पोषित अलंकार-सम्प्रदाय में जो उद्भट आदि के बाद कुछ शिथिलता आगई थी वह रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक द्वारा किये गये गम्भीर विवेचन की सहायता से पुनः प्रभावित हो गई। अर्थात् अलंकार सम्प्रदाय को इन चारों आचार्यों ने शाणोत्तीर्ण क्रिया द्वारा परिष्कृत और एक विशेष आकर्षक स्थान पर स्थापित करके चमत्कृत कर दिया।

महत्वपूर्ण विकास काल

ईसा की १३ वीं शताब्दी से लगभग १७ वीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकाश का उत्तर या अन्तिम काल है। इस काल में सर्वप्रथम जयदेव के चन्द्रालोक में ऐसे १६ नवीन अलंकार दृष्टिगत होते हैं जिनका उल्लेख जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नहीं किया गया है। जयदेव ने अलंकारों के महत्व पर विशेषतः ध्यान दिया है। यहाँ तक कि अलंकार के अभाव में भी काव्यत्व मानने वाले आचार्यों पर आक्षेप किया है—

विकाश का उत्तर-काल

'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।'

—चन्द्रालोक १।२६

अर्थात् ताप के अभाव में यदि अग्नि का दृष्टिगत होना सम्भव हो सकता है तो अलंकार के अभाव में काव्यत्व माना जा सकता है*।

जयदेव के बाद ईसा की १४ वीं शताब्दी में विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में अलंकारों का विशद विवेचन मिलता है। यद्यपि इन्होंने ४ अलंकार नवीन लिखे हैं पर वे महत्वपूर्ण नहीं हैं।

इसके बाद १७ वीं शताब्दी में अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में १७ अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक से अधिक मिलते हैं। अप्पय्य दीक्षित तक अलंकारों की संख्या १२३ तक पहुँच चुकी थी।

शोभाकर और यशस्क आदि ने भी अलंकारों की संख्या में वृद्धि की है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर में अलंकारों की जो आलोचनात्मक विवेचना है उससे अलंकार-साहित्य के क्रम-विकाशका बहुत कुछ पता चलता है। ईसा की १७ वीं शताब्दी में लिखा गया पण्डितराज जगन्नाथ का रसगङ्गाधर ही अलंकार-शास्त्र का अन्तिम ग्रन्थ है। इस समय तक विभिन्न आचार्यों के निरूपित अलंकारों की संख्या १८० से भी अधिक पहुँच गई थी।

पण्डितराज के पश्चात् संस्कृत साहित्योद्यान को अलंकृत करके उसमें मनोरञ्जकता की अभिवृद्धि करनेवाला कोई सुचतुर मालाकार उपलब्ध नहीं होता है। जो साहित्योद्यान भारतीय नृपतियों के सौख्य-सम्पन्न वासन्तिक काल में परिवर्द्धित होकर विकसित हो रहा था उसका ह्रास उन नृपतियों के स्वातन्त्र्य के साथ-साथ यवन काल में ही शनैः शनैः होने लगा था; पर जब भारतीय नृपतियों के गौरव का प्रभाकर

---

* आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य के लक्षण की कारिका में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखा है। इसी 'अनलंकृती' के प्रयोग पर जयदेव का यह आक्षेप है।

पश्चिमीय अरुणिमा में निमग्न होता हुआ विलासिता के तमावरण में विलुप्तप्राय हो गया, तो ऐसी परिस्थिति में हमारे साहित्योद्यान का सिंचन होना ही सम्भव कहाँ था? अस्तु।

निम्न लिखित अलंकारों की विवरण तालिकाओं द्वारा अलंकारों के नाम और संख्या के साथ-साथ यह भी ज्ञात होगा कि किन-किन आचार्यों ने किस-किस नाम के कितने-कितने अलंकार लिखे हैं और उन अलंकारों में उनके परवर्ती किस-किस आचार्य ने कौन-कौन से अलंकार ग्रहण किये और कौन-कौन से नहीं किये हैं—

अलङ्कार विवरण तालिका नं० १

निम्नलिखित २६ अलंकारों का भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन पाँचों ने निरूपण किया है किन्तु दण्डी ने अनन्वय, उपमेयोपमा और सन्देह इन तीनों को उपमा के अन्तरगत माना है।

१—अतिशयोक्ति‡	१४—यथासंख्य*
२—अनन्वय†	१५—रूपक*
३—अनुप्रास*	१६—विभावना*
४—अपन्हुति*	१७—विरोध*
५—अर्थान्तरन्यास*	१८—विशेषोक्ति†
६—आक्षेप*	१९—व्यतिरेक*
७—उत्प्रेक्षा*	२०—व्याजस्तुति$
८—उपमा*	२१—श्लेष*
९—उपमेयोपमा‡	२२—संसृष्टी†
१०—तुल्ययोगिता†	२३—समासोक्ति*
११—दीपक*	२४—सन्देह*
१२—निदर्शना†	२५—सहोक्ति*
१३—परिवृत्ति*	२६—समाहित†

अलङ्कार विवरण तालिका नं० २

निम्नलिखित २६ अलंकारों में भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन इन पाँचों में किसी-किसी ने माने हैं—

	भट्टि	भामह	दण्डी	उद्भट	वामन
२७—अप्रस्तुतप्रशंसा*	×	२७	२४	२७	२७
२८—आवृत्ति°	×	×	२५	×	×
२९—आशी°	२७	२८	२६	×	×
३०—उत्प्रेक्षावयव°	२८	२९	उत्प्रेक्षा में	×	संसृष्टी में
३१—उदात्त§	२९	३०	२७	२८	×
३२—उपमारूपक°	३०	३१	रूपक में	×	संसृष्टी में
३३—ऊर्जस्वी§	३१	३२	२८	२९	×
३४—काव्यलिङ्ग§	×	×	×	३०	×
३५—छेकानुप्रास**	×	×	×	३१	×
३६—दृष्टान्त*	×	×	×	३२	×
३७—निपुण°	३२	×	×	×	×
३८—पर्यायोक्त§	३३	३३	×	३३	×
३९—पुनरुक्तवदाभास§	×	×	×	३४	×
४०—प्रेय§	३४	३४	२९	३५	×
४१—प्रतिवस्तूपमा**	×	×	उपमा में	३६	२८
४२—भाविक†	३५	३५	३०	३७	×
४३—यमक*	३६	३६	३१	×	२९
४४—रसवत§	३७	३७	३२	३८	×
४५—लाटानुप्रास**	×	×	×	३९	×
४६—लेश†	×	×	३३	×	×
४७—वक्रोक्ति*	×	×	×	×	३०
४८—व्याजोक्ति§	×	×	×	×	३१
४९—संकर*	×	×	×	४०	×
५०—सूक्ष्म*	×	×	३४	×	×
५१—स्वभावोक्ति*	×	३८	३५	४१	×
५२—हेतु†	३८	×	३६	×	×
	३८	३८	३६	४१	३१

निम्नलिखित विवरण, नं० १ और २ की, दोनों तालिकाओं से सम्बन्ध रखता है—

* इस चिह्न के २४ अलंकारों को भट्टि से वामन तक पाँचों के बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक इन सभी ने माना है।

† इस चिह्न के ७ अलंकारों को भट्टि आदि पाँचों के बाद भोज, मम्मट और रुय्यक ने माना है। संसृष्टि को रुद्रट ने संकर के अन्तर्गत लिखा है।

‡ इस चिह्न के २ अलंकारों को भट्टि आदि पाँचों के बाद रुद्रट और भोज ने उपमा के अन्तर्गत माना है और मम्मट और रुय्यक ने स्वतन्त्र माने हैं।

$ इस चिह्न के ६ अलंकारों को भट्टि आदि पाँचों के बाद मम्मट और रुय्यक ने लिखे हैं, रुद्रट और भोज ने नहीं लिखे।

§ इस चिह्न के तीन अलंकारों को भट्टि आदि के बाद रुद्रट और भोज ने नहीं लिखे, मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य में और रुय्यक ने स्वतन्त्र लिखे हैं।

*** इस चिह्न के तीन अलंकारों को भट्टि आदि के बाद रुद्रट ने नहीं लिखे, भोज ने लाटानुप्रास और छेकानुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत और प्रतिवस्तूपमा को साम्य के एवं संकर को संसृष्टी के अन्तर्गत लिखा है और मम्मट एवं रुय्यक ने स्वतन्त्र लिखे हैं।

¶ इस चिह्न के दो अलंकारों को भट्टि आदि के बाद रुद्रट और भोज ने लिखे हैं।

° इस चिह्न के पाँच अलंकारों को भट्टि आदि के बाद रुद्रट आदि चारों ही ने नहीं लिखे।

तालिका नं० १-२ द्वारा विदित होता है कि भट्टि से वामन के समय तक ५२ से अधिक अलंकारों का आविष्कार नहीं हुआ था जिनमें—

(१) भट्टि ने ३८

(२) भामह ने ३८ स्वतंत्र और प्रतिवस्तूपमा को उपमा के एवं लाटानुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत माना है।

(३) दण्डी ने ३६ स्वतंत्र और ६ अलंकार अन्य अलंकारों के अन्तर्गत माने हैं अर्थात् अनन्वय, उपमे-योपमा, सन्देह और प्रति-वस्तूपमा को उपमा के अन्तर्गत और उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा के एवं उपमारूपक को रूपक के अन्तर्गत माना है।

(४) उद्भट ने ४१ अलंकार स्वतन्त्र निरूपण किये हैं।

(५) वामन ने ३१ स्वतन्त्र और उत्प्रेक्षावयव तथा उपमारूपक को संसृष्टी के अन्तर्गत माना है।

अलङ्कार विवरण तालिका नं० ३

निम्नलिखित ५१ अलङ्कार ऐसे हैं जो भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन किसी ने नहीं लिखे हैं। इनके बाद और रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के समय तक नवाविष्कृत हैं। इनमें किस के द्वारा कितने नवाविष्कृत किये गये और आविष्कारकके बाद किस-किस ने स्वीकार किये उसका विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अधिक	१	×	१	१
२	अन्योन्य	३	×	२	२
३	अनुमान	३	१	३	३

संख्या	नाम अलंकार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
४	असंगति	४	×	४	४
५	अवशर	५	विरोध में	×	×
६	उत्तर	६	२	५	५
७	उभयन्यास	७	×	×	×
८	एकावली	८	परिकर में	६	६
९	कारणमाला	९	हेतु में	७	७
१०	चित्र	१०	३	८	८
११	तद्गुण	११	×	९	९
१२	पर्याय	१२	४	१०	१०
१३	परिकर	१३	५	११	११
१४	परिसंख्या	१४	×	१२	१२
१५	प्रतीप	१५	साम्य में	१३	१३
१६	प्रत्यनीक	१६	×	१४	१४
१७	पूर्व	१७	×	×	×
१८	पिहित	१८	×	१५	१५
१९	भ्रान्तिमान	१९	६	×	×
२०	भाव	२०	७	×	×
२१	मत	२१	×	१६	१६
२२	मीलित	२२	८	१७	१७
२३	विषम	२३	विरोध में	१८	१८
२४	व्याघात	२४	×	×	×
२५	विशेष	२५	×	१९	१९
२६	समुच्चय	२६	९	२०	२०
२७	सार	२७	१०	२१	२१
२८	साम्य	२८	११	×	×

संख्या	नाम अलंकार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
२९	स्मरण	२९	१२ स्मृति	२२	२२
३०	अहेतु	×	१३	×	×
३१	अभाव	×	१४	×	×
३२	अर्थापत्ति	×	१५	×	×
३३	आप्तवचन	×	१६	×	×
३४	उपमान	×	१७	×	×
३५	प्रत्यक्ष	×	१८	×	×
३६	वितर्क	×	१९	×	×
३७	संभव	×	२०	×	×
३८	समाधि	×	२१	२३	२३
३९	अतद्गुण	×	×	२४	२४
४०	मालादीपक	×	×	२५	२५
४१	विनोक्ति	×	×	२६	२६
४२	सामान्य	×	×	२७	२७
४३	सम	×	×	२८	२८
४४	उल्लेख	×	×	×	२९
४५	काव्यार्थापत्ति	×	×	×	३०
४६	परिणाम	×	×	×	३१
४७	विचित्र	×	×	×	३२
४८	विकल्प	×	×	×	३३
४९	भावोदय	×	×	×	३४
५०	भावसंधि	×	×	×	३५
५१	भावशबलता	×	×	×	३६
		२९	२१	२८	३६

इसके बाद के वाग्भट्ट (प्रथम), हेमचन्द्र और केशव मिश्र के ग्रन्थों में किसी नवीन अलङ्कार का नामोल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। हेमचन्द्र के बाद जयदेव (जो गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव से भिन्न है) प्रणीत चन्द्रालोक में निम्नलिखित अलङ्कार अधिक दृष्टिगत होते हैं—

१ अत्युक्ति	५ उन्मीलित	९ प्रहर्षण	१३ सम्भावना
२ अनुगुण	६ उल्लास	१० प्रौढ़ोक्ति	१४ स्फुटानुप्रास
३ अवज्ञा	७ परिकरांकुर	११ विकस्वर	१५ अर्थानुप्रास
४ असम्भव	८ पूर्वरूप	१२ विषादन	१६ हुंकृति

अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में निम्नलिखित १७ अलङ्कार जयदेव के चन्द्रालोक से अधिक दृष्टिगत होते हैं—

१ अनुज्ञा	५ छेकोक्ति	९ मिथ्याध्यवसिति	१३ ललित
२ अल्प	६ निरुक्ति	१० मुद्रा	१४ लोकोक्ति
३ कारकदीपक	७ प्रस्तुतांकुर	११ युक्ति	१५ विधि
४ गूढोक्ति	८ प्रतिषेध*	१२ रत्नावली	१६ विवृतोक्ति
			१७ विशेषक

यद्यपि ये १७ अलंकार चन्द्रालोक से कुवलयानन्द में अधिक हैं किन्तु इन अलंकारों के आविष्कर्त्ता अप्पय्य दीक्षित हैं या उनके पूर्ववर्ती अन्य कोई अज्ञात आचार्य हैं इसके निर्णय के लिये कोई साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

शोभाकर कृत अलंकाररत्नाकर में निम्नलिखित ३५ अलंकार नवीन हैं—

---

* यह अलंकार यशस्ककृत 'अलंकारोदाहरण' में भी है।

२

१ अचिंत्य	१० उद्रेक	१९ प्रतिभा	२८ विवेक
२ अतिशय	११ क्रियातिपत्ति	२० प्रत्यादेश	२९ वैधर्म्य
३ अनादर	१२ गूढ़	२१ प्रत्यूह	३० व्यत्यास
४ अनुकृति	१३ तत्सदृशाकार	२२ प्रसङ्ग	३१ व्याप्ति
५ अवरोह	१४ तन्त्र	२३ वर्द्धमानक	३२ व्यासंग
६ अशक्य	१५ तुल्य	२४ विकल्पाभास	३३ सन्देहाभास
७ आपत्ति	१६ निश्चय	२५ विध्याभास	३४ सजातीय-व्यतिरेक
८ आदर	१७ परभाग	२६ विनोद	
९ उद्भेद	१८ प्रतिप्रसव	२७ विपर्यय	३५ समता

यशस्ककृत अलंकारोदाहरण में १ अंग, २ अनंग, ३ अप्रत्यनीक, ४ अभ्यास, ५ अभीष्ट, ६ तात्पर्य, ७ प्रतिबन्ध एवं भानुदत्त कृत अलंकारतिलक में १ अनध्यवसाय और २ भंगी ये नौ अलंकार अधिक मिलते हैं।

इन तीनों ग्रन्थों में जो अलंकार अधिक दृष्टिगत होते हैं, उनमें बहुत से अलंकारों के तो केवल नामों में भेद है और बहुत से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनमें कोई चमत्कार नहीं है इसलिए इन अलंकारों का प्रचार प्रायः उन्हीं ग्रन्थों तक सीमित है जिनमें यह निरूपित किये गये हैं।

निष्कर्ष

इन तालिकाओं द्वारा विदित होता है कि बहुत से आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अनेक अलंकारों को नहीं माना है। इसका एक कारण तो संभवतः यह हो सकता है कि कुछ आचार्यों ने उन्हीं अलङ्कारों का संक्षिप्त में उल्लेख किया है जिनको उन्होंने अपने विचार के अनुसार मुख्य समझे हैं। दूसरा कारण यह है कि कुछ आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित कुछ अलंकारों को सजातीय अलंकारों

के अन्तर्गत मानकर स्वतन्त्र नहीं माने हैं। जैसे दण्डी ने अनन्वय, उपमेयोपमा और सन्देह आदि छः अलंकारों को उपमा आदि के अन्तर्गत माना है, जिनको भामह ने स्वतन्त्र अलंकार लिखे थे। तीसरा कारण यह है कि कुछ अलंकारों को विशेष चमत्कारक न होने के कारण छोड़ दिये हैं, जैसे, रुद्रट द्वारा निरूपित अवशर, पूर्व और भाव आदि। अस्तु।

अलङ्कारों का वर्गीकरण

प्रत्येक अलंकार में उक्ति-वैचित्र्य विभिन्न होने पर भी अलंकारों के कुछ मूल तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर अलंकारों को भिन्न-भिन्न समूह में विभक्त किया जा सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतीप आदि बहुत से अलङ्कारों का मूलाधार सादृश्य है। उपमा आदि अलङ्कारों में सादृश्य कहीं तो उक्ति भेद से वाच्य रहता है और कहीं गम्यमान (छिपा हुआ-व्यंग्य) रहता है। इस प्रकार अलंकारों का पृथक्-पृथक् समूह अपने-अपने पृथक्-पृथक् मूल-तत्वों पर अवलम्बित है। इस बात पर आचार्य रुद्रट के पूर्व अर्थात् ईसा की नवम शताब्दी के पूर्व किसी आचार्य ने लक्ष्य नहीं दिया*। सबसे प्रथम रुद्रट ने अलंकारों के मूलतत्वों पर विचार करके अपने निरूपित अर्थालंकारों को

---

* यद्यपि आचार्य उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में अलंकारों को सात वर्गों में विभक्त किया है। पर वह वर्गीकरण मूल-तत्वों के आधार पर नहीं है। आचार्य भामह ने अपने पूर्ववर्ती ज्ञात एवं अज्ञात आचार्यों द्वारा जो-जो अलंकार निरूपित बतलाये हैं, उन्हीं एक एक आचार्य द्वारा निरूपित उद्भट ने एक एक वर्ग में रखकर अपने निरूपित अलंकारों को सात वर्गों में विभक्त कर दिया है।

(१) वास्तव*, (२) औपम्य†, (३) अतिशय‡ और (४) श्लेप§ इन चार मूल-तत्वों के आधार पर चार श्रेणियों में इस प्रकार विभक्त किया है—

---

* 'वास्तव' श्रेणी में ऐसे २३ अलंकार रक्खे हैं जिनमें वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है, अर्थात् सादृश्य, अतिशय और श्लेपात्मक वर्णन नहीं होता है—

'वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत,
पुष्टार्थमविपरीतं निरूपमनतिशयश्लेशम् ।'

—काव्यालंकार ७ । १०

† 'औपम्य' श्रेणी में ऐसे २१ अलंकार रक्खे हैं जिनमें एक वस्तु के स्वरूप का दूसरी वस्तु के सादृश्य द्वारा तुलनात्मक प्रतिपादन किया जाता है—

'सम्यक्प्रतिपादयितु' स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति,
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।'

—काव्यालंकार ८ । १

‡ 'अतिशय' श्रेणी में ऐसे १२ अलंकार रक्खे हैं जिनमें विरोध-मूलक वर्णन होता है—

'यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति,
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ।'

—काव्यालंकार ९ । १

§ 'श्लेप' श्रेणी में अर्थ-श्लेप के दश भेद बतलाये गये हैं—

'यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्,
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेपः स विज्ञेयः ।'

—काव्यालंकार १० । १

वास्तव वर्ग—	औपम्य वर्ग—	अतिशय वर्ग—	अर्थ श्लेष—
१ सहोक्ति†	१ उपमा	१ पूर्व‡	१० भेद
२ समुच्चय†	२ उत्प्रेक्षा‡	२ विशेष	
३ जाति (स्वभावोक्ति)	३ रूपक	३ उत्प्रेक्षा‡	
४ यथासंख्य	४ अपन्हुति	४ विभावना	
५ भाव	५ संशय (सन्देह)	५ तद्गुण	
६ पर्याय	६ समासोक्ति	६ अधिक	
७ विषम ×	७ मत	७ विरोध	
८ अनुमान	८ उत्तर†	८ विषम ×	
९ दीपक	९ अन्योक्ति	९ असङ्गति	
१० परिकर	(अप्रस्तुतप्रशंसा)	१० पिहित	
११ परिवृत्ति	१० प्रतीप	११ व्याघात	
१२ परिसंख्या	११ अर्थान्तरन्यास	१२ हेतु ×	
१३ हेतु ×	१२ उभयन्यास		
१४ कारणमाला	१३ भ्रान्तिमान्		
१५ व्यतिरेक	१४ आक्षेप		
१६ अन्योन्य	१५ प्रत्यनीक		
१७ उत्तर†	१६ दृष्टान्त		
१८ सार	१७ पूर्व‡		
१९ सूक्ष्म	१८ सहोक्ति†		
२० लेश	१९ समुच्चय †		
२१ अवशर	२० साम्य		
२२ मीलित	२१ स्मरण		
२३ एकावली			

इस वर्गीकरण में यद्यपि कुछ अलंकार दो-दो वर्गों में भी आगये हैं जैसे, (†) इस चिह्न वाले वास्तव और औपम्य वर्गों में, (×) इस

चिह्न वाले वास्तव और अतिशय वर्गों में और (‡) इस चिह्न वाले औपम्य और अतिशय में हैं, पर रुद्रट ने लक्षणों और उदाहरणों द्वारा इन अलंकारों की—जो एक ही नाम के दो-दो वर्गों में रक्खे हैं—पृथक्ता स्पष्ट करदी है।

यह वर्गीकरण मूलतत्वों के आधार पर वैज्ञानिक होते हुए भी महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अलंकारों के मूल-तत्वों का विभाजन यथार्थ नहीं हुआ है। जैसे, 'अनुमान' और 'हेतु' आदि अलंकारों का मूलतत्व वस्तुतः तर्क-न्याय है—यह तर्क-न्याय के आधार पर ही अवलम्बित हैं। 'व्यतिरेक' वस्तुतः औपम्य वर्ग के अन्तर्गत है। 'यथासंख्य' एवं 'कारणमाला' वास्तव में शृङ्खलामूल हैं। रुद्रट ने इन सब का 'वास्तव' वर्ग में समावेश कर दिया है। इसी प्रकार इस वर्गीकरण द्वारा और भी बहुत से अलंकारोंके मूल तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अस्तु।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक और उसके शिष्य मंखक ने अलंकार-सूत्र या अलंकारसर्वस्व में जो अलंकारों का वर्गीकरण किया है, वह मूलतत्वों के आधार पर यथार्थ होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है। यह इस प्रकार है—

अर्थालङ्कारों में निम्नलिखित अलङ्कारों को रुय्यक ने सात वर्गों में विभक्त किया है—

सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृङ्खलाबद्ध, तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढार्थप्रतीतिमूल।

सादृश्य या औपम्यगर्भ २८ अलङ्कार—

४ भेदाभेद तुल्यप्रधान—

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

८ अभेद प्रधान—

६ आरोप मूल—

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपन्हुति।

२ अध्यवसाय मूल—

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

१६ गम्यमान औपम्य—

२ पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक।

३ वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना।

३ भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति।

२ विशेषण वैचित्र्य—समासोक्ति और परिकर।

१ विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य—श्लेष

५ अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप।

विरोधमूल १२ अलङ्कार—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, (कार्यकारण पौर्वापर्य) असंगति और विषम।

शृङ्खलाबन्ध ४ अलङ्कार—

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

न्यायमूल १७ अलङ्कार—

२ तर्कन्याय—

काव्यलिंग और अनुमान।

८ काव्यन्याय (वाक्यन्याय)—

यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि।

७ लोकन्याय—

प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, और उत्तर।

गूढ़ार्थप्रतीतिमूल ३ अलङ्कार—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

इनके सिवा स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ये तीन अलंकार; रस और भाव से सम्बन्ध रखने वाले रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता यह सात एवं संसृष्टी और संकर को रुय्यक ने किसी विशेष वर्ग में नहीं रक्खा है।

रुय्यक ने इस वर्गीकरण में सर्वप्रथम २८ अलंकार औपम्य-मूलक बताये हैं क्योंकि इन अलंकारों में उपमेय उपमान भाव रहता है, अर्थात् इन अलंकारों का बीजभूत (कारण) साधर्म्य (उपमा) है। साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से किया जाता है—भेदाभेदतुल्य-प्रधान, अभेद-प्रधान और भेद-प्रधान। साधर्म्य कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है और कहीं गम्यमान (छिपा हुआ) रहता है। अतएव इन २८ अलंकारों में जिस-जिस में जिस-जिस प्रकार का साधर्म्य रहता है, उसके आधार पर इनका अवान्तर वर्गीकरण भी रुय्यक ने कर दिया है। जैसे—

उपमा आदि ४ अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में कुछ भेद नहीं कहा जाकर तुल्य साधर्म्य रहता है, अतः इनका मूल भेदाभेद तुल्य-प्रधान साधर्म्य है।

रूपक आदि ८ अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद कहा जाता है। अतः इनका मूल अभेद प्रधान साधर्म्य है। इनमें भी रूपक आदि ६ में तो उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है अतः आरोप प्रधान रहता है और उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से एवं अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया जाता है अतः ये दोनों अध्यवसाय-मूलक हैं।

तुल्ययोगिता आदि १६ अलंकारों में औपम्य अर्थात् उपमेय उपमान भाव या सादृश्य शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता किन्तु छिपा रहता है। अतः इनमें गम्यमान औपम्य रहता है। और वह भी भिन्न-भिन्न रीति से रहता है—दीपक और तुल्ययोगिता में उपमेय या उपमानों का या दोनों का एक धर्म एक पद में कहा जाता है, अतः पदार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना में वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है। व्यतिरेक और सहोक्ति में उपमेय और उपमान के परस्पर भेद में गम्यमान औपम्य रहता है। और विनोक्ति का, सहोक्ति के विरोधी होने के कारण इस वर्ग में समावेश किया गया है। समासोक्ति और परिकर में विशेषण-वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य रहता है। अप्रस्तुतप्रशंसा का, समासोक्ति के विरोधी होने के कारण, अर्थान्तरन्यास का अप्रस्तुतप्रशंसा के सजातीय होने के कारण, और पर्यायोक्त, व्याजस्तुति एवं आक्षेप का गम्यमान के प्रस्ताव प्रसंग के कारण इसी वर्ग में समावेश किया गया है।

विरोध मूलक वर्ग में ऐसे १२ अलंकार रक्खे गये हैं जिनका मूल कारण विरोधात्मक वर्णन है। सम अलंकार विरोधमूल न होने पर भी 'विषम' का विरोधी होने के कारण इसी वर्ग में लिखा है।

शृङ्खलाबन्ध वर्ग में ऐसे ४ अलंकार हैं जिनमें शृङ्खला (साँकल) की तरह एक पद या वाक्य का दूसरे पद या वाक्य के साथ सम्बन्ध लगा रहता है।

तर्क आदि न्यायमूल में ऐसे १७ अलंकार हैं जो तर्क आदि विभिन्न न्यायों पर अवलम्बित हैं।

गूढ़ार्थप्रतीति वर्ग में ऐसे ३ अलंकार हैं जिनमें गूढ़ अर्थ की प्रतीति होती है।

यह अलंकार विषयक क्रम-विकाश सम्बन्धी संक्षिप्त विवेचन संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार है। हिन्दी साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में अलंकार विषय

पर जो कुछ स्थूल रूप में लिखा गया है वह अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर है। अतएव अलंकार विषयक हिन्दी के मुख्य ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त है, और वह इस प्रकार है—

हिन्दी साहित्य में अलङ्कार-ग्रन्थ

हिन्दी में बहुत से अलंकार-ग्रन्थ हैं। यहाँ उन्हीं का उल्लेख किया गया है जो लब्ध प्रतिष्ठ उपलब्ध एवं अधिक प्रचलित हैं—

महाकवि केशवदासजी की कविप्रिया

हिन्दी के उपलब्ध ग्रन्थों में महाकवि केशव की कविप्रिया को प्रथम स्थान प्राप्त है। पहिले हिन्दी-साहित्य-संसार में इसका बहुत प्रचार था। इसके आठ प्रभावों में साहित्य विषयक अन्य उपयोगी विषयों का वर्णन है। यह वर्णन अधिकांश में राजशेखर की काव्य-मीमांसा केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' एवं 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर है। नवें से सोलहवें प्रभाव तक शब्द और अर्थ के ३७ अलंकारों का निरूपण किया गया हैं। इनमें सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत ये तीन अलंकार नवीन हैं, किन्तु ये महत्वपूर्ण नहीं हैं।

केशव ने उपमा, आक्षेप और रूपक आदि कुछ अलंकारों के उपभेद अधिकांश में काव्यादर्श से लिये हैं। खेद है कि महाकवि केशव के प्रकाण्ड पाण्डित्य और उनकीप्रतिभा के अनुरूप अलंकारों का विवेचन कविप्रिया में नहीं हो सका है। कविप्रिया का रचना काल १६२८ विक्रमीयाब्द है।

महाराज जसवन्तसिंह का भाषाभूषण

जोधपुर के महाराज प्रथम जसवन्तसिंह के भाषाभूषण की हिन्दी साहित्य में बहुत प्रतिष्ठा है। इसका कवि-समाज में बहुत अधिक प्रचार है। यह ग्रन्थ अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में दी हुई लक्षणोदाहरणों की कारिकाओं के आधार पर लिखा गया है।

और उसी के अनुसार एक ही दोहा के पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है। इसमें ४ शब्दालंकार और १०० अर्थालंकार निरूपण किये गये हैं।

कवि-प्रिया और भाषाभूषण दोनों ही ग्रन्थ ऐसे समय में लिखे गये थे जब कि हिन्दी में अलंकार विषय के ज्ञान के लिये प्रायः कोई ग्रन्थ नहीं था। इन की रचना उस समय न हुई होती तो हिन्दी जनता के लिये अलंकार विषय के ज्ञान के लिये कोई साधन ही नहीं था। अतएव ये दोनों ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में निस्सन्देह गौरव की वस्तु हैं।

भाषा-भूषण के प्रणेता महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म-काल विक्रमीयाब्द १६८७ है अतः भाषाभूषण का रचनाकाल अनुमानतः विक्रमीय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझना चाहिये।

अलंकार रत्नाकर

अलंकार रत्नाकर 'भाषाभूषण' का ही परिवर्द्धित रूप है, जैसे चन्द्रालोक का कुवलयानन्द। इसकी रचना कवि वंशीधर और दलपतिराय ने की है ये उदयपुराधीश महाराणा जगतसिंहजी के आश्रित थे। इस ग्रन्थ का रचनाकाल १७९९ विक्रमाब्द है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक अलंकार के अनेक उदाहरण दिखाकर विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उस समय के अनुकूल इसकी रचना महत्वपूर्ण है।

भिखारीदासजी का काव्यनिर्णय

काव्यनिर्णय अधिकांश में काव्यप्रकाश और कुवलयानन्द के आधार पर लिखा गया है। इसमें लगभग १०० अर्थालंकार और १२ प्रमाणालंकार हैं। दासजी ने अलंकारों का क्रम न तो काव्यनिर्णय के आधारभूत काव्य-प्रकाश या कुवलयानन्द के अनुसार ही रक्खा है और न अलंकारों के मूल तत्वों के आधार पर ही। यह क्रम-परिवर्तन एकमात्र दासजी की इच्छा पर निर्भर है। जैसा कि उनके—

"वही बात सिगरी कहे उलथो होत इकंक,
निज उक्तिहि करि बरनिये रहै सुकल्पित संक,
याते दुहु मिश्रित सज्यो छमिहैं कवि अपराधु ।"

इस कथन से ज्ञात होता है ।

काव्यनिर्णय में कविप्रिया और भाषाभूषण की अपेक्षा अलंकारों की विवेचना अधिक विस्तार से होने पर भी लक्षण और उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण अधिकांश में भ्रामक है । काव्यनिर्णय का समय स्वयं ग्रन्थकर्ता ने विक्रमाब्द १८०३ लिखा है ।

शिवराज भूषण

महाकवि भूषण का शिवराज भूषण हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित करने वाला अपूर्व ग्रन्थ है । विषय विवेचन की तो उस काल में परिपाटी ही नहीं थी किन्तु काव्य की प्रौढ़ रचना और चित्त को एक बार ही फड़का देने वाली रचना में महाकवि भूषण का विशेष स्थान है । इसमें अलंकारों के लक्षण कुवलयानन्द के आधार पर हैं और उदाहरणों में छत्रपति शिवाजी का यश वर्णन है ।

मतिरामजी का ललितललाम, पद्माकरजी का पद्माभरण, दूलह का कविकण्ठाभरण, सोमनाथजी का रसपीयूष, गोकुल की चेतचन्द्रिका, गोविन्दका कर्णाभरण और लछिरामजी का रामचन्द्र भूषण एवं ग्वालजी का अलंकारभ्रमभंजन आदि और भी अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हैं । इन सभी ग्रन्थों में लक्षण प्रायः कुवलयानन्द के आधार पर दिये गये हैं, और उदाहरण प्रायः स्वतन्त्र हैं । ये सभी ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के गौरव बढ़ाने वाले हैं ।

हिन्दी के आधुनिक अलङ्कार ग्रन्थ

आधुनिक अलंकार ग्रन्थों में सर्व प्रथम उल्लेखनीय कविराजा मुरारिदानजी (चारण) का 'जसवन्तजसोभूषण' है । ऐसा विद्वत्तापूर्ण

जसवन्त जसो-
भूषण

ग्रन्थ हिन्दी भाषा में इसके प्रथम कोई प्रणीत नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ में संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्य ग्रन्थों की आलोचना की गई है। कविराजा जोधपुर राज्य के राज्यकवि थे और इन्होंने सुब्रह्मण्य शास्त्री जैसे विद्वान् से साहित्य-शिक्षा प्राप्त की थी*। जसवन्तजसोभूषण की रचना भी इन्हीं शास्त्रीजी की सहायता से की गई है। इस ग्रन्थ में प्राचीन साहित्याचार्यों की जिन अवहेलनाजनक शब्दों में आलोचना की गई है वह सर्वथा भ्रान्त एवं निर्मूल है। कविराजा का कहना है "अलंकारों के नामार्थ में ही लक्षण है किन्तु इस रहस्य को प्राचीनाचार्यों ने नहीं समझा। प्राचीना-चार्यों को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यों लिखते ?"

किन्तु उनका यह आक्षेप केवल मिथ्यालाप है। अलंकारों का यथार्थ स्वरूप केवल नामार्थ द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकता। अलंकारों के नामार्थ द्वारा अलंकारों के प्रधान चमत्कार का केवल आंशिक संकेत मात्र सूचित होता है। स्वयं कविराजा भी अलंकारों के नामार्थ मात्र द्वारा अलंकारों के लक्षण स्पष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य नहीं हो

---

*जसवन्त जसोभूषण (पृ० ४८०) में स्वयं कविराजा द्वारा यह बात प्रकट की गई है—

"साहित समुद्र कौ उलंघबो विचार भलें,
कीन्हीं निज प्रतिभा की नीकी नवका मुरार।
भरत जु वेदव्यास महाराजा भोज आदि,
बड़े कविराज कैवतकैं करणधार॥
रान फतेसिंह ! परब्रह्म आप कृपा प्रेर्यो,
सुब्रह्मण्य शास्त्री भयौ पौन सब ही में सार।
देत हौं असीस मेदपाट ईस ! बीस बिसै,
दीसन लग्यो है वा अपारहू कौ पैलौ पार॥"

सके हैं। उदाहरण रूप में देखिए 'वक्रोक्ति' का नामार्थ कविराजा ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"वक्र शब्द का अर्थ है कुटिल। इसका पर्याय है बाँका, टेढ़ा इत्यादि। वक्रोक्ति नाम की व्युत्पत्ति है वक्री कृत उक्ति—बाँकी की हुई उक्ति। उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही होता है।"……"वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होता है परन्तु वह गौण रहता है।"

इसके बाद लिखते हैं—

'वक्र करन पर उक्ति को, नृप वक्रोक्ति निहार,
स्वर विकार श्लेषादि सौं, होत जु बहुत प्रकार।'

कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है'। यह अर्थ 'वक्रोक्ति' के अक्षरार्थ में कहाँ निकलता है? और 'स्वर-विकार' तथा 'श्लेषादि' का अर्थ भी 'वक्रोक्ति' शब्द से कहाँ निकल सकता है? कविराजा का यह कहना कि 'वक्रोक्ति पर की उक्ति की ही हो सकती है' यह उनका प्रमाद है। क्योंकि स्वयं वक्ता भी अपनी उक्ति में वक्रोक्ति कर सकता है। जैसे—

"सीय कि पिय सँग परिहरहि, लखनु कि रहहहिं धाम।
राजु कि भूँजब भरत पुर, नृपु कि जियहिं बिनु राम॥"

इसमें श्रीराम बनवास के प्रसङ्ग में कैकेईजी के प्रति पौराङ्गनाओं ने स्वयं अपनी उक्ति में काकु-वक्रोक्ति की है पर इसमें वक्रोक्ति अलंकार नहीं है। क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्ता की उक्ति को किसी अन्य द्वारा ही अन्यथा कल्पित किये जाने में वक्रोक्ति अलंकार को सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता की वक्रोक्ति होती है वहाँ काकाक्षिप्त

गुणीभूत व्यंग्य अथवा अवस्था-विशेष में 'काकुध्वनि' होती है। वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर-उक्ति और वक्ता की स्वयं-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती है। इसीलिये कविराजा को भी वक्रोक्ति के नामार्थ की स्पष्टता में 'पर की उक्ति' आदि वाक्यों को, वक्रोक्ति के अर्थ में सम्भव न होने पर अगत्या जोड़ना पड़ा है। 'नामार्थ ही लक्षण है' यह सिद्धान्त तभी सिद्ध हो सकता था जब नाम के शब्दार्थ से अधिक कुछ न कह कर केवल 'वक्रोक्ति' के अक्षरार्थ से ही सब अलंकारों के सर्वाङ्ग लक्षण स्पष्ट करके दिखला देते। कविराजा द्वारा कल्पित इस भ्रान्त सिद्धान्त में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष अनिवार्यतः उपस्थित है। महान् आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में उन्होंने श्री भरतमुनि और भगवान् वेदव्यास आदि पर आक्षेप किया है उसी लक्षण-निर्माण के मार्ग का स्वयं कविराजा ने अनुसरण किया है। यहाँ तक कि अलंकारों के लक्षण के लिये उन्होंने जो छन्द लिखे हैं वे संस्कृत ग्रन्थों के प्रायः अनुवाद मात्र हैं। जैसा, वक्रोक्ति के लक्षण में लिखे हुए उनके उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है। यह (दोहा) निम्नलिखित काव्यप्रकाश की कारिका का अनुवाद मात्र है।

"यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते,
श्लेषण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।"

अर्थात् 'अन्य अभिप्राय से कहे गये वाक्य का दूसरे द्वारा श्लेष या काकु से अन्यथा (वक्ता के अभिप्राय के अतिरिक्त दूसरा अभिप्राय) कल्पना किया जाना'। यह बात वक्रोक्ति के नामार्थ से कदापि स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिए लक्षण निर्माण किया जाना अनिवार्य है।

कविराजा ने उपमा के नामार्थ की स्पष्टता करते हुए यह भी कहा है—"उपमा के नामका साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यान में नहीं आया। आया होता तो वे यह व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते।"

जसवंतजसोभूषण पृ० १७२

कविराजा का यह आक्षेप भी सर्वथा निराधार है। जिस प्रकार कविराजा ने उपमा के नामार्थ की व्युत्पत्ति की है* उसी प्रकार काव्य प्रकाश में की गई है†। केवल उपमा की ही नहीं कविराजा ने अन्य अलङ्कारों के नामों की जो व्युत्पत्ति की है, वह काव्यप्रकाश में की हुई व्युत्पत्ति का प्रायः अनुवाद मात्र है। हमने भी इस ग्रन्थ में अलङ्कारों के नाम का जो व्युत्पत्त्यर्थ लिखा है वह भी अधिकांश में काव्यप्रकाश के आधार पर ही है, इसके द्वारा ज्ञात हो सकता है कि यदि प्राचीनों को नामार्थ का ज्ञान न होता तो काव्यप्रकाशादि में अलङ्कारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार लिखी जा सकती थी।

हाँ, जसवंतजसोभूषण की विवेचन शैली वास्तव में विद्वत्तापूर्ण है। ग्रन्थकार के कथनानुसार ग्रन्थ की रचना १४ वर्ष में समाप्त हुई थी। और इस ग्रन्थ के निर्माण का समय विक्रमीयाब्द १९५० तदनुसार ई० सन् १८९३ है। मुद्रित होने का समय वि० १९५४ है।

इस लेखक का अलंकारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम

अलंकार-प्रकाश की रचना का समय विक्रमाब्द १९५३ (ई० १८९६) है। इस ग्रन्थ के विषय में कुछ कहने का इस लेखक को अधिकार नहीं है। यह ग्रन्थ इस लेखक का प्रथम प्रयास था और उसमें अलंकार विषय का आलोचनात्मक अधिक विवेचन भी नहीं था तथापि काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा इसका आदर किया गया और साहित्य-सम्मेलन की पाठ्य-पुस्तकों में उसको निर्वाचित किया गया। अलंकारप्रकाश में स्वीकृत गद्य में लिखे गये लक्षण और स्पष्टीकरण की शैली के आदर्श पर बहुत से अन्य विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

---

* जसवंतजसोभूषण पृ० १७२

† काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० ६४८–६४९

अलंकारप्रकाश का परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण काव्यकल्पद्रुम का मुद्रणकाल वि० १९८३ (१९२७ ई०) है। अलंकारप्रकाश में केवल अलंकार विषय का निरूपण था और काव्यकल्पद्रुम के पूर्व-संस्करण के दश स्तवकों में श्रव्य काव्य के ध्वनि (ध्वन्यान्तर्गत नवरस और भाव आदि) एवं गुणीभूत व्यंग्य, और काव्य के गुण, दोष आदि प्रायः सभी अङ्गों का यथासाध्य निरूपण किया गया था।

अलंकारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम के बाद अन्य लेखकों द्वारा और भी बहुत से ग्रन्थ अलंकार विषय पर लिखे गये हैं। जिनमें मुख्य ग्रन्थ कालक्रमानुसार श्रीजगन्नाथप्रसादजी 'भानु' का **काव्यप्रभाकर,** श्रीभगवानदीनजी 'दीन' की **अलंकारमंजूसा,** श्री रामशंकरजी शुक्ल 'रसाल' का **अलंकारपीयूष** और सेठ अर्जुनदासजी केडिया का **भारतीभूषण** आदि हैं।

अलंकार विषय अत्यन्त जटिल है इस पर आचार्य श्रीमम्मट (जिनको विद्वद्-समाज में सरस्वती के अवतार की प्रतिष्ठा उपलब्ध है) आदि ने भी अपनी लेखिनी अत्यन्त विचार और गम्भीरता के साथ चलाई थी, आश्चर्य है कि कुछ आधुनिक लेखक उसके प्रति अपने गम्भीर उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते। कहीं-कहीं तो विषय क्या है और हम लिख क्या रहे हैं इसके समझने में भी त्रुटि देखी जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भानुजी के काव्यप्रभाकर और रसालजी के अलंकारपीयूष हैं। इन्होंने यह दोनों ग्रन्थ बृहदाकार बनाकर साहित्य-सम्मेलन के बेचारे परीक्षार्थियों पर केवल मूल्य का असह्य भार ही नहीं रख दिया किन्तु विषय की अनभिज्ञता के कारण साहित्य की हत्या करके विद्यार्थियों के साथ अक्षम्य अन्याय भी किया है।

प्रस्तुत संस्करण के विषय में दो शब्द

काव्यकल्पद्रुम के इस तृतीय संस्करण के प्रथम भाग में निरूपित विषयों को जिस प्रकार आलोचनात्मक विवेचन द्वारा परिष्कृत करके पूर्व संस्करण की अपेक्षा परिवर्द्धित किया गया है, उसी प्रकार इस दूसरे भाग में भी अलङ्कार विषय को आलोचनात्मक विवेचन द्वारा परिष्कृत और परिवर्द्धित करके सरलता से समझाने की चेष्टा की गई है। अबकी बार अन्य उपयोगी बातों के साथ साथ प्रत्येक अलङ्कार के नामार्थ का स्पष्टीकरण भी किया गया है। सभी अलङ्कारों के नाम सार्थक हैं। जिस अलङ्कार में जिस प्रकार का चमत्कार विशेष है, उसको लक्ष्य में रखकर अलङ्कारों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। अतः नामार्थ के स्पष्टीकरण द्वारा पाठकों को प्रत्येक अलङ्कार का स्थूल रूप ज्ञात हो जाने से बड़ी सुविधा रहती है।

इसके अतिरिक्त बहुत से अलङ्कारों के विषय में संस्कृत के आचार्यों का मत भेद है। वह भी प्रसङ्गानुसार दिखाया गया है। उदाहरणों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि की गई है। अबकी बार उदाहृत पद्यों की संख्या ७०० से भी अधिक हो गई है। जिनमें अधिकाँश इस लेखक की नवीन रचना के हैं।

उदाहृत पद्यों के विषय में यहाँ प्रसंगगत यह सूचित किया जाना भी आवश्यक है कि जो उदाहरण अन्य ग्रन्थों से लिये गये हैं उन पर इनवरटेड कोमा अर्थात् पद्य के आदि और अन्त में " " ऐसे चिह्न लगादिये गये हैं और उनकी सूची भी परिशिष्ट में लगा दी गई है।

जिन पद्यों पर यह चिह्न नहीं है, वे इस लेखक की रचना के हैं जिनमें संस्कृत ग्रन्थों से अनुवादित भी हैं। सम्भव है कि लेखक की रचना के उदाहृत पद्यों में कुछ पद्य ऐसे भी हों जिनके साथ प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भाव-साम्य हो, उन्हें देखकर सहसा यह धारणा

हो सकती है कि लेखक द्वारा प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भावापहरण किया गया है। किन्तु इस कार्य को यह लेखक अत्यन्त घृणास्पद समझता है। वस्तुतः ऐसे भाव-साम्य का कारण केवल यही हो सकता है कि जिस संस्कृत ग्रंथ के पद्य का अनुवाद करके इस ग्रन्थ में लिखा गया है, उसी पद्य का अनुवाद हिन्दी के किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने भी करके अपने ग्रन्थ में लिखा हो। ऐसी परिस्थिति में केवल भाव-साम्य ही क्यों किसी अंश में शब्द-साम्य भी हो सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक अलङ्कार-ग्रन्थों के उदाहृत पद्यों और गद्यात्मक लेखों के साथ भी इस (काव्यकल्पद्रुम) ग्रन्थ के गद्य-पद्यों में केवल भाव-साम्य ही नहीं, अधिकाँश में अविकल शब्द-साम्य भी अवश्य दृष्टि-गत होगा। इसका कारण यह है कि अलङ्कारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम (प्रस्तुत संस्करण के पूर्व संस्करण) के बाद अलङ्कार विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रन्थ लिखे गये हैं प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रन्थों से ली गई है। कुछ लेखकों ने तो उक्त दोनों ग्रन्थों के विवेचनात्मक गद्य लेखों और उदाहृत पद्यों को कहीं कहीं कुछ परिवर्तित रूप में और कहीं अविकल रूप में ज्यों के त्यों अपने ग्रन्थों में रख दिये हैं। और उनके नीचे अलङ्कारप्रकाश या काव्यकल्पद्रुम का नामोल्लेख करके अवतरण रूप से उद्धृत न करके उनका अपनी निजी सम्पत्ति के समान उपयोग किया है। जैसे—

स्व० लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अपनी 'अलङ्कारमंजूषा' में अलङ्कारप्रकाश से बहुत कुछ सामग्री ली है। उसका दिक्दर्शन 'माधुरी' पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक साहित्यमर्मज्ञ पं० श्रीकृष्णविहारीजी मिश्र ने 'समालोचक' पत्र में कराया है। जिसमें मिश्रजी ने अलङ्कारप्रकाश में लिखे गये अलङ्कारों के दोष प्रकरण में लेखक की रचना के अविकल रूप में पद्य और कुछ शब्द परिवर्तित रूप में गद्य का 'अलङ्कार-

मंजूषा' में जो अपहरण किया गया है, उसका १० पृष्ठों में अवतरण देकर दिक्-दर्शन कराया है। उस लेख का अन्तिम नोट इस प्रकार है—

"नोट—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार लिखित अलङ्कारप्रकाश ग्रन्थ के पंचमोल्लास में अलङ्कारों के दोषों का वर्णन है। ला० भगवानदीन ने अपनी 'अलङ्कारमंजूषा' के चौथे पटल में 'दोष कोष' नाम देकर इस उल्लास की सारी सामग्री थोड़ा सा फेर फार करके ज्यों की त्यों रख दी है। और भूमिका आदि में कहीं भी यह स्वीकार नहीं किया है कि यह सामग्री अलङ्कारप्रकाश से ली गई है। पाठक गण अलङ्कारमंजूषा की मौलिकता की असलियत जान लें, इसलिए कुछ उदाहरण ऊपर दिखाये गये हैं।" (त्रैमासिक समालोचक हेमन्त वि० सं० १९८४ पृ० १२१-१३०)

इसी प्रकार श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने काव्यप्रभाकर में अलङ्कारप्रकाश के गद्य-पद्यों का पर्याप्त अपहरण किया है—

अलङ्कारप्रकाश मुद्रित वि० सं० १९५९	काव्यप्रभाकर मुद्रित संवत १९६६
भूमिका पृ० २ से १२ तक—"जिस प्रकार व्याकरण, न्याय।" इस वाक्य से प्रारम्भ होकर "साम्प्रत काव्य की अवनति का कारण" "काव्य से लाभ।" "यश" "द्रव्य लाभ" "लोक व्यवहार ज्ञान।" "दुःख निवारण।" "शीघ्र ही परमानन्द।" "कान्ता की भाँति उपदेश।" "कारण।" इत्यादि शीर्षकों का विवेचन किया गया है।	भूमिका पृ० २ में "जैसे व्याकरण के आचार्य" इस वाक्य से प्रारम्भ करके पृ० ८ तक कहीं कहीं कुछ शब्द परिवर्तन करके प्रायः अविकल रूप से सभी लेख ले लिया गया है।

सहसारथिसूत सु लसत तुरग आदि पदसैन, अरिवधदेह शरीर हो नृप तुम धीरज पैन । पृ० ३०	सहसारथिसूत सु लसत तुरंग आदि पदसैन, निकट तुम्हारे रहत नृप सुमनस विबुध सुबैन । पृ० ४७३
चक्र चक्रकरिपुच्छकरि'''इत्यादि पृ० १३	अविकल पृ० ४७६
गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा''' इत्यादि पृ० ८	अविकल पृ० ४६२
अलिकुल कोकिल कलित यह'''''' इत्यादि पृ० ६	अविकल पृ० ४६३
इच्छत हिमगिरि तमहि मनु'''''' पृ० २३२	अविकल पृ० ५११
धरि कुरंग को अंक मृगलांछन ससि नाम भो, मृगगन हनत निसंक नाम मृगाधिप हरि लह्यो । पृ० ११२	धरि कुरंग को अंक में भौ मयंक सकलंक, भयो मृगाधिप केसरी मारत ताहि निसंक । पृ० ५३२
सेमर तेरो भाग्य यह कहा सराह्यो जाय, पक्षी करि फल-आश जो तुहि सेवत नित आय । पृ० १२१	सेमर तू बड़ भाग है कहा सराह्यो जाय, पंछी कर फल आश तुहि निसदिन सेवहिं आय । पृ० ५३५

इत्यादि दिक्-दर्शन मात्र है ।

श्री रामशङ्कर शुक्ल एम० ए०, 'रसाल'जी तो इस विषय में सब से अधिक बढ़ गये हैं । काव्यकल्पद्रुम से लिये गये प्रत्येक अलङ्कार के

विवेचनात्मक आवरण को 'अलङ्कारपीयूष' से हटा देने पर ही 'पीयूष' के निरावरण—असली रूप—की 'रसालता' पाठकों को विदित हो सकती है। इस अपहरण लीला को भली प्रकार प्रकाश में लाने के लिये यहाँ स्थान कहाँ, कुछ दिक्दर्शन इस प्रकार है—

काव्यकल्पद्रुम पूर्व संस्करण मुद्रणकाल १९८३ (ई० १९२७)	*अलङ्कारपीयूष मुद्रणकाल (ई० १९२९)*
श्लेष के भेद पृ० २५०	देखिये पृ० २४२–२४३
'श्लेष' शब्दालङ्कार है या अर्थालङ्कार पृ० २५७	देखिये पृ० २४४–२४५
पृ० २७२ 'उपमैकाशैलूषी।' इत्यादि चित्रमीमांसा का पद्य लिखकर टिप्पणी में अनन्वय आदि अनेक अलङ्कार उपमामूलक बताये गये हैं।	पृ० २४८–२४९ में अविकल लिया गया है। हाँ चित्रमीमांसा' का पद्य प्रथम न लिखकर अन्त में लिखा गया है।
उपमा के सावयवादि भेद पृ० २८४	देखिये पृ० २६१
'असम' (पृ० २९०), 'उदाहरण' (पृ० २९१), उपमेयोपमा (पृ० २९२), 'प्रतिवस्तूपमा' (पृ० ३५७), 'रूपक' (पृ० २९७–९८), 'अपन्हुति' (पृ० ३२३–२८), 'परिणाम' (पृ० २८०), 'उत्प्रेक्षा' (पृ० ३२८), 'अतिशयोक्ति' (पृ० ३४३–४४), आदि अलङ्कारों का अन्य अलङ्कारों से पृथकरण किया गया है।	देखिये, 'असम' (पृ० २७२), 'उदाहरण' (पृ० २७३), उपमेयोपमा (पृ० २८९), 'प्रतिवस्तूपमा' (पृ० २७४) 'रूपक' (२८२–२८३), 'अपन्हुति' (पृ० २९१–२९९), 'परिणाम' (पृ० २८१), 'उत्प्रेक्षा' (पृ० ३००–९), 'अतिशयोक्ति' (पृ० ३११–१३) आदि

नीचे काव्यकल्पद्रुम के कुछ ऐसे छन्दों का दिक्दर्शन कराया जाता है जिनका रसालजी ने अविकल रूप में निज रचना की तरह पीयूष में उपयोग किया है—

	काव्यकल्पद्रुम पृष्ठ	अलङ्कारपीयूष पृष्ठ
जिहिं तुलना तुहि दीजिये······	२७८	२५५
अदा उदय होतो भयो······	२७९	२५६
विकसित नील सरोज सम······	२८१	२५७
सफरी से अति चपल है······	२८४	२६२
वचसी माधुरि मूरती······	२८६	२६३
मुख सिय को है चन्द्र रिपु······	२८७	२६३
शोभित कुसुमनस्तवकयुत······	२९२	२६४
अमल कमल से नैन हैं······	२९२	२६६
सुधा संत के वचन सी······	२९३	२६६
ब्रह्माचतुरानन बिना···	३०६	२८६
संकट शक्ती सो निकारी···	३४१	३०७
भवगौरी सों लालकी···	३५०	३१८
वारन तारन वृद्ध जन···	३१२	३२२
तियन मदन यदु हितसदन···	३१२	३२२
कृत बहु पापरु तापयुत···	३१३	३२४

नीचे काव्यकल्पद्रुम के ऐसे छन्दों का दिक्-दर्शन कराया जाता है जिनमें कुछ शब्द परिवर्तन करके रसालजी ने अपनी कृति के रूप में गौरव प्राप्त करने की चेष्टा की है—

काव्यकल्पद्रुम	पृष्ठ	अलङ्कारपीयूष	पृष्ठ
नभ सर नीलमता सलिल भगन मुकुल चकपाल, षोडस कल दल अंक अलि अलि! ससि कंज विशाल।	२६६	नभ सर नीले जल सहित उडुप प्रफुल कलि वृंद। षोडस दल बिच श्याम अलि लसत कलाधर चन्द्र।	२८४
हालाहल जिन गर्व कर, हौं ही कठिन अपार। पै न कहा तेरे सदृश, खल जन वचन निहार।	२६५	गरव करै रे शर कहा, हौं ही अनुपम पैन। कहा न तो सम है परखु दुष्ट जनन के बैन।	२७८
अद्भुत जोत महान सौं, किय प्रकाश त्रय भौन। मुक्तारत्न सुवंश-भव, तुहि न सराहत कौन।	३०२	अद्भुत जोत महान सौं, क्रिय प्रकाश त्रय भौन। मुक्तारत्न सुवंश-भव, तोहिन चाहत कौन।	२८५
रहत सदा विकसित विमल; धरै वास मृदु मंजु। उपजो नहिं पुनि पंक ते, राधे को मुख चंद।	३०६	रहै प्रकाशित पूर्ण नित, स्रवै सुधा-रस बिन्दु। सुखद सदा बिन कालिमा, राधा को मुख चन्द।	२८६
तिय-तनछवि-भर तरन हित लखि तिहिं अतल अपारु स्मर जोवन के मनहु यह तरन कुंभ युग चारु।	३३२	तिय सुखमा रस रास मय, शोभा सिंधु अपार। तरत ताहि युग कुंभ लै, यौवन के जनु भार।	३०३

इत्यादि। पीयूष में ऐसा कोई अलङ्कार प्रकरण नहीं जिसमें कल्पद्रुम के गद्य और पद्यों का पर्याप्त अपहरण न किया गया हो। यहाँ पीयूष के केवल प्रथम भाग का कुछ दिक्दर्शन मात्र है। दो चार दोहों के नीचे जो ऊपर उद्धृत नहीं किये गये हैं "का० क०" यह चिह्न भी लगा दिया

है। वह इसलिए कि इस चिह्न के रहित सभी छन्द 'रसालजी' के निजी समझ लिये जायें।

'भारतीभूषण' में केडियाजी ने भी काव्यकल्पद्रुम के अलङ्कारों के गद्यात्मक विवेचन का पर्याप्त उपयोग किया है। अलङ्कारों की परस्पर में पृथक्ता दिखाने में तो अधिकाँश भाग काव्यकल्पद्रुम से ही लिया गया है*।

इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इन विद्वान् लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अलङ्कारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम की सामग्री का उपयोग क्यों किया। प्रत्युत अन्य विद्वानों द्वारा किसी लेखक के ग्रन्थ की सामग्री का उपयोग किया जाना तो उस लेखक के गौरव का विषय है—ग्रंथ लिखने की सफलता ही तभी समझी जाती है, जब अन्य व्यक्तियों को उसके द्वारा कुछ लाभ प्राप्त हो। किन्तु जिस ग्रन्थ की सामग्री ली जाय उसका नामोल्लेख किया जाना भी उचित और आवश्यक है। अन्यथा कालान्तर में यह भ्रम हो सकता है कि किसने किस ग्रन्थ से सामग्री ली है। अतएव यहाँ यह अवतरण इसलिए दिये गये हैं कि काव्यकल्पद्रुम का यह संस्करण अब इन ग्रंथों के बाद में प्रकाशित हो रहा है—कालान्तर में इस ग्रन्थ के लेखक पर प्रत्युत उन ग्रन्थों से अपहरण करने का दोषारोपण न किया जाय।

अन्य ग्रन्थों की आलोचना

हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थकर्त्ताओं के विषय में हम प्रथम भाग की भूमिका में यह कह चुके हैं कि वे अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हुए भी उन्होंने अपना अधिक लक्ष्य काव्य की प्रौढ़-रचना पर ही

---

* काव्यकल्पद्रुम के पूर्व संस्करण से मिलान करिये भारतीभूषण में वक्रोक्ति (पृ० ३५ नोट), श्लेष (पृ० ३६ सूचना), उपमा (पृ० ५३ पादटिप्पणी), रूपक (पृ० ८४), उल्लेख (पृ० १०४), उत्प्रेक्षा (पृ० १२४-१३२), अतिशयोक्ति (पृ० १४६), प्रतिवस्तूपमा (पृ० १६६) इत्यादि प्रायः सभी अलङ्कार ।

रक्खा है, न कि विषय को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने पर। अतएव इच्छा न रहने पर भी इस भाग में भी कहीं कहीं हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के विषय में कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिये बाध्य होकर ही इस कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा है। आशा है विद्वान् पाठक क्षमा करेंगे।

आधुनिक ग्रन्थों में कविराजा मुरारिदानजी के जसवंत-जसोभूषण में किये गये अलङ्कारों के विवेचन के साथ भी हमारा अधिकाँश में मत भेद है, किन्तु उसकी आलोचना स्थानाभाव के कारण इस ग्रन्थ में नहीं की गई है।

इसके अतिरिक्त स्व० लाला भगवानदीनजी की 'अलंकार मंजूषा' भानुजी के 'काव्यप्रभाकर' और रसालजी के 'अलंकारपीयूष' की इस ग्रन्थ के अलङ्कार प्रकरण में इसलिए उपेक्षा की गई है, कि इन तीनों ग्रन्थों की आलोचना के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। दिक्-दर्शन के लिये दीनजी की 'व्यंग्यार्थमंजूषा' भानुजी के काव्यप्रभाकर और रसालजी के अलङ्कारपीयूष की संक्षिप्त रूप में आँशिक आलोचनाएं 'माधुरी' पत्रिका में इस लेखक द्वारा की गई है।*

भारतीभूषण में सेठ अर्जुनदासजी केडिया भी अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण यथार्थ लिखने में सफलीभूत नहीं हो सके हैं। केडियाजी

---

* देखिये 'माधुरी' मासिक पत्रिका—

व्यंग्यार्थमंजूषा की आलोचना माधुरी वर्ष ६, खंड २, संख्या ३ पृ० ३१३-३१८।

काव्यप्रभाकर की आलोचना माधुरी वर्ष ७, खंड १ संख्या १ पृ० ४४-६२ और संख्या ४ पृ० ८३२-३७।

अलङ्कारपीयूष की आलोचना माधुरी वर्ष ८, खंड २ संख्या ३ पृ० २६०-२६५ और संख्या ५ पृ० ५८६-५६२।

इस लेखक के परम मित्र थे। अतएव भारतीभूषण के संशोधन में इस लेखक ने भी अपना कुछ समय दिया था और केडियाजी के अनुरोध से समय-समय पर अलङ्कार विषयक जटिल प्रश्नों को यथासाध्य समझाने की चेष्टा भी की गई थी। फिर भी केडियाजी ने भारतीभूषण की सर्वोत्कृष्टता दिखाते हुए अलङ्कारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम की—स्पष्ट नामोल्लेख न करके—कई स्थलों पर निःसार आलोचना की है। 'ग्रन्थकार का वक्तव्य' में भी आपने लिखा है—

"हिन्दी ग्रन्थों में कठिन अलङ्कारों के एक से अधिक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सरल अलङ्कारों के उदाहरण कुछ अधिक मिलते हैं वे कुवलयानन्द से अनुवादित हैं। अतः बहुत से ग्रन्थों में उदाहरण एक से हो गये हैं।" (भारतीभूषण पृ० ३६)

इसके प्रमाण में आपने कुछ ग्रन्थों के तीसरी 'असङ्गति' के उदाहरण उद्धृत किये हैं जिनमें अलङ्कारप्रकाश भी सम्मिलित है। किन्तु न तो हिन्दी ग्रन्थों में अधिकाधिक उदाहरणों का अभाव ही है और न अधिकाँश में कुवलयानन्द से अनुवादित उदाहरण ही हैं*। फिर अधिक उदाहरण तभी उपयोगी हो सकते हैं जब उनका निर्वाचन, विषय के अनुकूल यथार्थ किया जाय, अन्यथा प्रत्युत अनर्थ हो जाता है। स्वयं केडियाजी साधारण अलङ्कारों के उदाहरण निर्वाचन में भी भ्राँत होकर अधिकाँश में स्खलित हो गये हैं। इसी तीसरी असंगति का उदाहरण भारतीभूषण में प्रतिकूल है†। भारतीभूषण में लुप्तोपमा का उदाहरण—

'गावत मलार मिल……दरीची में……।' इत्यादि पृ० ७० यह दिया है। इसके चतुर्थ चरण में 'मानो' का प्रयोग होने के कारण

---

* देखिए, काव्यकल्पद्रुम, काव्यनिर्णय, रामचन्द्रभूषण, शिवराजभूषण और ललितललाम आदि।

† देखिये काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण का पृ० २५६।

उत्प्रेक्षा प्रधान है और जिस 'अनादर' शब्द के प्रयोग के कारण आपने इसमें लक्ष्योपमा मान ली है, उस 'अनादर' शब्द के प्रयोग द्वारा 'प्रतीप' सिद्ध होता है, न कि लक्ष्योपमा।

उपमान-लुप्ता मालोपमा का आप 'बानधारी पाथ सो न मान कुरुराज कैसो......।' इत्यादि (पृ० ६०) यह उदाहरण दिया है। इसमें 'पाथ' और 'कुरुराज' आदि के बाद 'सा' श्रौती-उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग होने के कारण 'पाथ' आदि सभी उपमान हैं‡, जिनको आपने उपमेय समझ लिया है।°

हम नहीं समझते कि केडियाजी ने कौन से अलङ्कारों को कठिन समझा है। इस लेखक के विचार में यों तो सभी अलङ्कारों का विषय कठिन है। विशेषतः श्लेष, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना और पर्यायोक्ति आदि का ऐसा विषय है, जिस पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने बड़ी गम्भीर विवेचना द्वारा सूक्ष्मदर्शिता प्रदर्शित की है। अतएव इन अलङ्कारों का विषय विवेचन ही अलङ्कार ग्रन्थ के लेखक की परीक्षा के लिए एक मात्र कसौटी है। किन्तु केडियाजी इन अलङ्कारों का विवेचन तो कहाँ, पर्याप्त उदाहरण भी न लिख सके। अस्तु। यहां न तो किसी ग्रन्थ की आलोचना अभीष्ट है और न अन्य ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता दिखाना ही, अगत्या प्रसंगानुसार कुछ पंक्तियाँ लिख दी गई हैं।

जिन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है, उन सहायक ग्रन्थों के जो संस्करण इस लेखक ने उपयोग में लिये हैं उनकी नामावली आगे लगा दी गई है।

सहायक ग्रन्थ

अतः इस ग्रन्थ में संस्कृत ग्रन्थों के अवतरणों के आगे जो पृष्ठ संख्या दी गई है, वह उन्हीं संस्करणों की है।

---

‡ देखिये काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण में पृ० ४९ उपमान-लुप्ता उपमा।

° इन के अतिरिक्त काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण में प्रसङ्गप्राप्त अन्यत्र भी इस विषय का दिक्दर्शन कराया गया है।

विनीत निवेदन

अलङ्कार का विषय अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद होने के कारण अलङ्कार विषय का परिष्कृत और परिमार्जित एवं निर्दोष निरूपण किया जाना बड़ा ही दुःसाध्य व्यापार है, यहाँ तक कि संस्कृत के जिन ग्रंथों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है, उन ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकारों का भी अनेक स्थलों पर परस्पर में मतभेद दृष्टिगत होता है। ऐसी परिस्थिति में उन ग्रन्थों का यथार्थ तात्पर्य समझ कर दूसरों को समझाने में एवं आलोचनात्मक विवेचन में सफलता प्राप्त करना इस लेखक जैसे अल्पज्ञ साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव है। अतएव इस ग्रन्थ में अनिवार्य रूप से अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। आशा है विषय की क्लिष्टता पर लक्ष्य रखकर सभी त्रुटियों के विषय में काव्य-मर्मज्ञ गुण-ग्राही उदारचेता सहृदय जन क्षमा प्रदान करेंगे।

बस अब निम्न लिखित सूक्ति को प्रार्थना रूप में उद्धृत करते हुए इस प्राक्कथन को समाप्त किया जाता है :—

'अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा,
साहित्यसर्वस्वसमीहया वा।
मदीयमाऽर्या मनसा निबन्ध—
ममुं परीक्षध्वममत्सरेण।'

(गोपेन्द्रत्रिपुरहर भूपाल)

मथुरा
वैसाख शु० ३ वि० सं० १९९३

विनीत—
कन्हैयालाल पोद्दार

इस प्राक्कथन के प्रूफ संशोधन में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं, वे नीचे लिखे अनुसार ठीक करके पढ़ना चाहिये—

पृष्ठ (ई) में—'अलङ्कारान्तराणा'''' के आगे * यह चिन्ह और इस चिन्ह का फुटनोट भूल से छप गया है। असल में * यह चिन्ह और इस चिन्ह का फुट नोट पृष्ठ (आ) में भामह की—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति''''''।' इस कारिका का है।

पृष्ठ (च) में पंक्ति ३ के आगे—रुद्रट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा २६ अलङ्कार नवीन आविष्कार किये हैं। इतना पाठ अधिक समझना चाहिये।

पृष्ठ (ढ) की पंक्ति ७ वीं में "१७ अलङ्कार" के स्थान पर '३७ अलङ्कार' पढ़ना चाहिये।

पृष्ठ (ध) की अलङ्कार तालिका में भूल से

मत	२१	×	१६	१६
मीलित	२२	८	१७	१७
विषम	२३	विरोध में	१८	१८
व्याघात	२४	×	×	×

इस प्रकार छप गया है। इसके स्थान पर नीचे के अनुसार होना चाहिये—

मत	२१	×	×	×
मीलित	२२	८	१६	१६
विषम	२३	विरोध में	१७	१७
व्याघात	२४	×	१८	१८

पृष्ठ (प) की पंक्ति १० में निम्नलिखित १७ अलङ्कार की जगह निम्नलिखित १७ अर्थालङ्कार पढ़ना चाहिये—

पृष्ठ (म) की पंक्ति ७ में "सब अलंकारों के" स्थान पर 'इस अलंकार का' पढ़ना चाहिये।

संस्कृत के उन ग्रंथों की नामावली जिनकी इस ग्रन्थ में सहायता ली गई है।

१ अग्निपुराण—(भगवान् वेदव्यास) आनन्दाश्रम, पूना।

२ अलङ्कारसर्वस्व—(रुय्यक और मंखक) जयद्रथकृत विमर्शिनी व्याख्या निर्णयसागर प्रेस, सन् १८९३

३ अलङ्कारसूत्र—(रुय्यक और मंखक) समुद्रबन्ध कृत व्याख्या ट्रीवेन्ड्रम सन् १९२६

४ अलङ्कारशेखर—(केशव मिश्र) निर्णय सागर प्रेस बंबई सन् १९०५

५ एकावली—(विद्याधर) बाँबे संस्कृत सीरीज

६ काव्यप्रकाश—(आचार्य श्रीमम्मट), वामनाचार्य कृत बालबोधिनी व्याख्या निर्णय सागर सन् १९०१

७ काव्यप्रकाश—(श्री मम्मट) काव्यप्रदीप और उद्योत व्याख्या आनन्दाश्रम, पूना

८ काव्यालङ्कार—(आचार्य भामह) चौखंभा संस्कृतसीरीज विद्याविलास प्रेस बनारस सन् १९२८

९ काव्यालङ्कारसारसंग्रह—(उद्भट) भंडारकर, पूना सन् १९२५

१० काव्यालङ्कारसारसंग्रह—(उद्भट) निर्णय सागर सन् १९१५

११ काव्यालङ्कारसूत्र—(वामन) सिंहभूपाल कृत कामधेनु व्याख्या बनारस सन् १९०७

१२ काव्यालङ्कार—(रुद्रट) नमिसाधु कृत टिप्पणी निर्णय सागर सन् १८८६

१३ काव्यादर्श—(दण्डी) लाहौर

१४ काव्यानुशासन—(हेमचन्द्र) निर्णय सागर सन् १६०१

१५ काव्यानुशासन—(वाग्भट) निर्णय सागर सन् १६१५

१६ कुवलयानन्द—(अप्पय्य दीक्षित) श्रीवेङ्कटेश्वर बंबई वि० सं० १६५२

१७ चन्द्रालोक—(जयदेव पीयूषवर्ष) गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बंबई सन् १६२३

१८ चित्रमीमांसा—(अप्पय्य दीक्षित) निर्णय सागर सन् १८६३

१९ ध्वन्यालोक—(ध्वनिकार और श्रीआनन्दवर्धनाचार्य) निर्णय सागर सन् १८६१

२० नाट्यशास्त्र—(श्री भरतमुनि) निर्णय सागर सन् १६६४

२१ रसगङ्गाधर—(पंडितराज जगन्नाथ) निर्णय सागर सन् १८६४

२२ वक्रोक्तिजीवित—(कुन्तक वा कुन्तल) ओरियण्टल सीरीज कलकत्ता सन् १६२८

२३ वाग्भटालङ्कार—(वाग्भट) निर्णय सागर सन् १६२८

२४ सरस्वतीकण्ठाभरण—(श्रीभोजराज), निर्णय सागर सन् १६२५

२५ साहित्यदर्पण—(श्रीविश्वनाथ) श्री काणे सम्पादित निर्णय सागर सन् १६३३

श्रीहरिः

काव्य-कल्पद्रुम

द्वितीय भाग*

अष्टम स्तवक

मंगलाचरण

स्मरणमात्र से तरुणातप को कर करुणा हरता निःशेष,
जिसके निकट चमत्कृत रहती अगणित चपलाएँ सविशेष।
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम,
वही सतत इस कल्पद्रुम को सफल करै अभिनव घनश्याम।

---

* काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम भाग में सात स्तवक हैं उनमें वाचक आदि शब्द, वाच्य आदि अर्थ, अभिधा आदि वृत्ति और रस-ध्वनि एवं भाव आदि का विवेचन किया गया है। इस दूसरे भाग में अलङ्कार विषय का विवेचन है। केवल अलङ्कार विषय के पाठकों के लिए यह दूसरा भाग पर्याप्त है।

अलङ्कार

'अलङ्करोतीति अलङ्कारः'। अलङ्कार पद में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। इनका अर्थ है शोभा करने वाला। अलङ्कार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं, अतः इनकी अलङ्कार संज्ञा है। आचार्य दण्डी ने कहा है—

'काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलङ्कारान्प्रचक्षते।'

काव्यादर्श २।१

उक्त कारिका में दण्डी ने अलङ्कारों को काव्य के धर्म बताये हैं। किन्तु आचार्य वामन ने गुणों को ही काव्य के शोभाकारक धर्म कहा है—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः।'

काव्यालङ्कार सूत्र ३।१

अतएव आचार्य मम्मट ने गुण और अलङ्कार का पृथक्करण करते हुए गुणों को काव्य के साक्षात् धर्म और अलङ्कारों को काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म कहकर अलङ्कारों का सामान्य लक्षण इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।

काव्यप्रकाश ८।६७

काव्य की आत्मा रस है। रस अङ्गी है; और शब्द एवं अर्थ उसके (रसात्मक काव्य के) अङ्ग हैं। अर्थात् काव्य, शब्द और अर्थ के आश्रित है। जिस प्रकार हार आदि आभूषण कामिनी के शरीर को चमत्कृत करते हैं उसी प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कार

शब्दार्थ रूप काव्य के उत्कर्षक हैं। किन्तु रसात्मक काव्य के अलङ्कार कहीं-कहीं ही उत्कर्षक होते हैं—सर्वत्र नहीं। अर्थात् न तो अलङ्कार रस के सर्वत्र उत्कर्षक ही होते हैं और न रस के साथ सर्वत्र अलङ्कारों की स्थिति ही रहती है*। किन्तु गुण रस के सदैव उत्कर्षक हैं और रस के साथ गुणों की सर्वत्र स्थिति भी रहती है। आचार्य मम्मट के इस विवेचन द्वारा अलङ्कार और गुण का भेद स्पष्ट हो जाता है।

अलङ्कारों का शब्द और अर्थगत विभाग

अलङ्कार प्रधानतः दो भागों में विभक्त हैं। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रास आदि अलङ्कार शब्द के आश्रित हैं, अतः वे शब्दालङ्कार कहे जाते हैं। अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमा आदि अलङ्कार अर्थ के आश्रित हैं अतः वे अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। और जो अलङ्कार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालङ्कार कहे जाते हैं। अलङ्कारों का शब्द और अर्थ-गत विभाजन अन्वय† और व्यतिरेक‡ पर निर्भर है। अर्थात् जो अलङ्कार किसी विशेष शब्द की स्थिति रहने पर ही रह सकता है और उस शब्द के स्थान पर उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द

---

* अलङ्कारों का रस के उत्कर्ष एवं अनुत्कर्षक होने और रस के विना भी उनकी स्थिति रहने के सम्बन्ध में प्रथम भाग के छठे स्तवक में देखिये।

† जिसके होने पर जिसकी स्थिति रहती है उसे 'अन्वय' कहते हैं। जैसे—दण्ड (चाक के फिराने का डण्डा) और चक्र (कुम्हार का चाक) के होने पर ही घट की उत्पत्ति हो सकती है।

‡ जिसके न होने पर जिसकी स्थिति नहीं रहती उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे—दण्ड और चाक के न होने पर घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

रहने पर नहीं रह सकता, वह शब्दालङ्कार है। जो अलङ्कार शब्दाश्रित नहीं रहता अर्थात् जिन शब्दों के प्रयोग द्वारा किसी अलङ्कार की स्थिति रहती हो, यदि उन शब्दों के स्थान पर उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द रख देने पर भी उस अलङ्कार की स्थिति रह सकती हो, वह अर्थालङ्कार है। निष्कर्ष यह है कि जो अलङ्कार, गुण या दोष शब्द के आश्रित रहते हैं, वे शब्द के और जो अर्थ के आश्रित रहते हैं वे अर्थ के माने जाते हैं। इसी सिद्धान्त पर शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का वर्गीकरण किया गया है*।

शब्दालङ्कार†

(१) वक्रोक्ति अलङ्कार

किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा—श्लेष से अथवा काकु-उक्ति से—अन्य अर्थ कल्पना किये जाने को वक्रोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है—श्लेष द्वारा और 'काकु' द्वारा। अतः वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति।

---

* 'श्लेष' अलङ्कार और श्लेष-मिश्रित अलङ्कारों के सम्बन्ध में शब्द और अर्थ-गत विभाग के विषय में आचार्यों का मतभेद है। इसका विवेचन श्लेष अलङ्कार के प्रकरण में प्रसङ्गानुसार किया जायगा।

† शब्द और अर्थ में प्रथम शब्द का चमत्कार बोध होने के कारण शब्दालङ्कारों के विशेष भेद प्रथम निरूपण किये जाते हैं।

श्लेष-वक्रोक्ति

वक्ता के वाक्य का श्लिष्ट शब्द के श्लेषार्थ से अन्य द्वारा जहाँ भिन्नार्थ कल्पना किया जाता है, वहाँ श्लेष-वक्रोक्ति होती है।

जिस शब्द या पद के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसको श्लिष्ट शब्द या श्लिष्ट पद कहते हैं। श्लिष्ट शब्द या पद का कहीं भंग होकर और कहीं पूरे शब्द या पद का भिन्नार्थ किया जाता है।

पद-भंग श्लेष-वक्रोक्ति

अयि गौरवशालिनि ! माननि ! आज
सुधास्मित क्यों बरसाती नहीं ?
निज-कामिनि को प्रिय ! गौ*, अवशा†
अलिनी‡ न कभी कहि जाती कहीं।
यह कौशलता$ भवदीय प्रिये !
पर दर्भ-लता° न दिखाती यहीं,
मुद-दायक हों गिरिजा प्रिय से
यों विनोद में मोद बढ़ाती वहीं ॥१॥

श्री शंकर पार्वती के इस क्रीड़ालाप में 'गौरवशालिनि' सम्बोधन पद को पार्वतीजी ने—गौ, अवशा और अलिनी—इस प्रकार भंग करके श्लेष द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया है। अतः पद-भंग श्लेष वक्रोक्ति है।

---

* गाय। † किसी के वंश में न रहने वाली स्वतन्त्र। ‡ भौंरे की मादा। $ चातुर्य। ° डाभ की लता।

अभंग-पद श्लेष-वक्रोक्ति

ऐसी मति तव दारुणा कहु किहिं निर्मित कीन,
त्रिगुणा* मति कहिजातु पै दारुमई† कितही न ।।२।।

किसी निर्दयी मनुष्य से कहे हुए—'तेरी बुद्धि दारुणा (क्रूर) किसने बना दी'—इस वाक्य में 'दारुणा' पद का उस निर्दयी ने श्लेष द्वारा 'काठ से बनी' अन्यार्थ कल्पना करके उत्तर दिया है।

को तुम ? हैं घनस्याम हम तौ बरसौ कित जाय,
नहिं मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाँय ।।३।।

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए अपने नाम घनश्याम और मनमोहन पदों को मानवती राधिकाजी ने 'मेघ' और 'मनको मोहनेवाला' ये अन्यार्थ कल्पना किये हैं।

काकु-वक्रोक्ति

जहाँ 'काकु' उक्ति में अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है।

'काकु' एक विशेष प्रकार की कंठ-ध्वनि होती है।

"मंद-मंद मारुत बहैरी चहुँ ओरन तें,
मोरन के सोरन अपार छवि छायँगे।
चारों ओर चपला चमकै चित चोर लेत,
दादुर दरेरो देत आनँद बढ़ायँगे।

---

* सत्व, रज, तम गुणात्मक। † दारु नाम काठ का है दारु का तृतीया विभक्ति का रूप 'दारुणा' होता है।

वरषा विलोकि वीर! वरसे वधूटी वृन्द,
बोलत पपीहा पीव पीव मन भायँगे।
"वल्लभ" विचार हिय कहुरी सयानी आली!
ऐसे समै नाथ परदेस तें न आयँगे" ॥४॥

यहाँ नायिका के—'ऐसे समै नाथ परदेसतें न आयँगे'—इस वाक्य में नायक के आने का निषेध है किन्तु सखी द्वारा इसी वाक्य का काकु से अन्यार्थ यही कल्पना होगा कि 'नायक क्यों न आवेंगे—अवश्य आवेंगे'।

विष-सानेहू सहि सकैं दुसह सल्य नर-धीर,
पुनि न अकारन खलन के कटु वचनन की पीर ॥५॥

वक्ता ने कहा है कि 'धीर पुरुष विषाक्त शल्य (बाण) सहन कर सकते हैं पर खलों के कटु वाक्य नहीं सहन कर सकते'। इस वाक्य का अन्य द्वारा यह अन्यार्थ कल्पना किया गया है कि जब धीर पुरुष विषाक्त शल्य ही सहन कर सकते हैं, फिर दुर्जनों के कटु वाक्य क्यों नहीं सहन कर सकते? अर्थात् वे भी सहन कर सकते हैं।

काकु-वक्रोक्ति अलङ्कार वहीं होता है जहाँ किसी अन्य व्यक्ति द्वारा कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है। जहाँ अपनी ही उक्ति में काकु-उक्ति होती है वहाँ काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है न कि अलङ्कार। जैसे—

"अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख मांगि भव खाहिं,
सहज एकाकिन्ह के भवन कबहुंक नारि खटाहिं? ॥"६॥

पार्वतीजी के प्रति सप्तऋषियों ने 'कबहुँक नारि खटाहिं' स्वयं इस उक्ति में काकु उक्ति की है। इसके द्वारा वक्ता के कहते ही वाच्यार्थ स्वयं—'एकाकी के घर में नारी नहीं खटाती' इस विपरीत अर्थ में बदल जाता है—अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना नहीं किया जाता अतः यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं है।

(२) अनुप्रास अलङ्कार

वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं

'अनुप्रास' पद 'अनु' 'प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है बारम्बार, 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष और 'आस' का अर्थ है न्यास (रखना)। वर्णों का (रस-भाव आदि के अनुकूल) बारम्बार प्रकर्षता* से—पास पास में रक्खा जाना।

'वर्णों के साम्य' कहने का अभिप्राय यह है कि स्वरों की समानता न होने पर भी केवल वर्णों के साम्य में अनुप्रास हो सकता है। स्वर और वर्ण दोनों के साम्य में तो अधिक चमत्कार होने के कारण अनुप्रास होता ही है।

अनुप्रास के प्रधान दो भेद हैं—वर्णानुप्रास और शब्दानुप्रास। वर्णानुप्रास में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होती है और शब्दानुप्रास† में सार्थक वर्णों की आवृत्ति होती है। इनके भेद इस प्रकार हैं—

---

* 'प्रकर्षता' का अर्थ यहाँ वर्णों के प्रयोग में अन्तर न होकर—अव्यवधान (समीप में—पास-पास में) वर्णों की आवृत्ति होना है 'प्रकर्षश्चाव्यवधानेन न्यासः सएव च सहृदयहृदयानुरञ्जक'—उद्योत। 'प्रकृष्टेऽदूरान्तरितो न्यासोऽनुप्रासः' हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० २०६

† शब्दानुप्रास को लाटानुप्रास भी कहते हैं।
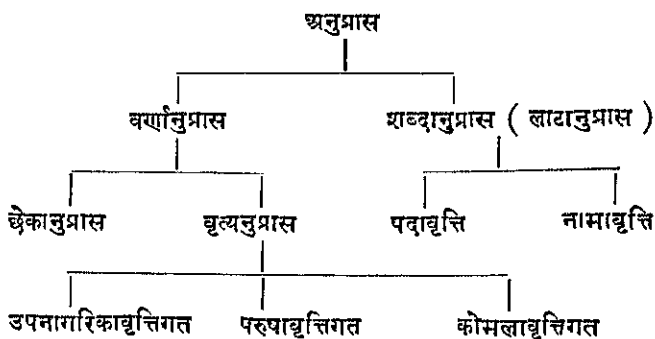
छेकानुप्रास

अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ है चतुर। चतुर जनों के प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं। 'रस सर' ऐसे प्रयोगों में छेकानुप्रास नहीं हो सकता—छेकानुप्रास में वर्णों का उसी क्रम से प्रयोग होना चाहिये, जैसे—'सर सर'*। उदाहरण—

> अरुन वरन रवि उदित ही चन्द मन्द-दुति कीन्ह,
> †काम-छाम-तरुनीन के गण्ड-पाण्डु-छवि लीन्ह ।७।।

'रुन रन' 'चन्द मन्द' और 'गण्ड पाण्डु' में दो दो वर्णों की एक बार समानता है।

> मन्द मन्द चलि अलिन को करत गन्ध मद-अन्ध,
> कावेरी-वारी-पवन पावन परम सुछन्द ।८।।

---

* 'स्वरूपतः क्रमतश्च' साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।३ वृत्ति।

† कामदेव की ताप से पीड़ित कामिनी जनों के कपोल की पीत कान्ति के समान।

यहाँ 'गन्ध' और 'अन्ध' में संयुक्त वर्ण 'न' और 'ध' की; 'कावेरी' और 'वारी' में असंयुक्त 'व' और 'र' की और 'पावन पवन' में 'प' 'व' 'न' की एक वार आवृत्ति है।

"नेम ब्रत संजम के पींजरै परै को जब
लाजकुल-कानि प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं,
कौन गुन गौरव को लंगर लगावै जब
सुधि बुधिही कौ भार टेक करि टारि चुकीं।
जोग-'रतनाकर' मैं सांस घूंटि बूडै कौन
ऊधौ! हम सूधौ यह वानक विचारि चुकीं,
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहाँ है जब,
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं।।"८।।

यहाँ चतुर्थ चरण में 'मुक्ति-मुकता' में 'म' और 'क' की, 'मोल माला' में 'म' और 'ल' की और 'मन मानिक' में 'म' और 'न' की आवृत्ति है।

एक वर्ण के एक वार सादृश्य में छेकानुप्रास नहीं होता है*। काव्य प्रकाश की 'प्रदीप'† और 'उद्योत' व्याख्या में एवं साहित्यदर्पण‡ में एक वर्ण के एक वार सादृश्य में वृत्यनुप्रास माना गया है। भारतीभूषण में जो एक वर्ण के एक वार सादृश्य में 'छेकानुप्रास' माना है, वह शास्त्र-सम्मत नहीं।

---

* 'अनेकस्मिन्निति वचनाच्च असकृदेवंविधरूपोपनिबन्धे सति छेकानुप्रासता नतु सकृदिति मन्तव्यम्'—उद्भटाचार्य काव्यालङ्कार सार-संग्रह वृत्ति पृ० ४ बोम्बे सीरीज।

† देखिये प्रदीप पृ० ४०६ आनन्दाश्रम संस्करण।

‡ साहित्यदर्पण में वृत्यनुप्रास के लक्षण में लिखा है 'एकस्यसकृदपि'

वृत्यनुप्रास

वृत्ति-गत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की अधिक वार आवृत्ति किये जाने को वृत्यनुप्रास कहते हैं।

वृत्ति—

भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रयोग करने का नियम है। ऐसे नियम-बद्ध वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदि ने इन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली के नाम से लिखा है।

उपनागरिका वृत्ति—

माधुर्य गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों की रचना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

उपनागरिका वृत्ति में ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर मधुर एवं अनुस्वार सहित और समास रहित अथवा छोटे समास की रचना होती है।*

नव बौर रसाल रसाल रसाल† पलास विकास दिखाने लगे,
कल कूजित कोकिल मत्त दिगन्त मनोज का ओज बताने लगे,
मकरन्द-प्रलुब्ध मिलिन्द तथा मद-मंजुल गुंज सुनाने लगे,
अब हन्त वसन्त के वासर ये विरही जन ताप बढ़ाने लगे ॥६॥

यहाँ माधुर्य गुण-व्यंजक म, क, न और व वर्णों की अनेक वार आवृत्ति है और छोटे समास हैं।

---

* माधुर्य गुण का अधिक विवेचन प्रथम भाग के छठे स्तनक में किया जा चुका है।

† प्रत्येक आम्र के वृक्ष की रसपूर्ण मंजरी।

मीन-मद-गंजन मान भंजन हैं खंजन त्यों,
चंचल अनन्त हैं निकाई के दौना द्वै;
अंजन सुहातु हैं कुरंग हू लजातु चित्त—
रंजन दिखातु हैं अनङ्ग के खिलौना द्वै।
भूपित हैं सलौना जुग टौना से बीच मांहि,
स्याम रङ्ग विंदु त्यों गुलाबी रङ्ग कौना द्वै;
मेरे जान आनन-सरोज-पाँखुरी हैं दृग,
खेलत तहाँ हैं मंजु मानों भृङ्ग छौना द्वै ॥१०॥

यहाँ म, न, ज, आदि वर्णों की अनेक वार आवृत्ति है।

"रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन,
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजन गंजनु नैन॥"११॥

यहाँ ज और न की अनेक वार आवृत्ति है।

एक वर्ण की आवृत्ति में उपनागरिकावृत्ति-गत वृत्यनुप्रास—

चन्दन चन्दक चांदनी चन्दसाल नव वाल,
नित ही चित चाहतु चतुर ये निदाघ के काल॥१२॥

यहाँ 'च' वर्ण की अनेक वार आवृत्ति है।

परुषा वृत्ति—

'ओज' गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों की रचना को परुषावृत्ति कहते हैं।

इसमें ट, ठ, ड, ढ वर्णों की अधिकता रेफ सहित संयुक्ताक्षर और द्वित्व वर्णों की कठोर रचना होती है*।

---

* ओजगुण का अधिक विवेचन प्रथम भाग के छठे स्तवक में किया गया है।

"हननाहट भौ घनघोरन को ठननाहट कातर मत्थ ठयो,
छननाछट श्रौनन बान छुवै फननाहट तोपन भूरि भयो।
कटि लुत्थन पै कति लुत्थ परीं वदि बुत्थन बुत्थन बात बढ़े,
अनयास चढ़े गिरि व्यूढन पै हट रूढ सुव्यूढ प्रयास चढ़े।"१३

यहाँ कर्णार्जुन युद्ध के वर्णन में न, ह, ट, त्थ वर्णों की अनेक बार आवृत्ति और ट वर्ग की अधिकता वाली कठोर रचना है।

"चिग्घत दिग्गज दिग्ध सिग्ध शुभ्र चाल चलत दल,
कच्छ अच्छ खल मलत सफल उच्छलत जलधि जल,
टुट्टत वन फुट्टत पतार फट्टत फनिंद फन,
छुट्टत गढ़ जुट्टत गयंद हुट्टत नरिंद वन,
गंध्रबनृपति गल-गज्जि इमि धुनि निसान लज्जित गगनु।
अति त्रसित सुरासुर नर सकल सुक्रुद्धित रुद्र जुंगत जनु।।"१४।।

यहाँ भी ओजगुण व्यंजन द्वित्व वर्णों वाली कठोर रचना है।

"तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं किहिं बाट,
विकट जुटे जौ लगि निपट खुटै न कपट कपाट"।।१५।।

यहाँ उत्तरार्ध में ओजगुण-व्यंजक टकार की अनेक बार आवृत्ति है।

कोमलावृत्ति—

माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त शेष वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति कहते हैं।

"फल-फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी,
मुनि-बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटनी की लहरें और तालियाँ मेरी,
क्रीड़ा-सामिग्री बनी स्वयं निज छाया।
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।।"१६।।

यहाँ प्रायः माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रचना है। ल, य, र, आदि की कई वार आवृत्ति है।

"ख्याल ही की खोल में अखिल ख्याल खेल खेल
गाफिल है भूल्यो दुख दोष की खुसाली तैं,
लाख लाख भांति अवलाखि लखे लाख
अरु अलख लख्यो न लखी लालन की लाली तैं।
प्रभु प्रभु 'देव' प्रभु सों न पल पाली प्रीति
दै दै करताली ना रिझायो वनमाली तैं,
झूठी झिलमिल की झलक ही में भूल्यो जल-
मल की पखाल खल! खाली खाल पाली तैं।"१७॥

यहाँ प्रायः माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों की अधिकता है और ख, ल, प, अ, आदि वर्णों की कई वार आवृत्ति है।

लाटानुप्रास

शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति में तात्पर्य की भिन्नता होने को लाटानुप्रास कहते हैं।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति होती है। केवल तात्पर्य (अन्वय) में भिन्नता रहती है। इसमें शब्द या पदों की आवृत्ति होने के कारण इसकी शब्दानुप्रास या पदानुप्रास संज्ञा है। यह पाँच प्रकार का होता है—

(क) पद की आवृत्ति—

१—बहुत से पदों की अर्थात् वाक्य की आवृत्ति।

२—एक ही पद की आवृत्ति।

(क) 'नाम' अर्थात् विभक्ति रहित प्रतिपादक की आवृत्ति—

१—एक समास† में आवृत्ति।

२—भिन्न समास में आवृत्ति।

३—समास और विना समास में आवृत्ति।

'यमक' अलङ्कार में भी ऐसे ही शब्द या पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है।

बहुत पदों की आवृत्ति—

वे घर हैं वन ही सदा जो है बंधु-वियोग,
वे घर हैं वन ही सदा जो नहिं बंधु-वियोग ॥१८॥

पूर्वार्द्ध में जो पद हैं वे ही उत्तरार्ध में हैं। उनका दोनों ही स्थान पर एक ही अर्थ है—केवल तात्पर्य भिन्न है। पूर्वार्द्ध में बन्धुजनों के वियोग होने पर घर को वन और उत्तरार्द्ध में बन्धुजनों के समीप रहने पर वन को ही घर कहा गया है।

"सूत-सिरताज‡! मद्रराज$! हय साज आज,
अस्त्रन समाज के इलाज को करैया मैं।

---

* विभक्तिहीन शब्द को 'नाम' कहते हैं। जैसे—वृक्ष, गिरि, पशु आदि। इन शब्दों में विभक्ति का योग नहीं है। जिसके विभक्ति अन्त में होती है उसे 'पद' कहते हैं। जैसे—वृक्ष का, वृक्ष से। बहुत से पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

† जब दो या दो से अधिक पद मिल कर उनके अन्त में विभक्ति रहती है उसे समास कहते हैं।

‡ सारथियों में शिरोमणि।

$ मद्र देश का राजा शल्य।

गेरें गजराजी* गजराज सम गाज गाज,
गदावाज-गाज† के इलाज को करैया मैं।
वैनतेय‡ आज काद्रवेय से अरीन काज,
पत्थ रूप बाज§ के इलाज को करैया मैं।
धर्मराज-राज के इलाज को करैया कुरु—
राज-हित राज के इलाज को करैया मैं।"१६॥

भारत-युद्ध में अपने सारथी शल्य के प्रति कर्ण के इन वाक्यों में 'इलाज को करैया मैं' इस वाक्य की, जिसमें शब्द और अर्थ भिन्न नहीं है, आवृत्ति है। अन्वय (सम्बन्ध) पृथक-पृथक होने के कारण तात्पर्य मात्र में भिन्नता है।

एक पद की आवृत्ति—

कमलनयन! आनँद-दयन! दरन सरन-जन-पीर,
करि करुना करुनायतन! नाथ! हरहु भव भीर ॥२०॥

यहाँ एकार्थक 'करुणा' पद की आवृत्ति है। पहिले 'करुणा' का 'करि' के साथ और दूसरे 'करुणा' का 'आयतन' के साथ सम्बन्ध है।

नाम आवृत्ति—

सितकर-कर-छबि-यस-विभा विभाकरन सम भूप।
पौरुष-कमला कमला है तब निकट अनूप° ॥२१॥

यहाँ 'सितकर कर' समास में 'कर' शब्द की आवृत्ति है। और 'विभा विभाकर' भिन्न भिन्न समासों में 'विभा' शब्द की आवृत्ति है।

---

* हाथियों की पंक्ति। † गदा से लड़ने वाले भीमसेन की गर्जना। ‡ शत्रु रूप सर्पों के लिए गरुड़ रूप। § अर्जुन रूप बाज पक्षी। ° राजा के प्रति किसी कवि की उक्ति है—हे विभाकरन सम = सूर्य के समान! तेरे यश की कान्ति सितकर-कर = चंद्रमा के किरणों के समान उज्वल है। पौरुष-कमला = पराक्रम रूप लक्ष्मी और कमला = लक्ष्मीजी तेरे निकट रहती हैं।

और एक 'कमला' समास में और दूसरा 'कमला' बिना समास में है। अतः समास और समास रहित 'कमला' शब्द की आवृत्ति है। 'कर', 'विभा' और 'कमला' विभक्ति हीन हैं, अतः 'नाम' की आवृत्ति है। नामावृत्ति भेद के उदाहरण प्रायः संस्कृत पद्यों में ही देखे जाते हैं।

साहित्यदर्पण के अनुसार अनुप्रास के श्रुति अनुप्रास और अंत्यानुप्रास भेद और हैं। ये दोनों भेद पूर्वोक्त भेदों के अन्तर्गत ही हैं। क्योंकि दन्त, तालु और कंठ आदि एक विशेष स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों की आवृत्ति में श्रुति अनुप्रास माना गया है। पर जब अनुप्रास में वर्णों की आवृत्ति का ग्रहण है तब वह चाहे एक स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों की आवृत्ति हो अथवा भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों की आवृति हो, कुछ विशेषता नहीं। और पद के अन्त में अथवा पाद के अन्त में स्वर सहित पदों की आवृत्ति में 'अंत्यानुप्रास' माना गया है—

"नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली! अनत आये बनमाली न" ॥२२॥

यहाँ लाली, चाली, काली, और पाली आदि पदों के अन्त में 'ली' वर्ण की 'ई' स्वर सहित आवृत्ति है। पादान्त में तो व्रजभाषा के सभी छन्दों में स्वर सहित वर्णों की आवृत्ति रहती है। किन्तु जब वर्णानुप्रास में स्वर सहित वर्णों की आवृत्ति का भी ग्रहण है, फिर इसे भी पृथक् भेद मानना युक्ति संगत नहीं।

---

(३) यमक अलङ्कार

निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं।

'यमक' में स्वर सहित निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति होती है*। यमक में वर्णों का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—

(१) सर्वत्र अर्थात् जितनी बार आवृत्ति हो वह निरर्थक वर्णोंकी हो।

(२) एक बार निरर्थक वर्णों की और दूसरी बार सार्थक (अर्थ वाले) वर्णोंकी आवृत्ति हो।

(३) सर्वत्र सार्थक (अर्थ वाले) वर्णों की आवृत्ति हो। जहाँ सार्थक वर्णों की आवृत्ति में यमक होता है वहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्णों की आवृत्ति होती है, न कि एकार्थक वर्णों की।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वनाकुला स्फुट पराग परागत पंकजा।
मृदु लतासुलतासुमना घना ससुरभी सुरभी मनभावना† ॥२३॥

इस पद्य में तीनों प्रकार के वर्णों का प्रयोग है। तीसरे चरण में 'लतासु' दो बार है, अतः 'लतासु' का यमक है। 'लतासु' पद दोनों ही स्थानों पर खंडित होने के कारण निरर्थक है। प्रथम 'लतासु' का 'लता' मृदुलता में है और 'सु' 'सु लता' में है। दूसरी बार के 'लतासु' में

---

* यमक के सम्बन्ध में जहाँ-जहाँ 'आवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ इसके साथ पुनः श्रवण भी समझना चाहिये।

† यह वसन्त वर्णन है। नवीन पलाश (पत्तों) वाले पलाश (ढाक) के वनों से व्याप्त, बढ़े हुए पराग (पुष्प-रज) से परागत (युक्त), कमलों से और सुमनाघना (घने पुष्पों वाली) मृदुलताओं से सुशोभित ससुरभी (सुगन्ध युक्त) यह सुरभी (वसन्त) ऋतु मन भावन है।

'लता' पद पृथक् है और 'सु' 'सुमना' में है। अतः दोनों 'लतासु' का कोई अर्थ नहीं है। दूसरे चरण में 'पराग' का यमक है। पहिला 'पराग' सार्थक है दूसरी बार का 'पराग' निरर्थक है क्योंकि यह खंडित पद है—पूरा पद 'परागत' है। प्रथम चरण में 'पलाश' का यमक है। 'पलाश' पद दोनों स्थानों पर सार्थक है और अर्थ भिन्नभिन्न हैं—प्रथम 'पलाश' का अर्थ पत्ते और दूसरे 'पलाश' का अर्थ ढाक के वृक्ष।

लक्षण में 'क्रमशः' इसलिए कहा गया है कि यमक में वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिये, जैसे—'सर सर'। 'सर रस' में यमक नहीं हो सकता क्योंकि वर्णों की आवृत्ति क्रमशः नहीं है।

'यमक' और 'चित्र' अलङ्कार में 'ड' और 'ल', तथा 'व' और 'ब' एवं 'ल' और 'र' वर्ण अभिन्न समझे जाते हैं। जैसे—'भुजलतां जडता-मबलाजनः' इसमें एक बार 'जलतां' और दूसरी बार 'जडतां' का प्रयोग है। इनकी ध्वनि एक समान सुनी जाती है। इसलिए लक्षण में 'पुनः श्रवण' कहा गया है अर्थात् वर्णों की आवृत्ति के सिवा जहाँ आवृत्ति न होकर वर्णों का समान श्रवण होता है वहाँ भी यमक होता है।

यमक 'पादावृत्ति'* और 'भागावृत्ति'† दो प्रकार का होता है और इनके अनेक उपभेद होते हैं।

---

* छन्द के चौथे विभाग को पाद कहते हैं। ऐसे पूरे पाद की आवृत्ति को पादावृत्ति कहते हैं।

† पाद के आधे विभाग की अथवा तीसरे या चौथे विभाग की या इससे भी छोटे विभाग की आवृत्ति को 'भागावृत्ति' या यमक कहते हैं।

(क) छन्द के एक पाद की आवृत्ति के दश भेद होते हैं इनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) 'मुख'। प्रथम पाद की आवृत्ति दूसरे पाद में हो।

(२) 'संदंश'। प्रथम पाद की आवृत्ति तीसरे पाद में हो।

इनके कुछ उदाहरण—

अर्द्धपाद आवृत्ति संदष्टक यमक—

मधुप-गुंज मनोहर गान है, सुमन रंजन दंत समान है।

---

(३) 'आवृत्ति'। प्रथम पाद की आवृत्ति चौथे पाद में हो।

(४) 'गर्भ'। दूसरे पाद की आवृत्ति तीसरे पाद में हो।

(५) 'संदष्टक'। दूसरे पाद की आवृत्ति चौथे पाद में हो।

(६) 'पुच्छ'। तीसरे पाद की आवृत्ति चौथे पाद में हो।

(७) 'पंक्ति'। प्रथम पाद की आवृत्ति तीनों पादों में हो।

(८) 'युग्मक'। प्रथम पाद की दूसरे पाद में और तीसरे पाद की चौथे पाद में आवृत्ति हो।

(९) 'परिवृत्ति'। प्रथम पाद की चौथे पाद में और दूसरे पाद की तीसरे पाद में आवृत्ति हो।

(१०) 'समुद्गक'। प्रथम और दूसरे दोनों पादों की तीसरे और चौथे दोनों पादों में आवृत्ति हो।

(ख) पाद के आधे भाग के अर्थात् छन्द के आठवें हिस्से की आवृत्ति के २० भेद होते हैं। जिनमें पादों के प्रथम अर्द्धों की प्रथम अर्द्धों में आवृत्ति के दश और अन्त के अर्द्धों की अन्त के अर्द्धों में आवृत्ति के दश भेद होते हैं। ऊपर पूरे पाद की आवृत्ति के जो नाम कहे गये हैं उसी क्रम से इनके नाम भी हैं।

(ग) इसी प्रकार पाद के तिहाई भाग अर्थात् छन्द के बारहवें हिस्से की आवृत्ति के ३० और पाद के चौथाई भाग (छन्द के सोलहवें हिस्से) की आवृत्ति के ४० भेद होते हैं।

(घ) एक सारे छन्द में सारे छन्द की आवृत्ति को 'महायमक' कहते हैं और प्रथम पादादि के अन्त के आधे भाग की दूसरे पादादि

वन-लता-पवनाहत-पात ये सुमन रंजन हैं करताल वे* ॥२४॥

दूसरे पाद के प्रथमार्द्ध—'सुमन रंजन' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

अर्द्ध भागावृत्ति पुच्छ यमक—

स्फुट सरोज युता गृह-वापिका जल विहंग-रवाकुल हो महा,
सरसनादवती मनभावनी सरसना युवती स्मित सी बनी†॥२५॥

तीसरे पाद के प्रथमार्द्ध—'सरसना' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

"वर जीते सर-मैन‡ के ऐसे देखे मैं न,
हरिनी के§ नैनानतें हरि! नीके° यह नैन" ॥२६॥

के आदि के आधे भाग में आवृत्ति होने से 'अन्तादिक' आदि तथा एक ही प्रथम पाद में आदि के भाग की मध्य में अथवा बिना नियम के आवृत्ति हो, दूसरे तीसरे पाद में भी इसी प्रकार हो इत्यादि के 'आदि-मध्य' 'आदिअन्त' और 'मध्यान्तक' नाम होते हैं। निदान यमकालङ्कार के असंख्य भेद होते हैं।

* वसन्त वर्णन है। भौरों की गूँज ही गान है, सुमन-रञ्जन (सुन्दर पुष्प) ही गान के समय की दन्तावली है। बन लताओं के पत्तों का वायु द्वारा संचालन है वही गायक के हाथों की सुमनरञ्जन (मनोहर) ताल हैं। † यह भी वसन्त का वर्णन है। वसन्त में खिले हुए कमलों से युक्त, और जल-पक्षियों के मृदु-मधुर शब्दों से व्याप्त घर में बनी हुई बावड़ी, सरस-नादवती (मधुर शब्दों वाली) सरसना (कटि-भूषण कौंधनी पहिने हुए) मन्द हास्य युक्त कामिनी के समान शोभित हो रही है। ‡ काम के बाण। § मृगी के। ° हे हरि! उसके नेत्र नीके हैं।

यहाँ भी तीसरे पाद के प्रथमार्द्ध 'हरिनीके' की चौथे पाद के प्रथमार्द्ध में आवृत्ति है।

अर्द्ध-भागावृत्ति 'युग्मक' यमक—

*सुमन चारु यही न अशोक के सुमन-चाप-प्रदीपक हैं नये,
मधु-सुशोभित बौर रसाल भी न मद-कारक हैं न रसाल ही॥२७॥

प्रथम पाद के 'सुमनचा' की दूसरे पाद में और तीसरे पाद के 'रसाल' की चौथे पाद में आवृत्ति है।

अर्द्ध-पादावृत्ति 'आद्यन्त समुच्चय' यमक—

जलजातहु जु लजात चख छबि झख छिपि जलजात,
जलजात सु लखि सबतनहि सवतन ही जलजात† ॥२८॥

प्रथम पाद के 'जलजात' पाद की दूसरे पाद में, तीसरे पाद में और चौथे पाद में आवृत्ति है। तथा तीसरे पाद के 'सवतनही' की चौथे पाद में आवृत्ति है। इस प्रकार के यमक की समुच्चय संज्ञा है।

पाद के तीसरे भाग की आवृत्ति 'पंक्ति' यमक—

---

* केवल अशोक के सुमन चारु (सुन्दर फूल) ही सुमनचाप (कामदेव) को उद्दीपन नहीं करते हैं किन्तु वसन्त ऋतु में रसाल (आम्र) के रसाल (रसपूर्ण) बौर भी मद-कारक न होते हों सो नहीं।

† यह किसी नायिका का वर्णन है। इसके चख (नेत्रों) की छबि से जलजात(कमल) लजाते हैं, तथा झख (मीन) छिपि जलजात (जल में छिप जाते) हैं और जब यह जल जात (जल भरने को जाती) है तब इसके लखि सबतनहि (सारे शरीर की शोभा को देख कर) सवतन ही (सौतों का हृदय) जल जाता है।

मधु-विकासित हो नलिनी घनी मधुर-गंधित पुष्पकरिणी बनी,
मधु-पराग-विलोभित हो महा मधु-पराग भरे स्थित हैं वहाँ* ॥२६॥

प्रथम पाद के आदि भाग के तिहाई भाग 'मधु' की तीनों पादों के आदि भाग में आवृत्ति है।

भागावृत्ति आदिमध्य यमक—

सुमुखि के मुख के मद से बढ़े सम सुगंधित पुष्प समूह ने,
मधुप-पुंज बुला मधु-लालची वकुलआ कुलआ उनने करी† ॥३०॥

पाद के चौथाई भाग के दूसरे खंड 'कुलआ' की तीसरे खंड में आवृत्ति है।

दिवि-रमनी रमनीय कित है रति रति सम ही न,
हरि वनिता बनिताहि छिन मनमथ-मथ बस कीन‡ ॥३१॥

---

* मधु (वसन्त) में पुष्करिणी (छोटी छोटी तलइयां) कमलनियों के मधुर गन्ध से सुगन्धित हो रही हैं और उनके मधु-लोभ के कारण आये हुए प्रमत्त भौंरे वहाँ उन पर बैठे हुए शोभित हैं।

† सुमुखि (सुन्दर मुखवाली तरुणी) के मुख की मदिरा के कुल्ले से बढ़े हुए पुष्प-समूह ने मधु के लोभी मधुप-पुञ्ज (भौंरों के समूह) को बुला लिया। उन्होंने आकर वकुल (मोरछली के वृक्ष) को आकुल (व्याप्त) कर लिया है।

‡ भगवान् विष्णु द्वारा महादेवजी को मोहिनीरूप दिखाने का वर्णन है। हरि (विष्णु) ने वनिता (स्त्री) का ऐसा रूप धारण करके कि जिसकी तुलना में दिविरमणी (अप्सरा) भी कोई वस्तु नहीं और रति (काम की स्त्री) भी रत्ती भर भी सम नहीं, मन्मथमथ (कामदेव को जीतने वाले महादेवजी) को अपने बस में कर लिया।

'रमनी' 'रति' और 'मथ' की उन्हीं पादों के तीसरे भागों में आवृत्ति है।

"लै चुभकी चलि जात जित जित जल-केलि अधीर,
कीजतु केसरि-नीर से तिति तिति के सरि नीर* ॥३२॥

तीसरे पाद के 'केसरिनीर' की चौथे पाद में आवृत्ति है। अग्निपुराण के अनुसार यमक के दो भेद हैं 'अव्यपेत' और 'सव्यपेत'—

"यमकं अव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद्द्विधा,
आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेतं व्यवधानतः॥"

'अव्यपेत' का अर्थ है व्यवधान (अंतर) का न होना। अर्थात् जिन पदों या वर्णों की आवृत्ति होती है उन वर्णों का या पदों का एक दूसरे के समीप होना। जैसे, ऊपर के दोहे में 'रमणी रमणी' आदि पदों का यमक है। दोनों 'रमणी' पद निकट हैं—इनके मध्य में कोई और वर्ण नहीं है, इस प्रकार के संनिकट पदों के यमक को अव्यपेत कहते हैं। और 'सव्यपेत' का अर्थ है पदों के बीच में व्यवधान (अंतर) होना अर्थात् जिन पदों या वर्णों की आवृत्ति होती है उन पदों या वर्णों का एक दूसरे के समीप न होना। जैसे ऊपर के 'मधु विकासित हो नलिनी'...... ......' में 'मधु' शब्द का यमक है। 'मधु' पद चारों पादों के आदि में है—उनके मध्य में अन्य पद है अतः यहाँ स-व्यपेत यमक है। इन दोनों भेदों का उल्लेख काव्यादर्श और सरस्वतीकंठाभरण में भी है। 'कविप्रिया' में केशवदासजी ने भी इन्हें लिखा है। कविप्रिया के टीकाकारों ने 'अव्यपेत' और 'स-व्यपेत' का अर्थ न समझ कर 'य' और 'प' के लिपि भ्रम के कारण इन भेदों को अव्ययेत और संव्ययेत

---

*नायका का जल-विहार वर्णन है कि जहाँ-जहाँ वह (रमणी) जल में चुभकी लगाती है वहाँ-वहाँ 'केसरि-नीर' (नदी के पानी) 'केसरिनीर' अर्थात् केसर के रंग के हो जाते हैं।

के नाम से लिख दिये हैं* । रीति ग्रन्थों के कुछ आधुनिक प्रणेताओं ने भी उसी का अन्धानुसरण किया है† ।

(४) श्लेष अलङ्कार ।

श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किये जाने को श्लेष कहते हैं ।

श्लेष शब्द श्लिष धातु से बना है । श्लिष्ट का अर्थ है चिपकना या मिलना । श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे रहते हैं, अतः जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसे श्लिष्ट शब्द कहते हैं । श्लिष्ट शब्द दो प्रकार के होते हैं—सभंग और अभंग । जिस पूरे शब्द के दो अर्थ होते हैं वह अभंग श्लिष्ट शब्द कहा जाता है । ऐसे शब्दों के प्रयोग द्वारा अभंग श्लेष होता है । जिस पूरे शब्द का अर्थ और होता है और शब्द के भंग (खंडित) करने पर दूसरा अर्थ होता है वह सभंग-श्लिष्ट शब्द कहा जाता है । ऐसे शब्दों के प्रयोग में सभंग श्लेष होता है ।

अभंग और सभंग श्लेषों में जहाँ दोनों अर्थों में (या जब दो से अधिक अर्थ हों उन सभी अर्थों में) प्रकृत‡ का वर्णन किया जाता है

---

*देखिये ला० भगवानदीनजी के प्रियाप्रकाश की टीका पृ० ३७२

†देखिये पं० रामशंकर शुक्ल का अलंकार पीयूष पृ० २२७ आश्चर्य है कि शुक्लजी ने अपने ग्रंथ के सहायक ग्रंथों में काव्यादर्श का भी नाम उल्लेख किया है ! फिर भी अव्ययेत और सव्ययेत लिखा है और अव्यपेत को अभंग और सव्यपेत को सभंग मान लिया है । जब कि यमक के इन भेदों का अभंग और सभंग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।

‡जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभीष्ट होता है उसे

वहाँ प्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है। जहाँ सभी अर्थों में अप्रकृत* का वर्णन किया जाता है वहाँ अप्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है और जहाँ एक अर्थ में प्रकृत का वर्णन और दूसरे अर्थ में (या जहाँ एक से अधिक अर्थ हों वहाँ उन सभी में) अप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष कहा जाता है। श्लेष में विशेषण पद तो सर्वत्र श्लिष्ट होते हैं किन्तु विशेष्य† पद कहीं श्लिष्ट और कहीं श्लिष्ट नहीं होते हैं। और कहीं विशेषण‡ और विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट होते हैं। श्लेष के भेद इस प्रकार हैं—
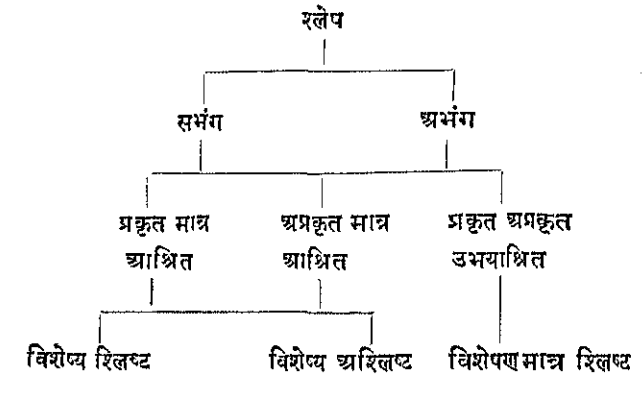
प्रकृत या प्रस्तुत या प्राकरणिक अर्थ कहते हैं। प्रकृत या प्रस्तुत आदि का प्रयोग प्रायः उपमेय के लिये किया जाता है।

*जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्रकृत या अप्रस्तुत आदि का प्रयोग प्रायः उपमान के लिए किया जाता है।

†विशेष्य उसे कहते हैं जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति का बोध होता है। जैसे घर, मनुष्य आदि।

‡विशेषण उसे कहते हैं जिसके द्वारा विशेष्य के गुण या अवस्था

इसके अनुसार 'प्रकृत मात्र-आश्रित' और 'अप्रकृत मात्र-आश्रित' श्लेष में विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत (अनिवार्य) नहीं अर्थात् कहीं विशेष्य श्लिष्ट होता है और कहीं विशेष्य श्लिष्ट न होकर केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। किन्तु प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य श्लिष्ट नहीं हो सकता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। क्योंकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट होते हैं वहाँ शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि होती है न कि 'श्लेष' अलङ्कार। इसके अतिरिक्त प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेषण मात्र की श्लिष्टता में प्रकृत और अप्रकृत (या प्रस्तुत अप्रस्तुत) दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होना आवश्यक है। क्योंकि जहाँ केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है न कि श्लेष। 'समासोक्ति' और 'श्लेष' में यही भेद है।

प्रकृत-मात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य सभङ्ग-श्लेष।

*है पूतनामारण में सुदक्ष, जघन्य काकोदर था विपक्ष,
की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ॥२३॥

यहाँ राम और श्रीकृष्ण दोनों की स्तुति कवि को अभीष्ट होने के कारण दोनों ही प्रस्तुत हैं अतः प्रकृत-मात्र आश्रित है। 'पूतनामारण' और 'काकोदर' पदों का भङ्ग होकर दो अर्थ होते हैं अतः सभङ्ग है।

का प्रकाश होता है। विशेषण प्रायः विशेष्य पद के पूर्व रहता है। जैसे—नया घर, गुणवान मनुष्य में 'नया' और 'गुणवान' विशेषण है।

* श्री राम पक्ष में अर्थ—पूत-नामा पवित्र नाम है, रण में सुदक्ष हैं काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त विपक्षी) की भी रक्षा करने वाले हैं। श्री कृष्ण-पक्ष में अर्थ—पूतना-मारण=पूतना राक्षसी को मारने में चतुर, काकोदर=कालीय सर्प, जो विपक्षी था उसकी भी रक्षा करने वाले।

'प्रभु' पद विशेष्य श्लिष्ट है। इसके श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों अर्थ हो सकते हैं।

प्रकृत-मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य सभङ्ग श्लेष।

"नांही नांही करैं थोरे मांगें बहु देन कहैं
मंगन को देखि पट* देत बार बार हैं,
जाको मुख देखें भली प्रापति की घटी† होत
सदा सुभजनमन‡ भाये निरधार हैं,
भोगी¶ ह्वै रहत विलसत अवनी के मध्य
कनकन§ जोरै दान पाठ परवार हैं,
'सेनापति' बैननि की रचना विचारो जामें
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं" ॥३४॥

यहाँ दाता और सूम दोनों का वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः दोनों प्रस्तुत होने से प्रकृत-मात्र आश्रित है। 'सुभजनम' और 'कनकन' आदि पदों का भंग होकर दो अर्थ होते हैं अतः 'सभङ्ग' है। दाता और सूम दोनों विशेष्य पद पृथक् पृथक् शब्द द्वारा कहे गये हैं अतः विशेष्य श्लिष्ट नहीं है।

वारुनि के संजोग सों§ अतुल राग‖ प्रकटातु,
बढ़तजात स्मर वेग अरु दिनमनि अस्त लखातु ॥३५॥

---

* दातापक्ष में वस्त्र-दान सूमपक्ष में घर का दरवाजा बन्द कर देना। † दाता-पक्ष में घटी—समय, सूम-पक्ष में घटी—कमी। ‡ दाता पक्ष में सुन्दर भजन में मन रहना, सूम-पक्ष में शुभ जन्म नहीं। ¶ दाता पक्ष में भोगों को भोगने वाला, सूमपक्ष में मर कर धन पर सर्प होने वाला। § दाता पक्ष में सुवर्ण का न जोड़ना, सूमपक्ष में अन्न के कन-कन (दाना-दाना) जोड़कर रखना। § कामदेव के पक्ष में मदिरा का पान और सूर्य के पक्ष में वारुणी (पश्चिम दिशा)। ‖कामदेव के पक्ष में अत्यन्त अनुराग और सूर्य के पक्ष में अरुणता।

यहाँ कामदेव और सूर्य दोनों प्रस्तुतों का वर्णन है। विशेष्य-पद 'स्मर' और 'दिनमनि' दोनों पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कहे गये हैं।

अप्रकृत मात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य सभंगश्लेष का उदाहरण—

सोहतु हरि-कर संग सों अतुल राग दिखराय,*
तो मुख आगे अलि तऊ कमलाभा छिपजाय ॥३६॥

यहाँ मुख के उपमान कहे जाने के कारण कमला (लक्ष्मी) और कमल दोनों अप्रस्तुत हैं। विशेष्य पद 'कमलाभा' श्लिष्ट है इसका 'कमलाभा' और 'कमल-आभा' इस प्रकार भंग होकर दो अर्थ होते हैं। और इसी दोहे को—

हरि-कर सों रमनीय अति अतुल राग जुत सोहि,
कमलरु कमला विगत छवि तो मुख आगे होहि ॥३७॥

इस प्रकार कर देने पर कमल और कमला दोनों विशेष्य पदों का पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कथन होजाने के कारण अश्लिष्ट विशेष्य का उदाहरण होजाता है।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित सभंग श्लेष।

†"लखमन ही सङ्ग लिये जीवन विहार किये
सीत हिये बसै कहौ तासों अभिराम को,

---

*श्री राधिकाजी के प्रति सखी की उक्ति है। आपकी मुख शोभा के आगे हरि (विष्णु) के हाथों के स्पर्श से अतुलराग (अनुराग) प्राप्त कमला (लक्ष्मी) की भा (कांति) छिप जाती है। अथवा हरि (सूर्य) के कर (किरण) के स्पर्श से अधिक राग (रक्त) होने वाली कमल की आभा (कांति) छिप जाती है।

† इसके तीन अर्थ हैं। (क) कमल-पक्ष—लखमन (लाखों मीनों)

नव दल शोभा जाकी विकसै सुमित्रालखि
कोसलै बसत हिय कोऊ धाम ठाम को।
कवि "मतिराम" शोभा देखिये अधिक नित
सरस निधान कवि-कोविद के काम को,
कीन्हों है कवित्त एक तामरसही को यासों
राम को कहत कै कहत कोऊ बाम को।।"३८।।

इसमें श्रीराम, कमल और कामिनी तीनों का वर्णन है। कमल का प्रधानता से वर्णन किया जाने के कारण यहाँ कमल का वर्णन प्रस्तुत और श्रीराम और कामिनी का अप्रस्तुत है। अतः प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित है। और 'राम' आदि तीनों विशेष्य भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा

के साथ वन (जल) में रहती है, सील-हिये (सीतल हृदय वाला) है। नवदल (नवीन पंखड़ियों) से शोभित है, सु-मित्र (सूर्य) को देख कर प्रफुल्लित होता है। कौशले—किशलय (कोमल पत्तों से) युक्त है सरसता का स्थान है। कवि और पण्डितों के वर्णन करने योग्य है। (ख) श्री राम-पक्ष—लक्ष्मणजी के साथ वन में विहार किया है। सीताजी के हृदय में बसते हैं। उनसे सुन्दर अन्य कौन है ? नवदल शोभा (नवीन कमल-दल समान कोमल) हैं। सुमित्राजी देखकर आनन्दित होती हैं, कौशल्याजी के हृदय में बसते हैं, सर-संनिधान (बाणों का सन्धान) कवियों के काम का है अर्थात् रावण-बध कवियों द्वारा वर्णन किया गया है। बाण-वाचक 'शर' में तालव्य शकार है पर भाषा में 'श' के स्थान में 'स' हो जाता है। 'रसषाणां सः' प्राकृत व्याकरण। (ग) कामिनी पक्ष—लखमन (बहुमूल्य मणियों के हार) हृदय पर शोभित हैं, यौवन का विहार करती है, सीतल हृदय है; कोमल है, मित्र को देखकर हर्षित हो जाती है, कौशल (कुशलता) हृदय में है सरसता का स्थान है, कवियों के वर्णन करने योग्य है।

कथन किये हैं केवल 'लखमन' आदि विशेषण ही श्लिष्ट हैं अतः अश्लिष्ट-विशेष्य है।

प्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य अभंग श्लेष—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छवि चारु,
सेवक-जन-जडता हरन हरि! श्रिय करहु अपारु* ॥३९॥

यहाँ श्री विष्णु और सूर्य दोनों की स्तुति अभीष्ट है, अतः दोनों प्रस्तुत होने से प्रकृतमात्र आश्रित है। 'करन' आदि अभङ्ग पदों के अर्थात् पूरे शब्दों के ही दो दो अर्थ हैं न कि 'पूतनामारण' आदि की तरह पदों का भंग होकर। अतः अभंग है। 'हरि' पद विशेष्य श्लिष्ट है—इसके विष्णु और सूर्य दो अर्थ हैं।

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर युत वेस,
सेवक-जन-जड़ता हरैं माधव और दिनेस ॥४०॥

इसमें माधव और हरि दोनों विशेष्य के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है। अतः विशेष्य अश्लिष्ट है।

"ढरै मधु माधुरी पराग सुवरन सनी
सरस सलौनी पाय तापन के अंत की,
कामना जुगति की उकति सरसावति सी
लावै मधुराई कल कोकिल के भंत की,
'गोकुल' कहत भरी गुनन गँभीर सीरी
कानन को आवति पियूष ऐसे बंत की,

* करन (हाथों) में सुदर्शन चक्र लिये हुए पीताम्बर से शोभित सेवकजनों के अज्ञान हरने वाले श्री हरि (विष्णु)—अथवा करन (किरणों) से और कालचक्र से युत पीताम्बर (पीले आकाश) से शोभित, सेवकजनों की मूर्खता हरने वाले हरि (श्री सूर्य) प्रचुर लक्ष्मी प्रदान करें।

ऐसी सुखदानी हौं न जानी जगती में
जैसी कविन की बानी अरु बैहर बसंत की ॥४१॥

यहाँ कवियों की वाणी (काव्य) और वसन्त ऋतु दोनों का वर्णन अभीष्ट होने के कारण प्रकृत मात्र आश्रित है। वाणी और वसन्त दोनों विशेष्यों के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है अतः विशेष्य अश्लिष्ट है। 'मधु' 'सुवरन' आदि पूरे पदों के ही दो अर्थ होते हैं अतः अभंग है।

अप्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य अभंग-श्लेष—

*लुब्ध सिलीमुख सों विकल बनमें करत निवास,
तिन कमलन की हरत छवि तेरे नयन सहास ॥४२॥

यहाँ विशेष्य 'कमल' शब्द श्लिष्ट है—कमल और मृग दोनों का वाचक है। कमल और मृग दोनों नेत्रों के उपमान होने के कारण अप्रस्तुत हैं। और पूर्वार्द्ध में विशेषण हैं वे भी श्लिष्ट हैं—कमल और मृग दोनों पक्ष में समान हैं। 'शिलीमुख' और 'बन' का भङ्ग न होकर दो अर्थ होते हैं अतः अभङ्ग है।

"कहा भयो जग में विदित भये उदित छवि लाल,
तो होठनि की रुचिर रुचि पावत नहीं प्रवाल" ॥४३॥

यहाँ विशेष्य 'प्रवाल' श्लिष्ट है—मूँगा और वृक्ष के नवीन दल दो अर्थ हैं। ये दोनों अधर के उपमान हैं अतः दोनों ही अप्रकृत हैं। 'प्रवाल' शब्द का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं अतः अभंग है।

---

* इसके दो अर्थ हैं। कमल-पक्ष-सुगन्धि के लोभी, शिलीमुखों (भौंरों) से डर से वन (जल) में रहने वाले कमलों की छवि तेरे नेत्र हर लेते हैं। मृग-पक्ष-लुब्ध-शिलीमुख अर्थात् मृगों को मारने वाले लुब्धकों के बाणों से डर कर वन में रहने वाले कमल अर्थात् मृगों के नेत्रों की छवि तेरे नेत्र हरते हैं। कमल नाम मृग का भी है 'मृगप्रभेदे कमलः' विश्वकोष।

रहैं सिलीमुखसों विकल सदा बसत बन ऐन,
तिन कमलन अरु मृगन की छबि छीनत तव नैन ॥४४॥

इसमें कमल और मृग विशेष्यों के लिये पृथक् पृथक् शब्दों का प्रयोग होने के कारण अश्लिष्ट विशेष्य है।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित अभंग श्लेप—

लघु* पुनि मलिन† स-पच्छ‡ गुन च्युत° है नर और सर,
पर-भेदन|| में दच्छ भयदायक किहिं के न हों॥४५॥

यहाँ उपमेय होने के कारण 'नर' प्रकृत है। उपमान होने के कारण 'शर' अप्रकृत है। 'परभेदन में दच्छ' और 'गुनच्युत' आदि पदों का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं, अतः अभंग है। 'नर' और 'शर' विशेष्यों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है, अतः अश्लिष्ट विशेष्य है।

श्लेप का प्रयोग उर्दू के कवियों ने भी किया है—

"दर्द वह शै है कि जिस पहलू से लौटो दर्द है"¶॥

इसमें 'दर्द' 'पहलू' और 'लौटो' शब्द श्लिष्ट हैं।

---

* नीच, वाण के अर्थ में छोटे। † मलिन हृदय, वाण पक्ष में काले। ‡ जिसके पक्षपात करने वाले हों, वाण पक्ष में पंख वाले। ° गुणों से हीन, वाण पक्ष में धनुष की डोर से छुटकर। || दूसरों में फूट डालने में चतुर, वाण पक्ष में दूसरों के अंग छेदन करने में समर्थ। ¶ दर्द (पीड़ा अथवा 'दर्द' ये वर्ण) वह शै (वस्तु) है जिसे चाहे जिस पहलू (करवट या उलट पलट) से लौटो (लेटो-सोवो अथवा उलटा पढ़ो) दर्द बना रहेगा—कुछ न्यूनाधिक न होगा। अर्थात् 'दरद' ही पढ़ा जायगा।

श्लेष शब्दालंकार है या अर्थालंकार ?

इस विषय में आचार्यों का मतभेद है। रुय्यक* का मत है कि सभंग-श्लेष शब्दालंकार है और अभंग-श्लेष अर्थालंकार है। रुय्यक का कहना है कि सभंग श्लेष में जतुकाष्ठ न्याय† के अनुसार दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर भी एक शब्द या पद में चिपका रहता है। जैसे—'पूतना मारण में सुदक्ष............' (सं० ३३) और 'पूत नामा रण में सुदक्ष' ये भिन्न-भिन्न अर्थ वाले दो पद 'पूतनामारण में सुदक्ष' पद में चिपके हुए हैं। इसलिए सभंग श्लेष शब्दालंकार है। 'करन कलित............' (सं० ३९) आदि अभंग श्लेष में 'एक वृंत गत फल द्वय'‡ न्याय के अनुसार एक ही शब्द या पद में दो अर्थ लगे हुए रहते हैं। इसलिए अभंग श्लेष अर्थालंकार है।

आचार्य उद्भट° ने सभंग को शब्द-श्लेष और अभंग को अर्थ-श्लेष बताकर भी दोनों को अर्थालंकार माना है।

आचार्य मम्मट ने अभंग और सभंग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालंकार माना है। उनका कहना है कि गुण, दोष और अलंकारों का शब्द और अर्थ गत विभाग अन्वय और व्यतिरेक§ पर निर्भर है। अभंग श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वहीं अर्थालंकार माना जायगा शब्दाश्रित होगा वहाँ नहीं। अर्थात् जहाँ शब्दाश्रित अभंग श्लेष होगा वहाँ शब्दालंकार ही माना जायगा। जैसे—'करन कलित......'(सं०३९) में 'कर' और 'पीताम्बर' आदि शब्दों के स्थान पर 'हाथ' और 'पीला वस्त्र' आदि

---

* देखिये अलंकारसर्वस्व श्लेष प्रकरण। † जतु (लाख) लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उस पर चिपकी रहती है इस न्याय के अनुसार। ‡ एक गुच्छे में दो फल लगे हुए हों उस प्रकार। ° देखिये काव्यालंकारसारसंग्रह प्रथम वर्ग। § इसका स्पष्टीकरण पृ० ३ में किया गया है।

पर्याय शब्द कर देने पर दो अर्थ नहीं हो सकते अतः यह अभंग-श्लेष शब्द श्लेष है। अभंग श्लेष अर्थालंकार वहाँ हो सकता है जहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दो अर्थ बने रहते हैं। जैसे—

"लिये सुचाल बिसाल वर स-मद सुरंग अबैन,
लोग कहैं बरनें तुरग मैं बरनें तुव नैन ॥"४६॥

इसमें कामिनी के नेत्र और घोड़े का वर्णन है। 'सुचाल' 'अबैन' के स्थान पर इसी अर्थ वाले दूसरे शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दोनों अर्थ हो सकते हैं।

आचार्य मम्मट ने उद्भटाचार्य के मत की आलोचना में कहा है— "सभंग को शब्द-श्लेष और अभंग को अर्थ-श्लेष स्वीकार करके भी दोनों को अर्थालंकार कहना तो विचित्र न्याय है। यदि यह कहा जाय कि केवल शब्द की विचित्रता के कारण सभंग श्लेष को शब्द-श्लेष कहना उचित नहीं। वस्तुतः श्लेष में एक से अधिक अर्थ होने का कारण अर्थ ही है अर्थात् श्लेष की अलंकारता अर्थ के ही आश्रित है, तो इस युक्ति के प्रतिवाद में यह कहा जाता है कि विचित्रता ही तो अलंकार है। विचित्रता जहाँ अर्थ में हो वहाँ अर्थालंकार और जहाँ शब्द में हो वहाँ शब्दालंकार माना जाना चाहिये। केवल अनेक अर्थ होने के कारण अर्थ का सहयोग मानकर श्लेष को अर्थालंकार नहीं कहा जा सकता। अर्थ के सहयोग की अपेक्षा तो अनुप्रास, वक्रोक्ति और यमक आदि में भी रहती है, फिर वे अर्थालंकार न माने जाकर शब्दालंकार क्यों माने जाते हैं? यहीं क्यों शब्द के गुण और दोषों में भी अर्थ का सहयोग अपेक्षित है क्योंकि अर्थ के सहयोग द्वारा ही उनका (गुण, दोषों का) निर्णय हो सकता है और अर्थ के गुण दोषों में भी शब्द के सहयोग की अपेक्षा रहती है क्योंकि शब्द के द्वारा ही उनका प्रतिपादन किया जाता है। फिर भी गुण और दोषों का शब्द और अर्थगत विभाग है। निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ

अन्योन्याश्रित हैं—एक के सहयोग के बिना दूसरे में गुण दोष और अलंकार का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव जहाँ जिसकी प्रधानता हो वहाँ वही मानना चाहिये। अर्थात् जिस अलंकार की विचित्रता शब्द के आश्रित हो उसे शब्दालंकार और जिसकी अर्थ के आश्रित हो उसे अर्थालंकार मानना उचित है। अभंग और सभंग दोनों श्लेषों में शब्द के आश्रित चमत्कार होने के कारण इन्हें शब्दालंकार ही मानना उचित है।"

श्लेष का अन्य अलङ्कारों से पृथकरण।

श्लेष का विषय बहुत व्यापक है क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत से अलंकारों में रहती है—

'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्*।'

काव्यादर्श २।३६३

अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्वपूर्ण और विवाद-ग्रस्त है। संस्कृत ग्रन्थों में इस पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। पर हिन्दी के किसी भी रीति ग्रन्थ में इस विषय पर मार्मिक विवेचन दृष्टिगत नहीं होता है।

कुछ† आचार्यों का मत है कि जहाँ श्लेष होता है, वहाँ कोई दूसरा अलंकार अवश्य रहता है—अन्य अलंकार से विविक्त (स्वतन्त्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जैसे—

---

* श्लेष प्रायः सभी अलंकारों का शोभाकारक है। यहाँ 'वक्रोक्ति' का प्रयोग उक्ति वैचित्र्य अर्थात् अलंकारों के लिए है, न कि केवल वक्रोक्ति नाम के अलंकार के लिये।

† 'काव्यालंकार सार संग्रह' के प्रणेता आचार्य उद्भट आदि।

'पूतनामारण में सुदत्त··················' (सं० ३३) आदि प्रकृत मात्र अथवा अप्रकृत मात्र वर्णनात्मक श्लेष के उदाहरणों में प्रकृतों का अथवा अप्रकृतों का 'पूतनामारण में सुदत्त' आदि एक धर्म का कथन होने के कारण श्लेष के साथ तुल्ययोगिता अलंकार भी है।*

'लघु पुनि मलिन सपच्छ················' (सं० ४९) आदि प्रकृत अप्रकृत उभय वर्णनात्मक श्लेष के उदाहरणों में प्रकृत अप्रकृत दोनों का 'गुन च्युत' आदि एक धर्म कथन होने के कारण श्लेष के साथ दीपक अलंकार† भी है।

'लखमन ही संग लिये············' (सं० ३८) ऐसे उदाहरण में श्लेष के साथ संदेह अलङ्कार है‡। और—

> मुदित करन जन-मन विमल राजतु है असमान,
> रम्य सकलकल पुर लसतु यह ससिबिंब समान°॥४७॥

ऐसे उदाहरण में श्लेष के साथ उपमा अलङ्कार है।

अतः इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि उक्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि स्वतन्त्र श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। और सर्वत्र यदि अन्यान्य अलङ्कार मान लिये जायँगे तो श्लेष नाम का कोई अलङ्कार ही न रहेगा, अतएव जहाँ श्लेष के साथ तुल्ययोगिता आदि

---

* देखिये नवम स्तवक में तुल्ययोगिता का लक्षण।

† देखिये नवम स्तवक में दीपक का लक्षण।

‡ देखिये, सन्देह अलङ्कार का लक्षण।

° यह नगर चन्द्रमा के समान शोभित है—चन्द्रमा असमान (आकाश) में स्थित है, नगर भी असमान (अपनी समता दूसरे में नहीं रखता) है। चन्द्रमा सकलकल (सम्पूर्ण कला युक्त) रमणीय है, यह नगर भी स-कलकल (शब्द युक्त) है।

कोई अन्य अलङ्कार हो वहाँ उसका (अन्य अलङ्कार का) आभास मात्र समझ कर—'निरवकाशोविधिरपवाद'—न्याय* के अनुसार उस अन्य अलङ्कार का (जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है) बाधक मानकर श्लेष को प्रधान समझना चाहिये। अर्थात् इस रीति से श्लेष स्वतन्त्र अलङ्कार माना जा सकता है।

आचार्य मम्मट इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि शुद्ध श्लेष के उदाहरण हो सकते हैं†। जैसे पूर्वोक्त—'पूतनामारण में सुदक्ष.........' में शुद्ध-श्लेष है—श्लेष के साथ तुल्ययोगिता का मिश्रण नहीं है। तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होकर उनमें एक धर्म का सम्बन्ध प्रतीत होता है। और एक धर्म द्वारा उनका (प्रकृत और अप्रकृत का) सादृश्य (उपमान-उपमेय-भाव) गम्य (अन्दर छिपा हुआ) रहता है। किन्तु—पूतना मारण में सुदक्ष.........' में दोनों प्रकृतों का (श्रीराम और श्रीकृष्ण का) पृथक्-पृथक् शब्द द्वारा कथन नहीं है—एक ही श्लिष्ट शब्द द्वारा दोनों का कथन है। और न इनका (श्रीराम और श्रीकृष्ण का) एक धर्म ही कहा गया है किन्तु श्रीराम विषयक अर्थ में 'पवित्र नामा' और श्रीकृष्ण-विषयक अर्थ में 'पूतना के मारने वाले' आदि भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हैं। अर्थात् एक धर्म द्वारा सादृश्य गम्य नहीं है। अतएव तुल्ययोगिता नहीं—केवल श्लेष है। और 'लघुपुनि मलिन सपक्ष.........' में भी शुद्ध-श्लेष ही है—दीपक अलङ्कार मिला हुआ

* इस न्याय का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु की स्थिति के लिये किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को—जिसके लिये कि अन्यत्र भी स्थान हो—उस स्थान से हटाकर वहाँ स्वयं प्रधानता प्राप्त कर लेती है।

† देखिए काव्यप्रकाश नवमोल्लास श्लेष प्रकरण।

नहीं है। दीपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म कहा जाता है और सादृश्य (उपमान-उपमेय-भाव) गम्य (अन्दर छिपा) रहता है। किन्तु यहाँ 'लघु' 'मलिन' और 'गुनच्युत' आदि श्लिष्ट शब्दों द्वारा 'नर' और 'शर' के पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं और न यहाँ सादृश्य ही गम्य है।

आचार्य मम्मट के मत का यह तात्पर्य नहीं है कि श्लेष के साथ अन्य अलङ्कार मिश्रित होते ही नहीं हैं। उनका कहना यह है कि 'श्लेष' शुद्ध भी होता है और अन्य अलङ्कार से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलङ्कार सम्मिलित होता है वहाँ उन दोनों में जो प्रधान होता है, उसे ही मानना चाहिये, न कि सर्वत्र श्लेष ही। जैसे—

'लखमन ही संग लिये············' (सं० ३८) में श्लेष के साथ सन्देह अलङ्कार का मिश्रण है, पर सन्देह गौण है—सन्देह का आभास मात्र है अर्थात् वह श्लेष का अंग है—श्लेष की पुष्टि करता है। प्रधान चमत्कार श्लेष में ही है—कवि को श्लेषार्थ में (तीन अर्थों में) ही चमत्कार दिखाना अभीष्ट है। किन्तु—

'मुदित करन जन-मन विमल············' (सं० ४७) में उपमा के साथ श्लेष मिश्रित होने पर भी उपमा प्रधान है। अतः यह उपमा का उदाहरण है, न कि श्लेष का। यदि यहाँ 'निरवकाशोविधिरपवाद' न्याय द्वारा श्लेष को उपमा का बाधक माना जायगा तो पूर्णोपमा का कोई उदाहरण ही न मिलेगा। पूर्णोपमा में इस प्रकार के श्लेष का होना अनिवार्य्य है। यह नहीं कहा जा सकता है कि—'पुर ससिबिंब समान'। श्लेष-रहित पूर्णोपमा का उदाहरण हो सकता है क्योंकि इसमें समान धर्म का कथन नहीं है। अतः यह धर्म-लुप्ता लुप्तोपमा का उदाहरण है न कि पूर्णोपमा का। और न 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' ही श्लेष-रहित पूर्णोपमा का उदाहरण हो सकता है। क्योंकि

'मनोज्ञ' शब्द जो मुख और कमल दोनों में समान-धर्म का बोध कराने वाला है वह श्लिष्ट है। अतः इसमें अर्थ-श्लेष है।

निष्कर्ष यह है कि उद्भटाचार्य आदि तो 'मुदित करन जन-मन विमल.........' में 'सकलकल' (जो समान धर्म है) पद में शब्द-श्लेष होने के कारण श्लेष को उपमा का बाधक मानकर श्लेष अलङ्कार मानते हैं। पर आचार्य मम्मट कहते हैं कि इसे यदि श्लेष मानते हो तो फिर 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' में (जिसको श्लेष रहित पूर्णोपमा का उदाहरण मानते हो) 'मनोज्ञ' शब्द को—जिसमें अर्थ-श्लेष है, उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते? यदि शब्द-श्लेष को उपमा का बाधक मानते हो तो अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते? अतएव जिस प्रकार 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' में अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक नहीं मानते हो उसी प्रकार 'सकलकल' में शब्द-श्लेष भी उपमा का बाधक नहीं माना जा सकता।

आचार्य मम्मट यह भी कहते हैं कि यह आपत्ति भी नहीं हो सकती कि "उपमा तो गुण या क्रिया के सादृश्य में ही हो सकती है—न कि शब्द मात्र के सादृश्य में। 'सकलकल' में गुण-क्रियात्मक सादृश्य नहीं है—केवल शब्द-मात्र का सादृश्य है*। अतः यहाँ उपमा किस प्रकार सम्भव है?" क्योंकि वास्तव में यह बात नहीं है, केवल शब्द के सादृश्य में भी उपमा होती है—

"स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयो किन्तु,
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः।"

रुद्रट काव्यालङ्कार ४।३२

---

* चन्द्रमा के पक्ष में 'सकलकल' का अर्थ संपूर्ण कला युक्त है और नगर के पक्ष में स-कलकल का शब्दायमान अर्थ है।

अर्थात् गुण और क्रिया की भाँति शब्द-साम्य भी उपमा के सादृश्य का प्रयोजक है। अतः 'मुदित करन जन-मन विमल.........' में उपमा ही है न कि श्लेष।

केवल उपमा ही नहीं, श्लेष-मिश्रित अन्य अलङ्कारों में भी अनेक स्थलों पर श्लेष गौण होकर अन्य अलङ्कार की प्रधानता रहती है। जैसे–

सखि, यह अचरज है हमें लखि तुव दृगन-विलास,
कृष्ण-रंग-रत तउ करत करन-निकट नित वास।*४८॥

इसमें 'कृष्ण' और 'करन (कर्ण)' शब्द श्लिष्ट हैं अतः विरोधाभास के साथ श्लेष है किन्तु श्लेष की प्रधानता नहीं, आभास मात्र है अर्थात् श्लेष विरोधाभास का अंग है क्योंकि श्लेष के बिना यहाँ विरोध का आभास नहीं हो सकता। अतः श्लेष का बाधक होकर विरोधाभास प्रधान है। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार विरोध के आभास में विरोधाभास अलङ्कार माना जाता है, उसी प्रकार श्लेष के आभास में यहाँ श्लेष क्यों नहीं मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक विरोधात्मक वर्णन में तो दोष है इसलिये विरोध के आभास में अलङ्कार माना जाता है। किन्तु वास्तविक श्लेष में कोई दोष नहीं। और न श्लेष के आभास में चमत्कार ही है। श्लेष की प्रधानता होती है वहीं श्लेष अलङ्कार माना जा सकता है। इस वर्णन में विरोध के आभास में ही चमत्कार होने के कारण विरोधाभास की प्रधानता है अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार यहाँ विरोधाभास ही माना जाना युक्ति संगत है, न कि श्लेष। और—

---

* हे सखि, तेरे कटाक्षों का विलास आश्चर्य-कारक है। कृष्ण के रंग में रँगे हुए होकर भी (श्लेषार्थ—पाण्डवपक्षीय श्रीकृष्ण में अनुरक्त रह कर भी) कर्ण के समीप—दीर्घ होने के कारण कानों तक (श्लेषार्थ—कौरव-पक्षीय कर्ण के सहयोगी) रहते हैं।

अरि-कमला संकोच रवि गुनि-मानस सु मराल।

इसमें रूपक के साथ श्लेष है। 'मानस' शब्द श्लिष्ट है--इसके चित्त और मानसरोवर दो अर्थ हैं--यहाँ राजा को विद्वानों के चित्तरूपी मानसरोवर में निवास करने वाला हंस कहना अभीष्ट है। अतः रूपक प्रधान है। किन्तु मानस (चित्त) में मानसरोवर के श्लेपार्थ के बिना रूपक नहीं बन सकता अतः यहाँ रूपक का श्लेष अंग है। और—

नहिं भंगुर गुन कंज सम तुम गाढ़े गुनवार।

यहाँ व्यतिरेक के साथ श्लेष है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है। कमल की अपेक्षा राजा को उत्कृष्ट कहना अभीष्ट है अतः व्यतिरेक प्रधान होने के कारण श्लेष उसका पोषक होकर अंग भूत है। एवं—

संध्या अनुरक्ता है दिन भी उसके पुरःसर है,
होता नहीं समागम विधि की गति क्या ही विचित्रतर है।*४६॥

यहाँ सायंकाल के वर्णन में 'अनुरक्ता' आदि श्लिष्ट शब्दों के विशेषणों द्वारा परस्पर में अनुरक्त नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी कवि ने कराई है। अतः समासोक्ति के साथ श्लेष है। प्रकरण के अनुसार सायंकाल के वर्णन की प्रधानता होने के कारण श्लेष, समासोक्ति का सहायक मात्र है।

आचार्य मम्मट के श्लेष विषयक इसी मत को उनके परवर्ती हेमचन्द्र (देखो काव्यानुशासन पृ० २२१-२२२), और विश्वनाथ (देखो साहित्य-दर्पण श्लेष प्रकरण) आदि ने भी स्वीकार किया है।

---

* सायंकाल का वर्णन—संध्या अनुरक्ता (रक्तवर्ण) है और दिन उसके पुरोगामी है—आगे है। फिर भी उनका संयोग नहीं होता है दैवगति विचित्र है। दूसरा अर्थ—नायिका अनुरक्ता (नायक में अनुरक्त) है और नायक भी उसके पुरोगामी (अनुकूल) है फिर भी उनका मिलना नहीं होता।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति होती है वहाँ किस अलङ्कार को मानना चाहिये, इस निर्णय के लिये यही देखना योग्य है कि उनमें कौनसा अलङ्कार प्रधान है। और जहाँ जिस अलङ्कार की प्रधानता होती है वही माना जाता है।

श्लेष और ध्वनि का पृथक्करण—

अलंकारों के अतिरिक्त श्लिष्ट शब्दों का ध्वनि काव्य के साथ भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। श्लेष अलंकार में श्लिष्ट शब्दों द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं, वे सब अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ होते हैं। श्लेष की ध्वनि में अतिव्याप्ति न होने के लिए ही श्लेष अलंकार के लक्षण में 'अभिधान' पद का प्रयोग किया गया है। पूर्वोक्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि श्लेष अलंकार में एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा शक्ति के अभिधेय-वाच्यार्थ होने के कारण एक ही साथ बोध होते हैं। ध्वनि में एक के सिवा दूसरा अर्थ एक साथ बोध नहीं होता—अभिधा द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण आदि के कारण अभिधा की शक्ति रुक जाती है—दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती। उसके बाद दूसरा अर्थ (व्यंग्यार्थ) ध्वनित होता है। जैसे—

मधुर गिरा सतपच्छ युत मद उद्धत व्यवसाय,
धार्तराष्ट्र अब गिर रहे काल-विवस भुविमाय*॥५०॥

---

* प्रकरण-गत वाच्यार्थ—मधुर गिरा (मीठी ध्वनि करने वाले), सत्पक्ष (सुन्दर पंखों वाले) मदोन्मत्त धार्तराष्ट्र अर्थात् हंस काल के विवश (शरद् ऋतु के समय) मानसर से पृथ्वी पर आ रहे हैं। व्यंग्यार्थ—मधुर गिरा (मधुर भाषी), सत्पक्ष (भीष्म द्रोण आदि से सहायता पाने वाले), मदोन्मत्त होकर कार्य करने वाले धार्तराष्ट्र अर्थात् धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव अब काल विवश (मृत्यु के वश होकर) भूमिशायी हो रहे हैं।

यह शरद् का वर्णन है। अतः शरद् वर्णन के प्रकरण में धार्तराष्ट्र आदि पदों का हंस आदि अर्थ बोध कराके अभिधा शक्ति रुक जाती है। फिर धार्तराष्ट्र आदि श्लिष्ट पदों का जो दुर्योधन आदि अर्थ प्रतीत होता है वह ध्वनि है। इस विषय की अधिक स्पष्टता के लिए प्रथम भाग का चतुर्थ स्तवक देखना चाहिये।

अप्पय्य दीक्षित ने जहाँ विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है (जैसे उक्त 'धार्तराष्ट्र' पद श्लिष्ट है) वहाँ प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष अलंकार माना है, न कि ध्वनि। जैसे—

> उदयारूढ़ सुकान्ति मय मंडल रक्त सुहाय,
> राजा यह मृदु-करन सों लोगन हिय हरषाय*॥५१॥

इसमें विशेष्य-वाचक 'राजा' पद श्लिष्ट है—इसके चन्द्रमा और नृप दो अर्थ हैं। अप्पय्य दीक्षित का कहना है "इस प्रकार के उदाहरणों में काव्यप्रकाश आदि में शब्द-शक्ति मूला ध्वनि मानी गई है, वह चंद्रमा और राजा के उपमेय उपमान भाव में जो उपमा प्रतीत होती है, उसी में संभव है—अप्राकृत नृप के वर्णन में नहीं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब अप्राकृत नृप के अर्थ का शीघ्र बोध नहीं होता है तो यहाँ ध्वनि क्यों नहीं मानी जाय? यह ठीक है कि अप्राकृतिक नृप का अर्थ प्राकरणिक चंद्रमा के अर्थ के समान उतना शीघ्र बोध नहीं होता है किन्तु विलंब से अर्थ का बोध होने मात्र से ही ध्वनि नहीं मानी जा

---

* प्रकरण गत अर्थ—उदय होते हुए चन्द्रमा का वर्णन है—उदयाचल पर आरूढ़ रक्त मंडल वाला प्रकाशमान चन्द्रमा मृदु कर (कोमल या अल्प प्रकाश वाली किरणों) से लोगों के हृदय हर्षित कर रहा है। दूसरा अर्थ—राजा का वर्णन है—यह नवीन अभिषिक्त तेजस्वी राजा अभिवृद्धि पाकर मृदुकरों से (अल्प राज-कर लगाकर), रक्तमंडल-देश को अपने में अनुरक्त (प्रेमी) करके अपनी प्रजा को हर्षित कर रहा है।

सकती। यदि अप्राकृतिक नृप का अर्थ विलंब से प्रतीत होता है तो यहाँ गूढ़-श्लेष कहा जा सकता है।" हमारे विचार में दीक्षितजी का यह मत* ठीक नहीं, यहाँ श्लेष न मानकर ध्वनि मानना ही युक्ति-संगत है†। यद्यपि आचार्यदंडी ने भी जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है उसको श्लेष अलंकार के उदाहरण में लिखा है। किन्तु दंडी के समय में संभवतः 'ध्वनि' सिद्धान्त का प्रतिपादन ही नहीं हुआ था।

(५) पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार।

भिन्न-भिन्न आकार वाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ की प्रतीति होने को 'पुनरुक्तवदाभास' कहते हैं।

पुनरुक्तवदाभास में पुनरुक्ति का आभास मात्र होता है—वस्तुतः पुनरुक्ति नहीं।

'यमक' अलङ्कार में एक आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का और इसमें भिन्न-भिन्न आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें और यमक में यह भेद है।

इसके दो भेद हैं—

(१) शब्दगत। पुनरुक्ति के आभास का शब्द के आश्रित होना—शब्द परिवर्तन कर देने पर पुनरुक्ति के आभास का न रहना। यह सभंग और अभंग दो प्रकार का होता है।

(२) शब्दार्थ उभयगत। पुनरुक्ति के आभास का शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित होना।

---

*देखिये कुवलयानंद श्लेष प्रकरण।

†देखिये रसगंगाधर पृ० ३९७-९८। एवं काव्यकल्पद्रुम प्रथम भाग पृ० ४६।

शब्द-गत सभंग पुनरुक्तवदाभास

> सहसारथि सूत सु लसत तुरग आदि पद सैन,
> अरि-वधदेह सरीर हो नृप, तुम धीरज ऐन* ॥५२॥

यहाँ 'सारथि' और 'सूत' आदि शब्दों का रूप तो भिन्न-भिन्न है किन्तु इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है—पुनरुक्ति सी मालूम होती है। पर 'सहसारथिसूत' का सहसा, रथी, सूत इस प्रकार भंग करने पर भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। सारथि और सूत के स्थान पर इसी अर्थ वाले अन्य शब्द कर देने पर पुनरुक्ति का आभास नहीं रहता अतः शब्दाश्रित है।

शब्द-गत अभंग पुनरुक्तवदाभास

> क्यों न होय छितिपाल वह नीतिपाल जग एक,
> जाके निकट जु रहतु नित सुमनस विबुध अनेक॥५३॥

यहाँ 'सुमनस' और विबुध' पदों का रूप जुदा-जुदा है, पर इनका एक ही अर्थ प्रतीत होता है—सुमनस, और विबुध शब्दों का अर्थ देवता है। किन्तु यहाँ सुमनस का अर्थ सुन्दर मन वाले और विबुध का अर्थ विद्वान् है। और इन पदों का भङ्ग न होकर ही भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, इसलिये अभङ्ग है। यहाँ 'सुमनस' और 'विबुध' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति का आभास नहीं हो सकता इसलिये शब्द-गत है।

---

* राजा के प्रति कवि का वाक्य है—हे राजन्, सहसा (बलपूर्वक) रथी (योद्धागण), सूत (सारथी) तथा तुरग (घोड़ा) आदि सैन्य से तुम शोभित हो और अरि (शत्रुओं) को वध-देह (वधदा-ईहा) अर्थात् मारने की चेष्टा वाला तुम्हारा शरीर है धैर्य के स्थान हो।

शब्दार्थ उभय-गत पुनरुक्तवदाभास

वन्दनीय किहिंके नहीं वे कविंद मति मान,
सुरग गयेहू काव्य रस जिनको जगत-जहान ॥५४॥

यहाँ 'जगत' और 'जहान' पदों का एक अर्थ सा प्रतीत होता है किन्तु 'जगत' का प्रकाशित और 'जहान' का 'सारे जगत में' अर्थ है। जगत शब्द के स्थान पर 'उदित' 'प्रकाश' इत्यादि शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति प्रतीत नहीं होती इसलिये शब्द-गत है और 'जहान' के स्थान पर 'लोक' आदि शब्द बदल लेने पर भी पुनरुक्ति का आभास होता है इसलिये अर्थ-गत है अतएव शब्दार्थ उभय-गत पुनरुक्तवदाभास है।

(६) चित्र अलङ्कार

वर्णों की रचना-विशेष के कारण जो छंद कमल आदि आकार में पढ़े जा सकें वहाँ 'चित्र' अलङ्कार होता है।

इसके कमल, छत्र, पद्म, धनुष, हस्ति, अश्व और सर्वतोभद्र आदि-आदि अनेक आकार होते हैं। 'चित्र' अलङ्कार में न तो कुछ शब्दार्थ का चमत्कार है न यह रस का उपकारी ही है। केवल रचना करने वाले कवि की एक प्रकार की निपुणता मात्र है। यह कष्ट-काव्य माना गया है। पंडितराज का मत है* कि इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखा कर एक उदाहरण देते हैं—

कमल-आकार-बन्ध चित्र—

प्रत्येक दूसरा वर्ण एक ही होने से कमल के आकार का चित्र होता है।

* देखिये रसगंगाधर।

नैन-वान हन वैन भन ध्यान लीन मन कीन,
चैन है न दिन रैन तन छिन छिन उन विन छीन॥५५॥

इस दोहे में प्रत्येक दूसरा वर्ण 'न' है। यह दोहा दर्पण, चक्र, मुष्टिका, हार, हलकुण्डी, चामर, चौकी, कपाटबन्ध आदि बहुत से चित्र-बन्धों का उदाहरण है। विस्तार भय से अधिक चित्र न दिखाकर कमल-बन्ध और चामर-बन्ध चित्र नीचे दिखाते हैं।
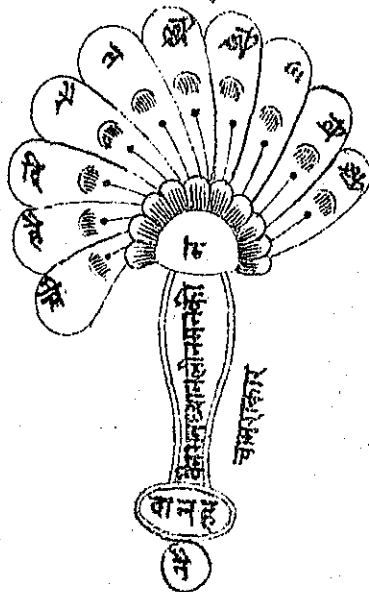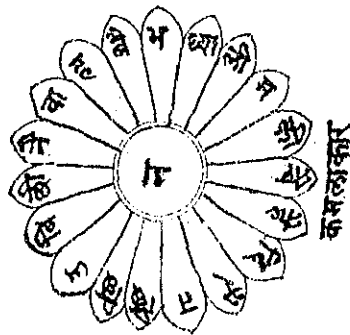
नवम स्तवक

अर्थालङ्कार

'अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते,
तं बिना शब्दसौन्दर्यमपिनास्ति मनोहरम् ।'*

अग्निपुराण ३४४।१

अर्थालङ्कारों में सादृश्य-मूलक अलङ्कार प्रधान है। सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कारों का प्राणभूत उपमा अलङ्कार है† । उपमा के विषय में कहा है—

'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदम्,
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम।'

राजशेखर‡ ।

---

* अर्थों को अलंकृत (शोभित) करने वाले अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। अर्थालङ्कार के बिना शब्द-सौन्दर्य मनोहर नहीं हो सकता।

† उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रांतिमान, सन्देह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, और समासोक्ति आदि सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कार 'उपमा' अलङ्कार पर निर्भर है। इन अलङ्कारों में सादृश्य कहीं तो उक्ति-भेद से वाच्य होता है और कहीं व्यङ्ग्य। और सादृश्य ही उपमा है इसलिये 'उपमा' अनेक अलङ्कारों का उत्थापक है।

‡ यह पद्य केशव मिश्र ने 'अलङ्कार शेखर' में राजशेखर के नाम से उद्धृत किया है।

'उपमैषा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्,
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।'*
चित्रमीमांसा।

(१) उपमा

दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान उपमेय भाव से कथन करने को 'उपमा' कहते हैं।

अर्थात् उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समान-धर्म का सम्बन्ध उपमा† है।

'उपमा' का अर्थ है 'उपसामीप्यात् मानं इत्युपमा'। अर्थात् समीपता से किया गया मान—एक वस्तु के समीप में दूसरी वस्तु के स्वरूप का तुलनात्मक ज्ञान कराना। उपमा अलङ्कार में उपमेय में उपमान के स्वरूप की समानता का ज्ञान कराया जाता है। जैसे—'चन्द्रमा के समान मुख है'। इसमें मुख में चन्द्रमा की समानता का ज्ञान कराया गया है।

उपमा अलङ्कार के लिये उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमा-वाचक शब्द का समझ लेना आवश्यक है। जैसे—

'हरि-पद कोमल कमल से।'

इसमें 'हरि-पद' उपमेय है। 'कमल' उपमान है। 'कोमल' समान धर्म है। और 'से' उपमा-वाचक शब्द है।

---

* काव्यरूपी रंगभूमि में उपमारूपी नटी अनेक भूमिका-भेद से नृत्य करती हुई काव्यमर्मज्ञों का चित्त रञ्जन करती है।

†'सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धोह्युपमा'—काव्यप्रकाश वामनाचार्य की बाल-बोधिनी पृ० ६२४।

उपमेय—जो उपमा देने के योग्य हो अर्थात् जिसको उपमा दी जाती है—जिसको किसी के समान कहा जाता है। जैसे यहाँ 'हरि-पद' उपमेय है। हरि-पद को कमल के समान कहा गया है। उपमेय को वर्ण्य, वर्णनीय, प्रस्तुत, प्रकृत, और विषय आदि भी कहते हैं।

उपमान—जिसकी उपमा दी जाती है अर्थात् जिससे समता दिखाई जाती है। जैसे यहाँ 'कमल' उपमान है। कमल के समान हरि-पद को कहा गया है। उपमान को अवर्ण्य, अवर्णनीय अप्रस्तुत अप्रकृत और विषयी आदि भी कहते हैं।

आचार्य वामन के मतानुसार न्यून गुण वाला उपमेय और अधिक गुण वाला उपमान होता है—'येनोत्कृष्टगुणेनान्यत्तदुपमानम्। यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्'—काव्यालङ्कार सूत्र अधिकरण ४ अध्याय २।१। किन्तु यह नियम सर्वत्र नहीं—इसके प्रतिकूल भी उदाहरण मिलते हैं—

> तरुनी-पांडु-कपोल सम छविधर पूरनचंद,
> कीन्ह सुशोभित उदित ह्वै पूरब दिसा अमंद ॥५६॥

यहाँ चन्द्रमा को तरुणी के पांडु (पीत और श्वेत मिश्रित अथवा पीत और रक्त मिश्रित) कपोलों की उपमा दी है। इसमें न्यून कांति वाले कपोल उपमान हैं। वास्तव में उपमेय और उपमान की कल्पना कवि की इच्छा पर निर्भर है।

समान-धर्म—उपमेय और उपमान में समानता से रहने वाले गुण, क्रिया आदि धर्म को समान-धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। जैसे—यहाँ 'कोमल' समान धर्म है—कोमलता पद और कमल दोनों में ही होती है।

उपमा-वाचक शब्द—उपमावाचक शब्द उपमेय और उपमान की समानता सूचक सादृश्य-वाचक शब्द को कहते हैं। जैसे यहाँ 'से' शब्द हरि-पद और कमल दोनों की समानता बतलाता है।

लक्षण में दो पदार्थों का साधर्म्य इसलिए कहा गया है कि 'अनन्वय' अलङ्कार में भी उपमेय और उपमान का साधर्म्य होता है, किन्तु अनन्वय में उपमेय और उपमान दो पदार्थ नहीं होते–एक ही वस्तु होती है, जैसे—

है रन रावन-राम को रावन-राम समान।

इसमें श्रीराम और रावण का युद्ध ही उपमेय है और वही उपमान भी है। उपमा में उपमेय और उपमान दो पदार्थ होते हैं—उपमेय भिन्न वस्तु और उपमान भिन्न वस्तु। जैसे—पद और कमल दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

उपमा के प्रधान दो भेद हैं। पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। इनके श्रौती या शाब्दी और आर्थी आदि अनेक भेद होते हैं—

पूर्णोपमा
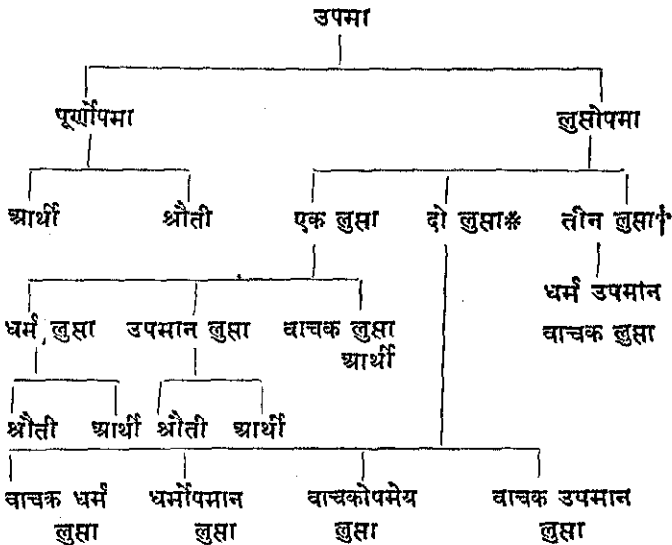
जहाँ उपर्युक्त उपमेय आदि चारों अङ्ग शब्दों द्वारा

---

* धर्मोपमेय लुप्ता में केवल उपमान और वाचक शब्द के कथन होने में और उपमेयोपमान लुप्ता में केवल समान धर्म और वाचक शब्द के कथन होने में कुछ चमत्कार न होने के कारण ये दोनों भेद दो लुप्ता के नहीं माने गये हैं।

† वाचक, धर्म और उपमेय तीनों के लोप में 'रूपकातिशयोक्ति' एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। धर्म-उपमान-उपमेय लुप्ता और वाचकोपमेयउपमान लुप्ता में एक में केवल वाचक का और केवल दूसरी में समान-धर्म ही का कथन होने से उपमा नहीं हो सकती है। अतः तीन लुप्ता का केवल एक ही भेद होता है।

कहे जाते हैं वहाँ 'पूर्णोपमा' होती है।

इसके दो भेद हैं—श्रौती और आर्थी।

श्रौती उपमा—

इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि इत्यादि सादृश्य सम्बन्ध-वाचक शब्दों के प्रयोग में श्रौती उपमा होती है। 'इव' आदि शब्द साधर्म्य (समान-धर्म के सम्बन्ध) के साक्षात् वाचक हैं। इन शब्दों में से कोई भी एक शब्द जिस शब्द के बाद होता है वही उपमान समझ लिया जाता है। इसलिए इव आदि शब्द अपनी अभिधा-शक्ति द्वारा ही सादृश्य-सम्बन्ध का बोध करा देते हैं। यद्यपि इव आदि शब्द उपमान से ही सम्बद्ध (लगे हुए) रहने के कारण उपमान के ही विशेषण हैं अर्थात् उपमान में रहने वाले साधारण-धर्म के बोधक हैं पर शब्द-शक्ति के सामर्थ्य के कारण ये श्रवण मात्र से ही षष्ठी विभक्ति की तरह उपमान-उपमेय का साधर्म्य-सम्बन्ध बोध करा देते हैं। जैसे—'राजाका पुरुष' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग केवल राजा शब्द के साथ ही हुआ है, तथापि वह राजा का सम्बन्ध पुरुष में बोध करा देती है। इसी प्रकार 'चंद्रसा मुख' इस वाक्य में 'सा' शब्द का उपमान-चंद्र से संबन्ध है अर्थात् 'चंद्र' शब्द के बाद लगा हुआ है पर चंद्रमा के सादृश्य का मुख में बोध करा देता है। अतएव 'इव' आदि शब्दों के श्रवण मात्र से ही उपमेय उपमान के सादृश्य के सम्बन्ध का बोध हो जाने के कारण इनके प्रयोगों में श्रौती या शाब्दी उपमा कही जाती है।

श्रौती पूर्णोपमा—

"हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
करतल तकती तुम हुई नवल-दल मग्ना,
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको,
है मधुप ढूंढ़ता यथा मनोज्ञ सुमन को।"५७॥

जनकनंदिनी के प्रति श्री रघुनाथजी की इस उक्ति में उत्तरार्द्ध में श्रौती पूर्णोपमा है। रघुनाथजी उपमेय हैं। मधुप उपमान है। ढूँढ़ता समान-धर्म है। और 'यथा' श्रौती उपमा-वाचक शब्द है।

यद्यपि इस उपमा द्वारा जानकीजी के अंगों की सुन्दरता और कोमलता की जो ध्वनि निकलती है वह व्यंग्यार्थ अवश्य है, किन्तु इस व्यंग्यार्थ के ज्ञान के बिना ही यहाँ उपमा के वैचित्र्य में ही चमत्कार है। अलङ्कारों के सामान्य लक्षण—'व्यंग्य के बिना चमत्कार हो'* इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ की व्यंजना होने पर भी उसकी विवक्षा (इच्छा) नहीं रहती। केवल वाच्यार्थ की विचित्रता का चमत्कार ही अलङ्कार के प्रयोग में कवि को अभीष्ट होता है।

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति,
अलङ्कारनिबंधोयः सचित्र विषयो मतः।'

कहने का तात्पर्य यह है कि रस, भाव आदि (जो व्यंग्यार्थ है) के बिना तो कोई भी काव्य आनंदप्रद नहीं होता। पर अलङ्कार प्रकरण में व्यंग्यार्थ तक बुद्धि नहीं पहुँचती। अलङ्कारों की रचना के चमत्कार में ही आनंद प्राप्त और समाप्त हो जाता है।

"जा दिन ते छबि सों मुसकात कहूँ निरखे नँदलाल विलासी,
ता दिन ते मन ही मन में 'मतिराम' पियें मुसकानि सुधा सी।
नेक निमेष न लागत नैन चकी चितवे तिय देव-तिया सी,
चंदमुखी न हलै न चलै निरवात-निवास में दीपसिखा सी।"५८

श्रीनंदनंदन के दर्शनजन्य गोपांगना की जड़ अवस्था को यहाँ चतुर्थ चरण में निर्वात-दीपशिखा की उपमा दी गई है। 'चंदमुखी' उपमेय है। निर्वात-दीपक-शिखा उपमान है। 'न चलै न हिलै' समान-धर्म और 'सी' उपमा-वाचक शब्द है।

---

* देखिये प्रथम भाग पृ० ८।

"धारि कै हिमंत के सजीले स्वच्छ अंबर कौं,
आपने प्रभाव को अडंबर बढाए लेति,
कहै 'रतनाकर' दिवाकर उपासी जानि,
पाला कंज-पुंजनि पै पारि मुरझाए लेति।
दिन के प्रभाव औ प्रभा की प्रखराई पर—
निज सियराई-सँवराई-छबि छाए लेति,
तेज-हत-पति-मरजाद-सम ताकौ मान,
चाव-चढ़ी कामिनी लौं जामिनी दबाए लेति।"५६॥

यहाँ हेमंत ऋतु की रात्रि को कामिनी की उपमा है। 'जामिनी' उपमेय, 'कामिनी' उपमान, 'दबाए लेति' समान-धर्म और 'लौं' शाब्दी-उपमा-वाचक शब्द है।

आर्थी उपमा—

तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश, इत्यादि उपमा-वाचक शब्दों के प्रयोग में आर्थी उपमा होती है। क्योंकि 'तुल्य' आदि शब्द समान-धर्म वाले उपमान और उपमेय दोनों के वाचक हैं। जैसे, 'चंद्रमा के तुल्य मुख' में उपमेय (मुख) के साथ, 'मुख है तुल्य चंद्रमा के' में उपमान (चंद्रमा) के साथ और 'चंद्रमा तथा मुख तुल्य हैं' में उपमान और उपमेय अर्थात् चंद्रमा और मुख दोनों के साथ 'तुल्य' आदि शब्दों का सम्बन्ध रहता है। अर्थात् तुल्य आदि शब्द कहीं उपमेय के साथ, कहीं उपमान के साथ और कहीं दोनों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अतएव इनके प्रयोग में अर्थ पर विचार करने से ही साधर्म्य का (समान-धर्म के सम्बन्ध का) बोध होता है। 'तुल्य' आदि शब्द 'इव' आदि शब्दों की तरह साधर्म्य के साक्षात् वाचक नहीं हैं। 'इव' आदि शब्द जिस शब्द के बाद लगे हुए होते हैं अर्थात् जिस शब्द से सम्बन्ध रखते हैं उसको शब्द-शक्ति के कारण उपमान जान लिया जाता है। किन्तु तुल्य आदि शब्द जिस शब्द से सम्बन्ध रखते हैं उसका उपमान होना

अनिवार्य्य नहीं है। इनके प्रयोग में उपमेय उपमान का बोध अर्थ का विचार करने पर विलंब से ही होता है*। इसी कारण 'तुल्यादि' शब्द आर्थी-उपमा-वाचक हैं।

आर्थी पूर्णोपमा—

विजय करन दारिद-दमन दरन सकल दुख-दुंद,
गिरिजा-पद मृदु कंज सम वंदत हौं सुख-कंद ॥६०॥

यहाँ 'गिरिजा-पद' उपमेय है। 'कंज' उपमान है। 'कोमल' समान-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है।

"पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी,
पर चिन्ह पाकर कुछ न उसके, व्यग्र चितायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद सम शोभित हुए।"६१

सूर्यास्त के समय जयद्रथ के बध का अनुमान करने वाले 'युधिष्ठिर' उपमेय हैं। 'कुमुद' उपमान है। 'प्रमुदित न विमुदित' समान-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है।

उपमा अलङ्कार का प्रयोग वेदों में भी है—

"अस्माकमुत्तमं कृधि श्रवो देवेषु सूर्य्य।
वर्षिष्ठं द्यामिवोपरि"।†

---

*'आर्थ्यामुपमानोपमेयनिर्णयविलम्बेनास्वादविलम्बः तदभावः श्रौत्य-मिति'। उद्योत (आनंदाश्रम) पृ० ४४२।

† इसका अर्थ है—हे मनुष्यो! जिस प्रकार आकाश में सूर्य बड़ा है उसी प्रकार विद्या और विनय की उन्नति से उत्तम ऐश्वर्य्य को उत्पन्न करो।

उर्दू के कवियों ने भी बहुधा उपमा का प्रयोग किया है—

"तेरी आतिशे* बयानी† 'दाग़' रोशन है जमाने में,
पिघल जाता है मिस्ले‡ समा§ दिल हरइक सखुनदाँ¶ का।"६२॥

यहाँ हृदय को मोमबत्ती की उपमा दी है।

देवजी ने भावविलास में उपमा का—

"राति जगी अँगराति इतै गहि गैल गई गुन की निधि गोरी,
रोमवली त्रिवली पै लसी कुसुमी अँगिया हू लसी उर जोरी।
ओछे उरोजनि पै हँसिकै कसिकै पहिरी गहरी रँग बोरी,
पैरि सिँवार सरोज-सनाल चढ़ी मनों इन्द्र-वधूनि की जोरी।"६३॥

यह उदाहरण दिया है। इसमें 'मानों' शब्द का प्रयोग अनुचित है। 'मानों' शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक है—न कि उपमा-वाचक। अतः यहाँ उपमा नहीं।

लुप्तोपमा

उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमा-वाचक शब्द में से किसी एक, दो अथवा तीन के लोप हो जाने में—कथन नहीं किये जाने में लुप्तोपमा होती है।

धर्म-लुप्ता—

"कुन्द-इन्दु सम देह उमारमन करुना-अयन,
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन-मयन।"६४॥

यहाँ श्री शिवजी का देह उपमेय है। कुन्द और इन्दु उपमान हैं। और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है। गौर-वर्ण आदि धर्मों का कथन नहीं है अतः धर्म-लुप्ता उपमा है। 'सम' के स्थान पर 'सो' कर

---

* अग्नि का ताप। † कहना। ‡ समान। § मोमबत्ती। ¶ कविजन।

देने पर यहाँ धर्म-लुप्ता श्रौती उपमा हो जायगी । धर्म-लुप्तोपमा को काव्यादर्श में 'वस्तूपमा' कहा है ।

उपमान-लुप्ता—

जिहिं तुलना तुहि दीजिये सुवरन सौरभ मांहि,
कुसुम-तिलक चंपक! अहो! हौं नहिँ जानौ ताहि।।६५।।

यहाँ उपमान का कथन नहीं है अतः उपमान लुप्ता आर्थी उपमा है। श्रौती उपमा उपमान-लुप्ता नहीं हो सकती क्योंकि श्रौती उपमा-वाचक 'इव' आदि शब्द, जिस शब्द के बाद लगाये जाते हैं वह उपमान हो जाता है। जैसे इस उदाहरण में चंपा का फूल वर्णनीय होने के कारण उपमेय है। किन्तु 'चंपक सो सुन्दर कुसुम ढूंढ़हु मिलि है नांहि।' में चंपा के बाद 'सो' श्रौती उपमा-वाचक शब्द होने के कारण वह (चम्पक) उपमान हो जाता है—उपमेय नहीं रहता। अतः श्रौती उपमा उपमान-लुप्ता नहीं हो सकती* ।

वाचक-लुप्ता—

"नील-सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन,
करौ सो मम उर-धाम सदा छीर-सागर-सयन ।।"६६।।

यहाँ उपमा-वाचक-शब्द नहीं है ।

वाचक-धर्म लुप्ता—

नीति निपुन निज धरम चित चरित सबै अवदात,
करत प्रजा रंजन सदा नृप-कुंजर विख्यात ।।६७।।

यहाँ 'नृप' उपमेय और 'कुंजर' उपमान है। साधारण-धर्म और वाचक-शब्द नहीं हैं अतः वाचक-धर्म-लुप्ता है।

---

* देखिये काव्यप्रदीप लुप्तोपमा प्रकरण ।

वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा और रूपक की पृथक्ता ।

वाचक-धर्म-लुप्ता के और सम-अभेद रूपक के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं, पर जहां उपमान के धर्म की प्रधानता होती है वहां रूपक होता है और जहां उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है वहाँ उपमा होती है। जैसे यहाँ 'नीति निपुन' आदि धर्म (विशेषण) राजा (उपमेय) के लिए ही संभव हो सकते हैं, न कि कुंजर (हाथी) के लिए। अतः यहाँ उपमेय (राजा) के धर्म की प्रधानता उपमा का साधक और रूपक का बाधक है।*

"सुनि कुलबधू झरोखनि झांकति रामचंद्र-छवि चंद वदनिया,
'तुलसिदास' प्रभु देखि मगन भई प्रेम-विवस कछु सुधि न अपनियां।" ६८

यहाँ 'वदन' उपमेय और चंद्र उपमान है। साधारण-धर्म और वाचक-शब्द नहीं हैं। यहां भी 'झांकति' आदि धर्म वदन (उपमेय) की प्रधानता के कारण हैं अतः उपमा है न कि रूपक।

धर्मोपमान लुप्ता—

भूं भूं करि मरिहै वृथा केतकि कण्टक मांहि,
रे अलि! मालति कुसुम सम खोजत मिलहै नांहि ॥६९॥

'खोजत मिलि है नांहि' पद के कारण उपमान और धर्मलुप्ता है।

वाचकोपमेय लुप्ता—

छवि सो रति आचरति है चलि अवलोकहु लाल! ॥७०॥

दूती द्वारा किसी नायिका की प्रशंसा है। 'रति' उपमान और 'छवि' समान-धर्म है—उपमेय और वाचक शब्द नहीं है। इसके उदाहरण संस्कृत ग्रंथों में 'कान्त्या स्मरवधूयन्ती' इत्यादि क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में स्पष्ट दिखाये जा सकते हैं—न कि हिन्दी भाषा में।

---

* साधक और बाधक की स्पष्टता संकर अलङ्कार में देखिए।

वाचक-उपमान लुप्ता—

दाड़िम दसन सु सित-अरुन है मृग-नयन विसाल,
केहरि कटि अति छीन है लसत मनोहर बाल ॥७१॥

'दसन' आदि उपमेय और सित-अरुन आदि साधारण-धर्म हैं। वाचक शब्द और उपमान (दाड़िम के दाने आदि) का लोप है। केवल दाड़िम, मृग, और सिंह, दशन नेत्र और कटि के उपमान नहीं हो सकते किन्तु दाड़िम के दाने, मृग के नेत्र और सिंह की कटि उपमान हो सकते हैं।

पद्माकरजी ने वाचक उपमान लुप्ता का—'मधुर कोकिला तान'। यह उदाहरण दिया है। पर यह तो कोकिल के तान की मधुरता का वर्णन हुआ संभवतः इसमें 'तान' को उपमेय माना गया है, पर यहाँ 'तान' की उपमेय-वाचक रूप में प्रतीति न होकर कोकिल द्वारा की गई तान की स्पष्ट प्रतीति होती है अतः ऐसे उदाहरणों में वाचकोपमान-लुप्ता उपमा स्पष्ट प्रतीत नहीं हो सकती।

धर्म-उपमान-वाचक लुप्ता—

"कुंजर-मनि कंठा कलित उरन्ह तुलसिका माल,
वृषभ-कन्ध केहरि ठवन बलनिधि बाहु विसाल"॥७२॥

यहां 'ठवन' उपमेय है। स्कंध का उपमान वृष का स्कंध हो सकता है—वृष के स्कंध की ही उपमा स्कंध को दी जा सकती है, न कि केवल वृष की अतः उपमान तथा समान धर्म एवं उपमा-वाचक शब्द का लोप है।

धर्मोपमेयवाचकलुप्ता का काव्यनिर्णय में भिखारीदासजी ने—

"नभ ऊपर सर बीचि युत कहा कहौं वृजराज!
तापर बैठ्यो हौं लख्यो चक्रवाक जुग आज।"७३॥

और लछीरामजी ने रामचन्द्र भूषण में यह उदाहरण दिया है—

"चपल-स्याम-घन चपला सरजू-तीर ।
मुकुट-माल मय वारिज भ्रमर जंजीर ।"७४।।

इनमें धर्म, उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं—केवल उपमान हैं। केवल उपमान का होना रूपकातिशयोक्ति का विषय है अतः न तो ये उदाहरण लुप्तोपमा के हैं और न धर्म, उपमेय और उपमा-वाचक शब्द के लोप में उपमा हो ही सकती है।

उक्त भेदों के सिवा उपमा के और भी अनेक भेद होते हैं। जैसे—

बिंबप्रतिबिंबोपमा ।

जहाँ उपमेय और उपमान के कहे हुए भिन्न-भिन्न धर्मों का परस्पर बिंबप्रतिबिंब भाव होता है वहां बिंब-प्रतिबिंबोपमा होती है ।

*आगे एन्द्री-धनु कढ रहा रम्य बल्मीक से यों—
नानारंगीकिरण नभ में रत्न के हों मिले ज्यों ।
तेरा नीला वपुष जिससे होयगा कांति धारी—
जैसे बर्हावृत-मुकट से गोप-वेशी मुरारी ।।७५।।

यहाँ इन्द्र-धनुष युक्त नील मेघ को मयूर-पक्ष के मुकुट धारण किये हुए श्रीकृष्ण की उपमा दी गई है। साधारण-धर्म भिन्न-भिन्न हैं—नील-

---

* यह मेघदूत में मेघ के प्रति यक्ष की उक्ति है। देख! तेरे सामने बल्मीकि (गिरिशृङ्ग अथवा सूर्य-प्रभा) से इन्द्र का रमणीय धनुष, रत्नों की अनेक रंग की प्रभा के समान निकल रहा है। इसके संयोग से तेरी नीली घटा ऐसी शोभित होगी, जैसे मयूरपंख के मुकुट से श्यामसुन्दर कृष्ण गोप-वेष में शोभा पाते हैं।

मेघ का धर्म इन्द्र-धनुष और श्रीकृष्ण का धर्म मयूर-पिच्छ का मुकुट कहा गया है। इन दोनों में समान-धर्म का बिंब-प्रतिबिंब भाव है*।

वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट उपमा—

जहाँ उपमान और उपमेय का एक ही समान-धर्म शब्द-भेद से कहा जाता है, वहाँ वस्तुप्रतिवस्तुनिर्दिष्ट उपमा होती है।

विकसित नील-सरोज सम प्रफुलित दृगन लखाय,
मृगनयनी हिय भाव सब मोहि दिये समुझाय ।७५।।

यहाँ उपमान-कमल का 'विकसित' और उपमेय नेत्र का 'प्रफुल्लित' एक ही धर्म है—केवल शब्द-भेद है।

'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार में उपमा प्रतीयमाना रहती है अर्थात् उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है, किन्तु इस वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट में उपमा वाच्य रहती है अर्थात् उपमा-वाचक शब्द द्वारा उपमा स्पष्ट कही जाती है। जैसे इस पद्य में 'सम' शब्द द्वारा उपमा स्पष्ट कही गई है। इन दोनों में यही भेद है।

श्लेषोपमा—

जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा समान-धर्म का कथन किया जाता है, वहाँ श्लेषोपमा होती है।

यह अर्थ-श्लेष और शब्द-श्लेष द्वारा दो प्रकार की होती है।

प्रतिद्वन्द्वी शशि का प्रिये! परिपूरित मकरंद,
तेरा मुख अरविंद सम शोभित है सुखकंद ।७६।।

---

* दर्पण में मुख के बिंब का प्रतिबिंब गिरता है उसी प्रकार एक धर्म के सादृश्य का दूसरे धर्म में प्रतिबिंब गिरने को बिंब-प्रतिबिंब भाव कहते हैं।

'अरविंद' उपमान और 'मुख' उपमेय के समान-धर्म 'शशि का प्रतिद्वन्द्वी'* और 'पूरित मकरंद' श्लिष्ट पदों द्वारा कहे गये हैं। 'शशि का प्रतिद्वन्द्वी' आदि पदों के पर्याय शब्दों द्वारा भी समान-धर्म बोध हो सकता है। अतः अर्थ-श्लेष मिश्रित उपमा है। यहाँ श्लेष गौण और उपमा प्रधान है।

कभी सत्य तथैव असत्य कभी मृदुचित्त कभी अति क्रूर लखाती,
कभी हिंसक और दयालु कभी सुउदार कभी अनुदार दिखाती।
धन-लुब्धक भी बनती कब ही व्यय में कर-युक्त कभी दृग आती,
नृप-नीति की है न प्रतीति सखे! गणिका सम रूप अनेक दिखाती।।७७।।

यहाँ 'नृपनीति' उपमेय और 'गणिका' उपमान है। इन दोनों के समान-धर्म 'कभी सत्य तथैव असत्य कभी' आदि श्लिष्ट पदों द्वारा कहे हैं। इनपदों के पर्याय शब्दों द्वारा भी समान-धर्म का बोध हो सकता है। यहाँ भी अर्थ-श्लेष मिश्रित है।

शब्द-श्लेषोपमा—

"पूरन गँभीर धीर बहु वाहिनी† को पति,
धारत रतन महा राखत प्रमान है,
लखि द्विजराज‡ करै हरष अपार मन,
पानिप विपुल अति दानी छमावान है।
सुकवि 'गुलाब' सरनागत अभयकारी,
हरि-उर धारी उपकारी महान है,
बलाबंध सैलपति साह कवि-कौल-भानु
रामसिंह भूतलेंद्र सागर समान है।"७८।।

---

* चन्द्रमा पक्ष में शत्रु और मुख पक्ष में प्रतिद्वन्द्वता करने वाला।

† समुद्र पक्ष में नदी, राजा के पक्ष में सेना।

‡ समुद्र के पक्ष में चन्द्रमा, राजा के पक्ष में ब्राह्मण।

यहाँ राजा रामसिंह को सागर की उपमा दी गई है। 'वाहिनीपति' और 'द्विजराज' आदि विशेषण पद श्लिष्ट हैं—समुद्र और राजा दोनों के बोधक हैं। इन पदों के शब्द परिवर्तन करने पर ये विशेषण राजा रामसिंह और समुद्र दोनों के बोधक नहीं हो सकते। इसलिये यह शब्द-श्लेषोपमा है। 'रतन' आदि कुछ शब्द परिवर्तनशील भी हैं। पर यहाँ अपरिवर्तनशील शब्दों में शब्द-श्लेषोपमा का उदाहरण दिखाया गया है।

आचार्य दण्डी ने इस भेद को समानोपमा नाम से लिखा है।

वैधर्म्योपमा—

जहाँ उपमेय और उपमान का धर्म एक दूसरे के विपरीत होता है, वहाँ वैधर्म्योपमा होती है।

"दृग थिरकोंहे अधखुले देह थकोंहे ढार,
सुरत-सुखित सी देखियत दुखित गरभ के भार।"७८

यहाँ गर्भ-भार से व्यथित तरुणी को रति-थकित सुखित नायिका की उपमा दी गई है। दुखित और सुखित धर्म एक दूसरे के विपरीत हैं। पर यहाँ इस वैधर्म्य द्वारा वस्तुतः पूर्वार्द्ध में गर्भिणी और रति-थकित नायिका का साधर्म्य ही कथन है।

नियमोपमा—

जहाँ एक ही नियमित उपमान में सादृश्य नियंत्रण कर दिया जाता है वहाँ नियमोपमा होती है।

तो मुख सम इक कमल ही दूजौ कोउ न लखाय।७६॥

यहाँ 'ही' के प्रयोग द्वारा मुख के सादृश्य को कमल में नियन्त्रित करके अन्यत्र उसका अभाव कहा गया है।

अभूतोपमा अथवा कल्पितोपमा—

"उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपील उढाये,
नील-जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव जिमि* तडित छिपाये" ८०

यहाँ पीताम्बर ओढ़े हुए श्यामविग्रह श्री रामचन्द्रजी को स्थिर बिजली द्वारा आच्छादित नील-मेघ की उपमा दी गई है। बिजली का स्थिर रहना असम्भव होने के कारण यह अभूतोपमा है।

"कहि 'केशव' श्री वृषभानु-कुमारि सिँगार सिँगारि सबै सरसै,
स-विलास चितै हरि-नायक त्यों रतिनायक-सायक से बरसै।
कबहूँ मुख देखति दर्पन लै उपमा मुख की सुखमा परसै,
जिमि† आनँदकन्द सु पूरनचंद दुर्यो रवि-मंडल में दरसै।" ८१

यहाँ दर्पण में मुख देखती हुई श्री राधिकाजी के मुख को सूर्य के मण्डल के अन्दर दीखते हुए चन्द्रमा की उपमा दी गई है। सूर्यमंडल में चन्द्रमा के दृश्य का होना असम्भव होने के कारण यह अभूतोपमा है।

समुच्चयोपमा—

जहाँ उपमान के अनेक धर्मों का समुच्चय$ होता है, वहाँ समुच्चयोपमा होती है।

रमनी-मुख रमनीय यह जोवन ललित विलास,
चंपक-कुसुम समान सब रूप रंग दुति वास ॥८१॥

यहाँ उपमान (चंपक पुष्प) के रूप, रंग, द्युति और सुगंध आदि अनेक धर्मों से उपमा दी गई है।

---

* मूल पाठ 'मनो' है। उपमा के उदाहरण के लिये 'मनो' के स्थान पर 'जिमि' किया गया है।

† केशवदासजी का पाठ 'जनु' है। यहाँ उपमा का उदाहरण बनाने के लिये 'जनु' के स्थान पर 'जिमि' कर दिया गया है। $ इकट्ठा।

राधे ! तुव ससि वदन में दुति ही इक न समान,
ल्हादकता हू रहतु है यामें चंद्र समान ॥८२॥

यहाँ 'कांति' गुण और 'मादकता' क्रिया के समुच्चय द्वारा उपमा दी गई है। अतः समुच्चयोपमा है।

रसनोपमा—

बहुत से उपमान और उपमेयों में यथोत्तर उपमेय को उपमान कथन किये जाने को 'रसनोपमा' कहते हैं।

यह भी अभिन्न-धर्मा और भिन्न-धर्मा दोनों प्रकार की होती है।

"कुल सी मति, मति सो जु मन मन ही सो गुरु दान।"८३॥

यहाँ 'मति' उपमेय है फिर यही 'मति' मन उपमेय का उपमान है। 'मन' भी 'दान' उपमेय का उपमान है। इन सबका 'गुरुता' रूप एक ही साधारण धर्म कहा गया है।

वच सी माधुरि मूरती मूरति सी कल कीति,
कीरति लौं सब जगत में छाइ रही तव नीति॥८४॥

यहाँ 'मूरती' आदि उत्तरोत्तर उपमानों के माधुरी, कल, और छाइ रही, भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हैं।

उपर्युक्त सारे उदाहरण वाच्योपमा के हैं क्योंकि इनके वाच्यार्थ में ही उपमा है।

लक्ष्योपमा।

सरसिज-सोदर हैं प्रिये ! तेरे दृग रमणीय॥८५॥

नेत्रों को कमल के सहोदर (एक उदर से उत्पन्न भ्राता) कहा गया है। किन्तु नेत्रों को कमल के सहोदर कहना नहीं बन सकता अतः

मुख्यार्थ का बाध है। सहोदर का लक्ष्यार्थ यहाँ समान समझा जाता है अतः लक्षणा द्वारा सादृश्य लक्षित होने के कारण लक्ष्योपमा है†।

व्यंग्योपमा।

मनरंजन हो निशिनाथ तथा उडुराज सुशोभित हो सच ही,
करते तुम मोद कुमोद‡ को भी समता अपनी सहते न कहीं।
पर गर्व वृथा करते तुम चंद्र! न ध्यान कभी धरते यह ही,
कहिये किसने कर खोज कभी भुविमंडल देख लिया सबही? ८६

यहाँ वाच्यार्थ में स्पष्ट उपमा नहीं दी गई है। चन्द्रमा के प्रति किसी वियोगी की इस उक्ति में 'कभी बाहिर नहीं निकलने वाली मेरी प्रिया का मुख जो तेरे समान है, तूने नहीं देखा है' इस व्यंग्यार्थ की ध्वनि में उपमा है।

"परम पुरुष के परम दृग दोनों एजु,
भनत पुरान बेद बानी औ पढ़ गई।
कवि 'मतिराम' द्योसपति वे निसापति ये,
काहू की निकाई कहूँ नैक न बढ़ गई।
सूरज के सुतन करन महादानी भयो,
वाही के विचार मति चिंता में मढ गई।
तोहि पाट बैठत कमाऊँ के उद्योतचंद्र!
चंद्रमा की करज करेजे सों कढ गई$॥"८७॥

---

† 'लक्ष्योपमा' लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में होती है। इसकी स्पष्टता प्रथम भाग के दूसरे स्तवक में की गई है। ‡ कुमुद अथवा मोद रहित अर्थात् आनन्द रहित—तप्त। $ सूर्य और चन्द्रमा दोनों विराट् भगवान् के नेत्र हैं। एक दिनपति है और दूसरा निशापति। दोनों के समान प्रताप हैं। किन्तु सूर्य के पुत्र महादानी कर्ण के समान चन्द्रमा के

यहाँ राजा उद्योतचन्द्र को कर्ण की उपमा स्पष्ट नहीं दी गई है। ध्वनि से प्रकट होती है।

रूपक अलङ्कार की भांति उपमा के भी निरवयवा, सावयवा, समस्तवस्तुविषया, एकदेशविवर्त्तिनी और परंपरिता आदि भेद होते हैं—
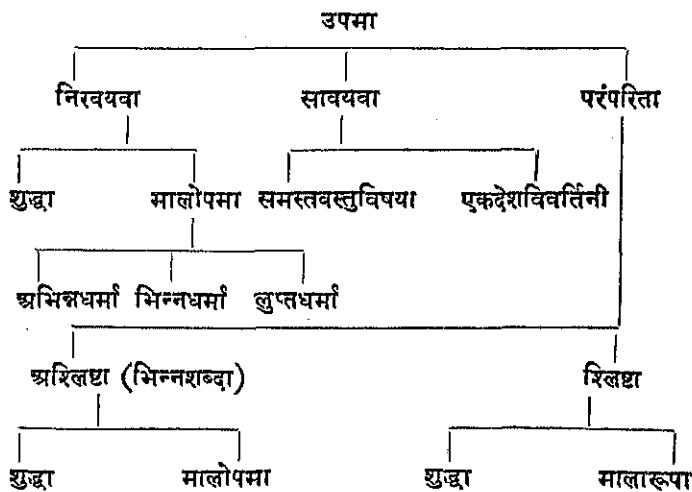
निरवयवा—

इसमें उपमान और उपमेय के अङ्ग या सामग्री नहीं कही जाती हैं।

शुद्ध निरवयवा—

"गोकुल-नरिंद इन्द्रजाल सो जुटाय
ब्रजबालन भुलाय कै छुटाय घने भाम सों,

दानशील पुत्र न था। इस बात का चन्द्रमा को बड़ा दुःख था। अब उसके वंश में (चन्द्र-वंश में) कर्ण के समान दानी उद्योतचन्द्र के सिंहासनारूढ़ होने पर चन्द्रमा का वह दुःख जाता रहा।

बिज्जुल से बास अंग उज्वल अकार करि
विविध बिलास रस हास अभिराम सों।
जान्यों नहिं जातु पहिचान्यों ना बिलात
रास मंडल ते स्याम भास मंडलते धामसों,
बाहन के जोट काय कंचन के कोट गयो
ओट कै दमोदर दुरोदर के दाम सों॥"८८॥

यहाँ दामोदर (श्रीकृष्ण) को दुरोदर के दाम (जूआ के द्रव्य) की उपमा दी गई है। जूए के अंग या सामग्री का कथन नहीं है अतः निरवयवा है। पूर्वोक्त 'हरिपद कोमल कमल से' आदि उदाहरण भी निरवयवा उपमा के हैं।

निरवयवा मालोपमा

जहाँ एक उपमेय को बहुत सी उपमा दी जाती हैं वहाँ मालोपमा होती है।

इसके तीन भेद हैं—

(१) अभिन्न-धर्मा। सभी उपमानों का एक ही धर्म कहा जाना।
(२) भिन्न-धर्मा। प्रत्येक उपमान का भिन्न-भिन्न धर्म कहा जाना।
(३) लुप्त धर्मा। समान धर्म नहीं कहा जाना।

अभिन्न-धर्मा—

"जैसे मद-गलित गयंदनि के वृन्द बेधि,
कन्दत जकन्दत मयन्द कढि जात है,
कहै 'रतनाकर' फनिंदनि के फंद फारि
जैसे बिनता को प्रिय-नन्द कढि जात है।
जैसे तारकासुर के असुर समूह सालि
स्कंद जगवंद निरद्वंद कढि जात है,

सूबा-सरहिंद-सेन गारि यौं गुविंद कढ्यो
ध्वंसि ज्यौं विधुंतुद कौं चंद कढि जात है।"८६॥

गुरु गोविन्दसिंह को मयंद (सिंह), विनतानन्द (गरुड़) स्कन्द और चन्द्र की चार उपमाएँ दी गई हैं। इनमें "कढि जात है" एक ही समान-धर्म कहा गया है। अतः अभिन्न-धर्मा मालोपमा है।

"अलिक* पै कलम चलैबो चतुरानन को
पत्थ-पन† लैबो इभ-दंत‡ कढि ऐबो सो,
राम रघु-राज कैसो अंगीकृत कैबो वलि
वज्र को बनैबो पार प्रकृति कैजैबो°सो।
भ्रू को खम खैबो बोर दैबो नीली रंग कैसो
हली-हल पाय हस्तिनापुर नवैबो§सो,
प्रेस को¶ सुनैबो तत्वबोध कैसो पैबो हैबो–
हाडा को हुकुम लेख हीरा पै लिखैबो§सो"॥२१॥

इसमें बूँदी-नरेश हाड़ा रामसिंह के हुकुम की दृढ़ता को 'अलिक पै कलम चलैबो चतुरानन को' इत्यादि अनेक उपमाएँ दी गई हैं। इन सभी में दृढ़ता रूप एक धर्म के कहे जाने से अभिन्न-धर्मा है।

भिन्न-धर्मा मालोपमा—

"मित्र ज्यों नेह निवाह करै कुल-कामिनि ज्यों परलोक सुधारन,
संपति दान कों साहिब ज्यों गुरु-लोगन ज्यों गुरु-ज्ञान प्रसारन।
'दासजू' भ्रातन सी बल-दाइनि मातुसी है नित दुःख निवारन,
या जग में बुधवंतन की वर विद्या बड़ी नित ज्यों हितकारन॥६१॥

---

* ललाट। † अर्जुन की प्रतिज्ञा। ‡ हाथी के दाँत। ° मोक्ष को प्राप्त हो जाना। § बलरामजी ने हस्तिनापुर को हल से टेढ़ा कर दिया था उसकी उपमा है। ¶ मन्त्र विशेष। § हीरे पर लिखा हुआ कभी नहीं मिटता।

यहाँ विद्या को मित्र और कुल कामिनि आदि अनेक उपमाएँ दी गई हैं। इनके 'नेह निभाना' और 'परलोक सुधारना' आदि पृथक् पृथक् धर्म कहे गये हैं, अतः भिन्न-धर्मा है।

लुप्तधर्मा मालोपमा—

"इन्द्र जिमि जंभ* पर वाडव† सु अंभ पर
रावन स-दंभ पर रघुकुल-राज हैं,
पौन वारि-वाह‡ पर शंभु रति-नाह° पर
त्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज हैं।
दावा$ द्रुम-दण्ड पर चीता मृग-झुण्ड पर
'भूषन' वितुण्ड¶ पर जैसे मृगराज है,
तेज तिमिरंस § पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ-वंस पर सेर सिवराज है"॥६२॥

यहां शिवराज के इन्द्रादिक बहुत से उपमानों का साधारण धर्म नहीं कहा गया अतः लुप्तधर्मा मालोपमा है।

सावयवा—

इसमें उपमेय के अवयवों को भी उपमान के अवयवों द्वारा उपमा दी जाती है।

यह कहीं समस्तवस्तुविषया और कहीं एकदेशविवर्तिनी होती है।

समस्तवस्तुविषया—

वदन कमल सम अमल यह भुज यह सरिस मृनाल,
रोमावली सिवाल सम सरसी सम यह बाल ॥६३॥

---

*जंभासुर एक राक्षस पर। †वाडवाग्नि। ‡मेघ। °कामदेव। $दावाग्नि। ¶हाथी। § अन्धकार।

यहां नायिका को सरसी (गृहवापिका-बावड़ी) की उपमा दी गई है। नायिका के मुख, भुजा आदि अवयवों को भी कमल, मृनाल आदि बावड़ी के अवयवों की उपमा दी गई है। अतः सावयवा है। उपमेय और उपमान के सारे अवयवों का शब्दों द्वारा कथन है अतः समस्तवस्तुविषया है।

एकदेश विवर्तिनी

इसमें उपमान का कहीं तो शब्द द्वारा कथन किया जाता है और कहीं नहीं।

मकर सरिस भट-गन लसतु कवि-जन रत्न समान,
कवितामृत-यस-चन्द्र के हो तुम भूप! निधान। ६४॥

यहाँ राजा को समुद्र की उपमा दी गई है। राजा के अवयव (सामान) योद्धा, कविजन, कविता और यश आदि को समुद्र के अवयव मकर, रत्न, अमृत और चंद्र आदि की उपमा शब्द द्वारा दी गई है। और राजा को जो समुद्र की उपमा शब्द द्वारा नहीं दी गई है, उसका मकर (मगर) रत्न आदि अवयवों की उपमा द्वारा आक्षेप होता है। क्योंकि मकर और रत्नों का उत्पत्ति-स्थान समुद्र ही है। अतः एकदेशविवर्तिनी उपमा है।।

परंपरिता उपमा।*

इसमें एक उपमा दूसरी उपमा का कारण होती है।

भिन्नशब्दा शुद्धा परंपारिता।

"लखन-उतर आहुति सरिस भृगुवर-कोप-कृसानु,
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल-भानु"॥६५॥

---

* परंपरिता उपमा के लिए अधिक स्पष्टता परंपरित रूपक में देखिये।

यहाँ परशुरामजी के वचनों को अग्नि की उपमा दिया जाना ही लक्ष्मणजी के उत्तर को आहुति की और श्री रघुनाथजी के वचन को जल की उपमा देने का कारण है। यहाँ श्लिष्ट शब्द नहीं है। कोप और कृशानु आदि भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा उपमा है।

भिन्न-शब्दा परंपरिता मालोपमा।

यवन-कुमुद-वन रवि सरिस जाको विदित प्रताप,
अरि-जस-कमलन-चंद सम राना भयो प्रताप ॥६६॥

महाराणा प्रताप को सूर्य और चंद्रमा की जो उपमा दी गई है, वह क्रमशः यवनों को कुमुद और शत्रुओं के यश को कमल की उपमा दिये जाने का कारण है। यहाँ ये उपमाएँ कुमुद और रवि आदि भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा दी गई हैं।

श्लिष्टा शुद्धा परंपरितोपमा।

"लघुन बढ़ावै अति उन्नन नमाय लावै,
फूल फल ललित लुनाय कै लगावै काम,
वक्रन* कों सरल बनावै चल-मूलन† कों,
दै जल हढ़ावै कंटकन कों छुरावै धाम।
भल दल‡ भावै औ अपक्कन पकावै त्योंव,
दीमन विहावै फटै तिनको न राखै नाम,
बूंदी सुधा-सींचीसी बगीचीसी बनाय राखी,
मालिकमनी° सो यों विराजै रावराजा राम"॥६७॥

---

* टेढ़े वृक्षों को, राजा के अर्थ में विरोधीजनों को। † जिनकी जड़ उखड़ गई है ऐसे वृक्षों को, राजा के अर्थ में निर्बलों को। ‡ पत्ते, राजा के अर्थ में सेना। ° माली कमनी अर्थात् निपुण माली, राजा के अर्थ में मालिकमणि।

इसमें बूंदी-नरेश रामसिंह को जो माली की उपमा दी गई है उसका कारण राजधानी बूंदी को बगीची की उपमा दिया जाना है। जब तक बूंदी को बगीची की उपमा न दी जायगी, राजा के लिये माली की उपमा सुसंगत नहीं हो सकेगी। 'मालिकमणि' और 'लघुन बढ़ावै' आदि श्लिष्ट-शब्द हैं---एक अर्थ राजा से और दूसरा अर्थ माली से सम्बन्ध रखता है। अतः श्लिष्टा परंपरिता उपमा है।

श्लिष्टा परंपरिता मालोपमा—

महीभृतन में लसत है तू सुमेरु सम सत्त,
हे नृपेंद्र! तू काव्य में वृषपर्वा सम नित्त ॥९८॥

यहाँ महीभृत (राजा या पर्वत) और काव्य (काव्य या शुक्राचार्य) पद श्लिष्ट हैं। यहाँ वर्णनीय राजा को सुमेरु और वृषपर्वा की उपमा दी जाने का कारण अन्य राजाओं को पर्वतों की और काव्य को शुक्राचार्य की उपमा दिया जाना है।

(२) अनन्वय अलङ्कार

एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय भाव से कथन किये जाने को अनन्वय अलङ्कार कहते हैं।

अनन्वय का अर्थ है अन्वय (सम्बन्ध) न होना। अनन्वय में अन्य उपमान का सम्बन्ध नहीं होता---उपमेय ही उपमान होता है। यह शाब्द और आर्थ एवं पूर्ण और लुप्त भी होता है।

शाब्द पूर्ण अनन्वय—

विधि-वंचित ह्वै,* करि किंचित पाप, भयो जिनके हिय खेद महा,
तिनके अघ-जारन को जननी! अवनीतल तीर्थ अनेक यहाँ।

---

* विधाता से ठगे हुए।

जिनको न समर्थ उधारन को अघ-नाशक कोउ न कर्म कहाँ,
उनको भवसागर-तारन को इक तोसी तुही बस है अघ-हा॥६६॥

यहाँ 'तो सी तुही' पद द्वारा गंगाजी को गंगाजी की ही उपमा दी गई है अतः उपमान और उपमेय एक ही वस्तु हैं। 'सी' शाब्दी-उपमा-वाचक शब्द है। 'भवसागर-तारन' समान-धर्म है अतः शाब्द पूर्ण अनन्वय है।

"आगे रहे गनिका गज-गीध सु तौ अब कोउ दिखात नहीं है,
पाप परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं है।
हे सुखदायक प्रेमनिधे! जग यों तो भले औ बुरे सब ही हैं,
दीनदयाल औ दीन प्रभो! तुमसे तुम ही हमसे हम ही हैं"॥१००॥

यहाँ 'तुम से तुम ही हमसे हम ही हैं' में 'से' शाब्दी-उपमानवाचक शब्द है अतः शाब्द अनन्वय है। जहाँ आर्थी-उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग होता है वहाँ आर्थ अनन्वय समझना चाहिये।

लुप्त अनन्वय—

सागर है सागर सदृश गगन गगन सम जानु,
है रन रावन राम को रावन राम समानु॥१०१॥

यहाँ 'विपुल' आदि धर्म का लोप है अतः लुप्त अनन्वय है।

अनन्वय अलङ्कार की ध्वनि भी होती है—

अनेकों आती हैं तटिनि गिरियों से निकल ये,
कहो श्रीभर्त्ता के चरण किसने क्षालन किये?
अनङ्गारी-धारी निज-शिर-जटा में कब किसे,
बतारी ए अम्बे! कवि कहँ तुम्हारी सम जिसे॥१०२॥

यहाँ श्री गंगाजी को गंगाजी की उपमा शब्द द्वारा नहीं दी गई है। 'तेरे सिवा दूसरी किस (नदी) ने श्री लक्ष्मीनाथ के पाद-प्रक्षालन किये हैं

और किसको श्रीशंकर ने अपनी जटा में धारण की है ?' इस वाक्य में "तूने ही श्री रमा-रमण के चरण-प्रक्षालन किये हैं और तुझे ही श्रीशंकर ने अपनी जटा में धारण किया है अर्थात् तेरे समान तू ही है" यह ध्वनि निकलती है।

(३) असम अलङ्कार

उपमान के सर्वथा अभाव वर्णन को 'असम' अलङ्कार कहते हैं।

'असम' का अर्थ है जिसके समान दूसरा न हो।

"सोक-समुद्र निमज्जत काढ़ि कपीस कियो जग जानत जैसो,
नीच निसाचर बैरिको बंधु विभीषन कीन्ह पुरन्दर तैसो।
नाम लिये अपनाय लियो 'तुलसी' सो कहो जग कौन अनैसो,
आरत-आरति-भंजन राम गरीब-निवाज न दूसर ऐसो ॥"१०३॥

'श्रीरघुनाथजी के समान दूसरा कोई नहीं है' इस कथन में उपमान का सर्वथा निषेध है।

"छबीला सांवला सुन्दर बना है नन्द का लाला,
वही ब्रज में नजर आया जपौं जिस नाम की माला।
अजाइब रंग है ख़ुशतर नहीं ऐसा कोई भू पर,
देऊँ जिसकी उसे पटतर पिये हूं प्रेम का प्याला"॥१०४॥

'दूसरा कोई नहीं भूपर' इस वाक्य द्वारा उपमान का निषेध है।

'असम' की ध्वनि—

"ज्वाज्वल्य ज्वाला मय अनल की फैलती जो कान्ति है,
कर याद अर्जुन की छटा होती उसी की भ्रांति है।
इस युद्ध में जैसा पराक्रम पार्थ का देखा गया,
इतिहास के आलोक में है सर्वथा ही वह नया॥"१०५॥

यहाँ चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ से 'अर्जुन के समान कोई नहीं हुआ' यह ध्वनि निकलती है। अतः 'असम' की ध्वनि है।

अनन्वय और लुप्तोपमा से असम की भिन्नता—

'अनन्वय' अलङ्कार में उपमेय को ही उपमान कहा जाता है और असम में उपमान का सर्वथा अभाव वर्णन किया जाता है।

धर्मोपमान-लुप्ता उपमा में भी उपमान का सर्वथा अभाव नहीं कहा जाता। जैसे—पूर्वोक्त—'भूं भूं करि मरि है वृथा केतकि कंटक मांहि' इस उदाहरण में मालती पुष्प के सादृश्य का सर्वथा अभाव नहीं कहा गया है किन्तु भ्रमर के प्रति यह कहा गया है कि "संभव है कहीं हो, पर तुझे केतकी के वन में मालती जैसा पुष्प अप्राप्य है"।

रसगङ्गाधर और अलङ्काररत्नाकर में असम को स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। काव्यप्रकाश की व्याख्या 'उद्योत' कार इसे अनन्वय के और 'प्रभा' कार इसे लुप्तोपमा के अन्तर्गत मानते हैं।

---

(४) उदाहरण अलङ्कार

जहाँ सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को भली प्रकार समझाने के लिये उसका एक अंश (विशेष रूप) दिखला कर उदाहरण दिखाया जाता है वहाँ 'उदाहरण' अलङ्कार होता है।

अर्थात् कहे हुए सामान्य अर्थ का इव, यथा, जैसे और दृष्टान्त आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा उदाहरण (नमूना) दिखाया जाना। जैसे—

विपदागत हू सद्गुनी करत सदा उपकार,
ज्यों मूर्छित अरु मृतक हू पारद है गुनकार ॥१०६॥

पूर्वार्द्ध में कही गई सामान्य बात का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

बलवान सों बैरि करि विनसति कुमति नितांत,
यामें हर अरु मदन को ज्यों प्रत्यक्ष दृष्टांत ॥१०७

पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

"जो गुन-हीन महाधन संचित ते न लहैं सुखमा जग मांही,
जो गुनवंत बिना धन हैं सु तिन्हैं कवि लोग 'गुविंद' सराहीं,
ज्यों दृग-लोल-विसाल फटे-पट ताहि लखैं जन रीझ बिकाहीं,
नैन-विहीन-तिया मनि-मंडित भूषन सों कछु भूषित नांही"॥१०८॥

पूर्वार्द्ध में जो सामान्य कथन है, उसका उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

उदाहरण अलङ्कार की अन्य अलङ्कारों से भिन्नता—

'दृष्टांत' अलङ्कार में उपमेय और उपमान का बिंब-प्रतिबिंब भाव होता है और 'इव' आदि उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। किन्तु उदाहरण अलङ्कार में सामान्य अर्थ को समझाने के लिये उसके एक अंश का दिग्दर्शन कराया जाता है। प्रायः साहित्याचार्यों ने इवादि का प्रयोग होने के कारण 'उदाहरण' अलङ्कार को उपमा का एक भेद माना है। पण्डितराज के मतानुसार यह भिन्न अलङ्कार है, उनका कहना है कि उदाहरण अलङ्कार में सामान्य-विशेष्य भाव है—उपमा में यह बात नहीं। और सामान्य-विशेष भाव वाले 'अर्थान्तरन्यास' में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता और 'उदाहरण' में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है इसलिये उदाहरण को भिन्न अलङ्कार मानना युक्ति-संगत है।

(५) उपमेयोपमा अलङ्कार

उपमेय और उपमान को परस्पर में एक दूसरे के उपमान और उपमेय कहे जाने को 'उपमेयोपमा' कहते हैं।

अर्थात् उपमेय को उपमान की और उपमान को उपमेय की उपमा दिया जाना, न कि किसी तीसरी वस्तु की। 'काव्यादर्श' में इसे अन्योन्योपमा नाम से उपमा का ही एक भेद माना है।

यह उक्त-धर्मा और व्यञ्ज-धर्मा दो प्रकार का होता है—

(१) उक्त-धर्मा भी दो प्रकार का होता है—

(क) समान-धर्मोक्ति। इसमें समान-धर्म कहा जाता है।

(ख) वस्तु प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट। इसमें एक ही धर्म दो वाक्यों में कहा जाता है।

(२) व्यञ्ज-धर्मा। इसमें समान धर्म का शब्द द्वारा कथन न होकर व्यंग्य से प्रतीत होता है।

समान धर्मोक्ति द्वारा—

"प्रीतम के चख चारु चकोरन है मुसकानि अमी करै चेरो,
रूप रसै बरसै सरसै नखतावलि लौं मुकतावलि घेरो।
'गोकुल' को तन-ताप हरे सब जौन भरे रवि काम करेरो,
सो मुख सो ससि सोहत है बलि सोहत है ससि सो मुख तेरो"॥१०६॥

यहाँ मुख और चंद्रमा को परस्पर उपमेय और उपमान कहा है। ताप-हारक आदि समान-धर्म कहे गये हैं।

वस्तु प्रतिवस्तु निर्दिष्ट द्वारा—

सोभित *कुसुमन-स्तवक युत विलसित कुच-युग धारि,
वनितासी† लतिका‡ लसत वनिता लतानुहारि°।

---

*पुष्पों का गुच्छा। †कामिनीसी। ‡वृक्ष की लता। °लता के समान।

यहाँ वनिता और लता को परस्पर में उपमा दी गई है। 'शोभित' और 'विलसित' एक ही धर्म दो वाक्यों में कहे गये हैं।

व्यन्ज-धर्मा।

सुधा, संत की प्रकृति सी, प्रकृति सुधा सम जान,
वचन खलन के विष सदस विष खल-वचन समान॥११०॥

यहाँ माधुर्य आदि धर्म, शब्द द्वारा नहीं कहे गये हैं—व्यंग्य से प्रतीत होते हैं।

उपमेयोपमा में जिनको परस्पर उपमा दी जाती है उनके सिवा अन्य (तीसरे) उपमान के निरादर किये जाने का उद्देश्य रहता है। अतः जहाँ अन्य (तीसरे) उपमान के तिरस्कार की प्रतीति न हो वहाँ उपमेयोपमा नहीं होता। जैसे—

रवि सम ससि ससि सदस रवि निसि सम दिन, दिन रातु,
सुख दुख के बस होय मन सब विपरीत लखातु॥१११॥

यहाँ रवि और शशि आदि की परस्पर समानता कहने में किसी तीसरे उपमान के तिरस्कार की प्रतीति नहीं है—केवल सुख दुःख के वशीभूत चित्त की दशा का वर्णन मात्र है। अतः ऐसे उदाहरणों में उपमेयोपमा नहीं है।*

(६) प्रतीप

प्रतीप का अर्थ है विपरीत या प्रतिकूल। प्रतीप अलङ्कार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता होती है। इसके पाँच भेद हैं—

---

* देखिये अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी व्याख्या उपमेयोपमा प्रकरण।

प्रथम प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करना।

दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल-राशि डुबा दिया हा,
तव आनन तुल्य प्रिये! शशि को अब मेघ-घटा में छिपा दिया हा।
गति की समता करते कलहंस उन्हें अति दूर बसा दिया हा,
विधि ने सबही तव अंग-समान सुदृश्य अदृश्य बना दिया हा*॥

वर्षा काल में वियोगी की उक्ति है। यहाँ सरोरुह (कमल) आदि प्रसिद्ध उपमानों को नेत्र आदि के उपमेय कल्पना किये गये हैं। दण्डी ने इसको 'विपर्योपमा' नाम से उपमा का एक भेद माना है।

द्वितीय प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करके वर्णनीय उपमेय का अनादर करना।

करती तू निज रूप का गर्व किन्तु अविवेक,
रमा, उमा, शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक ॥११३॥

नायिका की सुन्दरता कथन करना यहाँ कवि को अभीष्ट है अतएव नायिका वर्णनीय है। रमा, उमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को † उपमेय बताकर उसका (नायिका का) गर्व दूर किया गया है।

"चक्र हरि-हाथ मांहि, गंग सिव-माथ मांहि,
छत्र नरनाथन के साथ सनमान में,
कुंद वृंद बागन में नागराज नागन में,
पंकज तड़ागन में फटिक पखान में।

---

* कुवलयानन्द के पद्य का अनुवाद।

† श्री लक्ष्मीजी और पार्वतीजी आदि की उपमा नायिकाओं को दी जाती हैं इसलिए इनका उपमान होना प्रसिद्ध है।

सुकवि 'गुलाब' हेर्यो हास्य हरिनाच्छिनमें,
हीरा बहु खाननि में हिम हिम-थान में,
राम ! जस रावरो गुमान करै कौन हेतु,
याके सम देखो लसै चंद आसमान में ।"११४॥

यहाँ राजा रामसिंह का यश वर्णनीय है। चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय बताकर उस यश का निरादर किया गया है।

तृतीय प्रतीप

उपमेय को उपमान कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर करना।

हालाहल, मत गर्व कर—'मैं हूं क्रूर अपार'
क्या न अरे ! तेरे सदृश खल-जन-वचन, विचार ॥११५॥

यहाँ उपमेय दुर्जनों के वचनों को हालाहल के समान कहकर उपमान हालाहल के दारुणता सम्बन्धी गर्व का अनादर किया गया है।

चतुर्थ प्रतीप

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहना।

अर्थात् प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान कह कर फिर उपमान को उस समानता के (उपमा के) अयोग्य कहना।

तेरे मुख-सा पंकसुत या शशांक यह बात,
कहते हैं कवि झूठ वे बुद्धि-रंक विख्यात ॥११६॥

कमल और चन्द्रमा प्रसिद्ध उपमान हैं—इनकी उपमा मुख आदि को दी जाती है। यहाँ कमल को मुख की उपमा दी गई है। फिर मुख का उत्कर्ष बताने के लिये उस उपमा को 'यह बात कवि झूठी कहते हैं' इस वाक्य द्वारा अयोग्य कही गई है।

"दान तुरंगम दीजतु है मृग खंजन ज्यों चलता न तजै पल,
दीजतु सिंधुर सिंघलदीप के पीवर-कुंभ भरे मुकता फल।
ग्राम अनेक जवाहिर पुंज निरंतर दीजतु भोज किधौं नल,
मान महीपति के मन आगे लगै लघु कंकर सो कनकाचल।"११७

यहाँ उपमान—सुमेरु पर्वत को उपमेय–राजा मानसिंह के मन के सादृश्य के अयोग्य कहा है।

"पुण्य तपोवन की रज में यह खेल खेल कर खड़ी हुई,
आश्रम की नवलतिकाओं के साथ साथ यह बड़ी हुई,
पर समता कर सकी न उसकी राजोद्यान मल्लियाँ भी,
लज्जित हुई देखकर उसको नंदन-विपिन वल्लियाँ भी॥"११८॥

यहाँ नंदन-वन की लतिकाओं को उपमेय-शकुन्तला के सादृश्य के अयोग्य सूचन किया है।

पंचम प्रतीप

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप किया जाना।

'जब उपमान का कार्य उपमेय ही भलीभांति करने के लिये समर्थ है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता है' ऐसे वर्णन को कैमर्थ्य कहते हैं। इस प्रकार की उक्ति द्वारा यहाँ उपमान का तिरस्कार किया जाता है।

करता है क्या न अरविंद द्युति मंद और
क्या न यह दर्शक को मोद उपजाता है?
देख देख आते हैं चकोर चहुँ ओर क्या न?
देखते ही इसे क्या न काम बढ़ जाता है।
तेरा मुख-चन्द्र प्रिये! देखके अमंद फिर—
क्यों न नभचंद्र यह शीघ्र छिप जाता है,

सुधामय होने से भी मुधा यह दर्पित है
विंबाधर तेरा क्या न सुधा को लजाता है ।*११६॥

चन्द्रमा उपमान के कार्य कमलों की कान्ति हरण करना और दर्शकों को आनन्द देना इत्यादि हैं। इन कार्यों को करने की उपमेय मुख में सामर्थ्य बताई गई है। तीसरे पाद में चन्द्रमा की अनावश्यकता कहकर उसका अनादर किया गया है।

"वसुधा में बात रस राखी ना रसायन की
सुपारस पारस की भलीभाँत भानी तैं,
काम कामधेनु को न हाम† हुमायूं‡ की रही
कर डारी पौरस§ के पौरुष की हानी तैं।
हय गज गाज दान लाख को 'मुरार' कों दै
भूप जसवन्त कुल-रीति पहिंचानी तैं,
चिंतवन चित्त तें मिटायो चिंतामनिहू को
कलपतरु हू की कीन्हीं अलप कहानी तैं।"१२०॥

यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि उपमानों का कार्य राजा जसवन्तसिंह द्वारा किया जाना कह कर कामधेनु आदि उपमानों का निरादर किया गया है।

---

* अलङ्कारपीयूष में काव्यकल्पद्रुम (पूर्व संस्करण) के अनेक पद्य लिये गये हैं, जिनके नीचे काव्यकल्पद्रुम का नाम तक नहीं दिया है। कुछ पद्यों में कुछ अक्षर आगे पीछे करकर ज्यों के त्यों रख दिये हैं, उन्हीं में का यह कवित्त भी है। पाठकों को यह भ्रम न हो कि इसमें अलङ्कारपीयूष का भाव चुराया गया है।

† मारवाड़ी भाषा में इच्छा का नाम 'हाम' है।

‡ हुमायू एक पक्षी है वह जिसके सिर पर बैठ जाता है वही सम्राट् हो जाता है।

§ मन्त्र के बल से बनाया हुआ सुवर्ण का पुतला जिससे इच्छानुसार सुवर्ण लेते रहने पर भी वह वैसा ही बना रहता है।

श्लेष-गर्भित प्रतीप भी होता है—

तारक-तरल* पियूष मय हारक छवि-अरविंद,
तेरा मुख शोभित यहाँ उदित हुआ क्यों चन्द्र ॥१२१॥

यहाँ 'तारक-तरल' 'पियूष-मय' और 'हारक छवि अरविन्द' श्लिष्ट विशेषण हैं, ये मुख और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में समान हैं।

प्रतीप की रचना उर्दू में भी मिलती है—

"वह कफे पो हमने सोहलाये हैं नाज़ुक नर्म नर्म,
क्या जताती है तू अपनी नर्मी ऐ मखमल!।"१२२॥

यहाँ नायिका के चरण (उपमेय) द्वारा मखमल (उपमान) का निरादर किया गया है।

प्राचीनाचार्यों के मतानुसार प्रतीप को स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा गया है। वस्तुतः प्रतीप के प्रथम तीनों भेद उपमा के अन्तर्गत हैं और चतुर्थ भेद अनुक्त-धर्म व्यतिरेक एवं पंचम भेद एक प्रकार का 'आक्षेप' अलङ्कार है।†

(७) रूपक अलङ्कार

उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलङ्कार कहते हैं।

नाटक आदि दृश्य काव्यों में नट में दुष्यन्त आदि के स्वरूप का आरोप किया जाता है अतः नाटकादि काव्य को रूपक भी कहते हैं—'तद्रूपारोपाद्रूपकम्'—साहित्यदर्पण। इसी रूपक न्याय के आधार पर

---

* चन्द्रमा के पक्ष में भ्रमण करने वाले तारों के समूह से युक्त और मुख के पक्ष में नेत्रों में चपल तारक–श्याम बिन्दु।

† देखिये रसगङ्गाधर प्रतीप प्रकरण।

इस अलङ्कार का नाम रूपक है। रूपक अलङ्कार में उपमेय में उप-मान का आरोप किया जाता है। आरोप का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेना।

'अपह्नुति' अलङ्कार में भी उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है, किन्तु उसमें उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोप किया जाता है। रूपक में उपमेय का निषेध नहीं किया जाता। इसलिये लक्षण में 'निषेध रहित' पद का प्रयोग है।

रूपक के भेद इस प्रकार होते हैं—
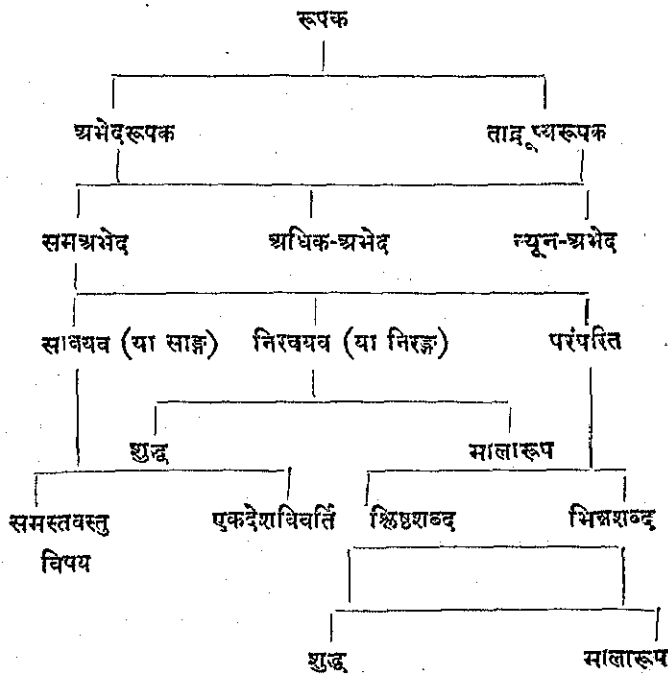
अभेद रूपक

उपमेय में अभेद से उपमान के आरोप किए जाने को अभेद रूपक कहते हैं।

अभेद का अर्थ है एकता। अभेद रूपक में आहार्य अभेद होता है। अर्थात् अभेद न होने पर भी अभेद कहा जाता है। जैसे 'मुखचन्द्र' में मुख और चन्द्रमा पृथक् पृथक् दो वस्तुयें होने पर भी मुख को ही चन्द्रमा कहा गया है। भ्रान्तिमान् अलङ्कार में भी अभेद होता है, पर उसमें आहार्य अभेद नहीं किया जाता। क्योंकि भ्रान्ति तभी सिद्ध हो सकती है जब वस्तुतः अभेद की कल्पना की जाती है।

सावयव रूपक

अवयवों* (अङ्गों) के सहित उपमेय में उपमान के आरोप किये जाने में सावयव रूपक होता है।

अर्थात् उपमेय के अवयवों में भी उपमान के अवयवों का आरोप किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) समस्तवस्तुविषय। सभी आरोप्यमाण† और सभी आरोप के विषयों‡ का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना।

---

* अवयव का अर्थ अङ्ग है। शरीर के हाथ और पैर की भाँति यहाँ केवल अङ्ग मात्र ही नहीं किन्तु उपकरण (सामग्री) को भी अङ्ग माना है।

† जिसका आरोप (रूपक) किया जाता है उसको आरोप्यमाण कहते हैं। आरोप्यमाण से यहाँ उपमान से तात्पर्य है।

‡ जिसमें आरोप किया जाता है उसको आरोप का विषय कहते हैं। आरोप के विषय से यहाँ उपमेय से तात्पर्य है। 'मुखचन्द्र' में चन्द्रमा उपमान का मुख-उपमेय में आरोप है, अतः चन्द्रमा आरोप्यमाण है और मुख आरोप का विषय।

(२) एकदेशविवर्ति । कुछ आरोप्यमाणों (उपमानों) का शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाना और कुछ का स्पष्ट नहीं कहा जाना—जो स्पष्ट नहीं कहे जाते हैं, उनका अर्थ-बल से बोध हो जाता है।

सावयव समस्तवस्तुविषय ।

इस व्योम-सरोवर* में निखरा सखि! है यह नीलिम-नीर† भरा,
अति भूषित है उडुपावलि‡ का मुकुलावलि-मंडल§ रम्य घिरा।
कर षोडस$ हैं नव पल्लव ये जिनकी छबि से यह है उभरा
शशि-कंज विकासित है जिसमें यह शोभित अंक-मिलिन्द¶ गिरा॥१२३

चन्द्रमा को कमल रूप कहा गया है। चन्द्रमा-उपमेय में उपमान-कमल का आरोप है और उपमेय-चन्द्रमा के अवयवों में (आकाश, आकाश की नीलिमा, तारागण और सोलह-कला आदि अङ्गों में) भी उपमान-कमल के अवयवों का (सरोवर, जल, कमल-कलिकाएँ, पत्र आदि अङ्गों का) आरोप किया गया है। और चन्द्रमा आदि सभी आरोप के विषय और कमल आदि सभी आरोप्यमाण शब्द द्वारा कहे गये हैं, अतः समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक है।

"आनन अमल चंद्र चंद्रिका पटीर-पंक,
दसन अमंद कुंद-कलिका सुढंग की।
खंजन नयन, पदपानि मृदुकंजनि के
मंजुल मराल चाल चलत उमंग की।
कवि 'जयदेव' नभ नखत समेत सोई
ओढ़ैं चारु चूनरि नवीन नील रंग की।

---

* आकाश रूप सरोवर। † आकाश की नीलिमा रूपी जल। ‡ तारागण। § कमल की अधखिली कलियों का समूह। $ चन्द्रमा की सोलह कला। ¶ चन्द्रमा में कलङ्क है वही भ्रमर है।

लाज भरी आज वृजराज के रिझाइबे कों
सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की।"१२४॥

यहाँ शरद्-ऋतु में सुन्दरी-नायिका का रूपक है। शरद की सामग्री चन्द्र, चन्द्रिका, कुन्द-कलिका, खंजन और कमल आदि में भी मुख, पटीरपंक (चन्दन), दन्त, नेत्र, हाथ और चरण आदि कामिनी के अङ्गों का आरोप है, शरद आदि आरोप के विषय और कामिनी आदि आरोप्यमाण सभी का शब्दों द्वारा कथन किया गया है।

"रनित भृङ्ग घंटावली† झरित दान मधु-नीर,
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर-कुंज-समीर।"१२५॥

यहाँ कुञ्ज की समीर में हाथी का आरोप है। समीर की सामग्री भृङ्ग और मकरन्द में हाथी के घंट और दान का (मद-जल का) आरोप है।

सावयव एकदेशविवर्त्ति।

‡भव-ग्रीषम की तन-ताप प्रचंड असह्य हुई जलते-जलते,
बल से अविवेक-जँजीर उखाड़, नहीं रुकते चलते-चलते।
उस आत्म-सुधा-सर में झट जा सुकृतीजन मज्जन हैं करते,
अति शीतल निर्मल वृत्ति-मयी झरने जिसमें रहते झरते॥१२६॥

यहाँ सत्पुरुषों में हाथी का रूपक है। भव (संसार) में ग्रीष्मऋतु का और अज्ञान में जंजीर (लोहे की सांकल) का आरोप शब्द द्वारा

---

† भृङ्गों की गुञ्जार रूप घंटा। ‡ संसार के ताप से तप्त होकर अज्ञान रूप जंजीर को बलपूर्वक तोड़कर पुण्यात्मा जन आत्मा के विचाररूपी अमृत के सरोवर में जाकर मज्जन करते हैं, जहाँ एकाकारवृत्ति रूप शीतल झरने सर्वदा सारी तापों को हरने वाले बहते रहते हैं।

किया गया है। अतः यह आरोप शब्द द्वारा है। सुकृतीजनों में हाथी का आरोप शब्द द्वारा नहीं किया गया है; वह जंजीर आदि अन्य आरोपों के सम्बन्ध द्वारा अर्थ-बल से बोध होता है, क्योंकि जंजीर से हाथी का बन्धन होना प्रसिद्ध है अतः एकदेशविवर्त्ति सावयव है।

रूप-सलिल अति चपल चख नाभि-भँवर गंभीर,
है वनिता सरिता विषम जहँ मज्जत मति-धीर ॥१२७॥

यहाँ नायिका को नदी रूप कहा है। नायिका के रूप को जल और उसकी नाभि को भँवर (जल में पड़ने वाला भँवर) शब्द द्वारा कहा गया है अतः यह आरोप शब्द द्वारा है। नेत्रों को केवल चपल कहा गया है—नेत्रों में मीन का आरोप शब्द द्वारा नहीं किया गया है। नदी में चपल मीनों का होना सिद्ध है, इसलिये नदी के अन्य आरोपों के सम्बन्ध से नेत्रों में मीन का आरोप अर्थ-बल द्वारा जाना जाता है। अतः एकदेशविवर्त्ति सावयव रूपक है।

निरवयव (निरङ्ग) रूपक

अवयवों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप किये जाने में निरवयव रूपक होता है।

अर्थात् अवयवों के बिना उपमान का उपमेय में आरोप किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) शुद्ध। एक उपमेय में एक उपमान का अवयव के बिना आरोप होना।

(२) मालारूप। एक उपमेय में बहुत से उपमानों का अवयवों के बिना आरोप होना।

शुद्ध निरवयव।

"अनुराग के रंगनि रूप-तरंगन अंगनि ओप मनौ उफनी,
कहि "देव" हियो सियरानी सबै सियरानी को देखि सुहाग सनी।
घर-धामन वाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि-सुधा घनसार घनी,
सखियान के आनन-इंदुन तें अंखियान की वंदनवारि तनी॥"१२८

यहाँ मुसक्यान में सुधा का, आनन में इंदु (चंद्रमा) का और अँखियान में वंदनवार का आरोप है। इनके अवयव नहीं कहे गये हैं।

"जीति सकै तिनतें नर को जयदायक जो ह्वै गुपाल सो नांही,
वा द्विजराज के बान समान करै उपमान पै काल सो नांही।
हाथन में चल-चाल अनूपम है चित में चल-चाल सो नांही,
द्रोन-बराह की डाढन में परिके कढिबो कछु ख्यालसो नांही॥"१२९

यहाँ द्रोणाचार्य में बराह का आरोप है। अवयवों का कथन नहीं है, अतः निरवयव है।

रूपक का प्रयोग उर्दू के कवियों ने भी बहुधा किया है—

"लपट कर कृष्णजी से राधिका, हँस कर लगीं कहने,
मिला है चांद से ए लो अँधेरे पाख का जोड़ा॥"१३०॥

यहाँ भी राधा और कृष्ण में चंद्रमा और अँधेरी रात्रि का आरोप है।

निरवयव मालारूपक।

"साधन की सिद्धि रिद्धि साधुन अराधन की,
सुभग समृद्धि-वृद्धि सुकृत-कमाई की,
कहै 'रतनाकर' सुजस-कल-कामधेनु,
ललित लुनाई राम-रस-रुचराई की।
सब्दनि की वारी चित्रसारी भूरि भावनि की,
सरवस सार सारदा की निपुनाई की,

दास तुलसी की नीकी कविता उदार चारु,
जीवन अधार औ सिँगार कविताई की ।।"१३१।।

यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता में साधनों की सिद्धि आदि अनेक निरवयव उपमानों का आरोप है। अतः निरवयव माला-रूपक है।

"विधि के कमंडलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
हरि-पद-पङ्कज प्रताप की लहर है,
कहै 'पदमाकर' गिरीस सीस मंडल के
मुंडन की माल ततकाल अघ-हर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य-पथ
जन्हु जप-जोग-फल फैल की फहर है,
छेम की छहर गंग! रावरी लहर
कलिकाल को कहर जम-जाल को जहर है।।"१३२।।

यहाँ श्रीगङ्गाजी में ब्रह्मा के कमंडलु की सिद्धि आदि अनेक निरवयव उपमानों का आरोप है।

उर्दू काव्य में माला रूपक—

"न देना हाथ से तुम रास्ती कि आलम में,
असा है पीर को और सैफ है जवां के लिए* ।"१३३।।

यहाँ सत्य में वृद्धों की लकड़ी और युवाओं की तलवार का आरोप है।

परंपरित रूपक

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है वहाँ परंपरित रूपक होता है।

---

* आलम (संसार) में तुम रास्ती (सत्यता) को न खो देना। वह पीर (वृद्धों) के लिए असा (हाथ में रखने की लकड़ी) और जवां (युवकों) के लिए सैफ (तलवार) है।

'परंपरित' का अर्थ है परंपरा आश्रित। अर्थात् कार्य और कारण रूप से आरोपों की परंपरा होना--उपमेय में किये गये एक आरोप का दूसरे आरोप के आश्रित होना। अतः 'परंपरित' रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। इसके दो भेद हैं---

१ श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग में रूपक हो।

२ भिन्न-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग बिना भिन्न-भिन्न शब्दों में रूपक हो।

ये दोनों 'शुद्ध' और 'मालारूप' होते हैं।

श्लिष्ट शब्द निबन्धन शुद्ध परंपरित।

"अद्भुत निज-आलोक सों त्रिभुवन कीन्ह प्रकास,
मुक्तारत्न सु-बंस-भव नृप! तुम हो गुन रास॥१३४॥

बंश शब्द श्लिष्ट है, इसके दो अर्थ हैं--बाँस और कुल। कुल में जो बाँस का आरोप है, वह राजा में मोती के आरोप करने का कारण है। क्योंकि राजा को मुक्तारत्न कहना तभी सिद्ध हो सकेगा जब मोतियों के उत्पन्न होने के स्थान बाँस* का राजा के कुल में आरोप किया जायगा। एक उपमेय में एक ही उपमान का आरोप है अतः शुद्ध श्लिष्ट-शब्द निबन्धन परंपरित है।

"सखि! नील-नभस्सर में उतरा यह हंस अहो तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिमबिंदु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता,
गड़ जाय न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता।"१३५।

इस प्रभात वर्णन में 'हंस' और 'कर' श्लिष्ट-शब्द हैं। हंस (सूर्य) में हंस (पक्षी) का जो आरोप है वह नभ में सरोवर के, तारागणों में

---

* बाँस में मोती का उत्पन्न होना प्रसिद्ध है।

मोतियों के और कर (किरणों) में कर (हाथ) के आरोप का कारण है। क्योंकि सूर्य को हंस रूप कहा जाने के कारण ही नभ को सरोवर, तारागणों को मोती और किरणों को हाथ कहा जाना सिद्ध होता है।

"लेके विसराम* द्विजराज† कै‡ अघाय जाय,
दौरि दौरि टारै सीत छाया श्रम दाह के।
सेवैं कोटरीन° घने अध्वग$ अधीन हेय卐,
पीन होइबे को रहि लेत फल लाह के।
केते पच्छचाह§ के उछाह के उमाहे रहैं,
मंजु मधु-भोजी करै मधु अवगाह के।
वाह‖ के मैं वचन सराह के कहालौं कहौं,
राह के रसाल÷ कोस∠ राम-नरनाह के॥"१३६॥

बूंदी नरेश रामसिंह के कोश (खजाने) में राह के रसाल (मार्ग के आम्र वृक्ष) का आरोप है। जब तक द्विज आदि में पक्षी आदि का आरोप नहीं किया जाता तब तक 'कोश' में 'रसाल' का आरोप सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ 'द्विजराज' आदि शब्द श्लिष्ट हैं।

श्लिष्ट-शब्द निबन्धन माला रूप परंपरित।

अरिकमलासंकोच-रवि मुनि-मानस-सुमराल,
विजय-प्रथम-भव-भीम तुम चिरजीवहु भुविपाल!✓१३७॥

---

* आश्रय। †आम के वृक्ष के अर्थ में द्विज-पक्षी और राजा के अर्थ में द्विज ब्राह्मण। ‡कितनेक। °आम के अर्थ में पक्षियों के रहने के कोटर-स्थान, राजा के अर्थ में कोठरी अर्थात् घर। $ पथिक। 卐 मार्ग छोड़कर। §आम के अर्थ में पंख और राजा के अर्थ में पक्ष अर्थात् सहाय। ‖स्तुति के वाक्य। ÷रसाल-आम वृक्ष, राजा के अर्थ में रस के स्थान। ∠भंडार खजाना। ✓हे नृप, तुम शत्रुओं की कमला (लक्ष्मी) को संकुचित करने वाले (श्लेषार्थ-कमल को असंकुचित करने वाले-

'अरि कमलासंकोच' 'मानस' और 'विजय-प्रथम-भव-भीम' श्लिष्ट पद हैं। 'मानस' (चित्त) आदि में श्लेष द्वारा मानसरोवर आदि का जो आरोप है वह राजा में हंस आदि के आरोप का कारण है। क्योंकि जब तक हंस के निवास स्थान मानसरोवर आदि का रूपक मानस आदि में न किया जाय, तब तक राजा को हंस आदि कहना सिद्ध नहीं होसकता है। यहाँ राजा में 'रवि' 'मराल' आदि अनेक आरोप किये जाने से मालारूपक है।

इस श्लिष्ट शब्दात्मक रूपक में श्लिष्ट-शब्दों का चमत्कार शब्द के आश्रित है और रूपक का चमत्कार अर्थ के आश्रित है, अतः यह शब्दार्थ उभय अलङ्कार है। इसमें रूपक का (जो अर्थालङ्कार है) चमत्कार प्रधान है। क्योंकि राजा को 'रवि' 'हंस' और 'भीमसेन' कहना ही अभीष्ट है। अतः 'श्लेष' इस रूपक का अङ्ग मात्र है अतः इसे अर्थालङ्कारों में लिखा गया है।

भिन्न शब्द निबन्धन परंपरित।

"ऐसो जो हौं जानतो कि जै है विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो,
आजु लौं कत नरनाहन की नांही सुनि,
नेह सौं निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि
चाबुक चिताउनी तें मारि मुँह मोरतो,
भारी प्रेम-पाथर नगारा दै गरे सों बांधि
राधावर-बिरद के वारिधि में बोरतो॥"१३८॥

खिलानेवाले) सूर्य हो, गुणीजनों के मानस (चित्त) रूप मानस (मान सरोवर) में रहने वाले हंस रूप हो और विजय के प्रथम रहने वाले हो अथवा विजय (अर्जुन) के प्रथम उत्पन्न होने वाले भीमसेन रूप हो।

यहाँ 'प्रेम' में पत्थर को गले में बाँधने का जो आरोप है उसका कारण 'राधावर' में समुद्र का आरोप है—राधावर में समुद्र के आरोप किये जाने पर ही प्रेम में पत्थर का आरोप सिद्ध होता है। और प्रेम में पत्थर आदि का आरोप भिन्न-भिन्न शब्दों में है, न कि श्लिष्ट शब्दों में, अतः भिन्न शब्द परंपरित है।

"हय गज रथादिक थे जहाँ पाषाण-खंड बड़े बड़े,
सिर, कच, चरण, कर आदि ही जल-जीव जिसमें थे पड़े।
ऐसे रुधिर-नद में वहाँ रथ रूप नौका पर चढ़े—
श्रीकृष्ण-नाविक युक्त अर्जुन पार पाने को बढ़े" ॥१३६॥

यहाँ अर्जुन के रथ में नौका का आरोप ही श्रीकृष्ण में नाविक के आरोप का कारण है। यहाँ रणभूमि और रुधिर-नद के पाषाण खण्ड आदि अङ्गों का कथन होने में जो सावयव रूपक है वह परंपरित रूपक का अङ्ग है।

"या भव परावार को उलँघि पार को जाइ
तिय-छवि-छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही आइ" ॥१४०॥

यहाँ स्त्रियों की सुन्दरता में छायाग्राहिणी* के आरोप का कारण संसार में समुद्र का आरोप है।

"लोभ-कफ, क्रोध-पित्त प्रबल मदन-वात,
मिल्यो सन्निपात उतपात उलच्यो रहै।
आक बाक बकि बकि औचकि उचकि चकि,
दौरि दौरि थकि थकि मरत पच्यो रहै।
सब जग रोगी है सँयोगी औ वियोगी भोगी,
पथ न रहत मनोरथ न रच्यो रहै।

---

* समुद्र में रहनेवाला ऐसा जीव जो समुद्र के ऊपर जाने वालों की छाया को ग्रहण करके उन्हें आकर्षित कर लेता है।

होय अजरामर महौषधि-सँतोष सेवै;
पावै सुख-मोक्ष जो त्रिदोष सों बच्यो रहै"॥१४१॥

यहाँ लोभ, क्रोध, और काम में कफ, पित्त और वात के आरोप करने का कारण सन्तोष में महौषधि का आरोप किया जाना है।

मालारूप भिन्न शब्द परंपरित।

वारिधि के कुम्भज* घन-वन के दवानल,
तरुन-तिमिर† हू के किरन-समाज‡ हौ।
कंस के कन्हैया, कामधेनु हू के कंटकाल,
कैटभ§ के कालिका, विहङ्गम के बाज हौ।
'भूषन' भनत जग जालिम के सचीपति¶,
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज§ हौ।
रावन के राम, सहस्रवाहु के परसुराम,
दिल्लीपति-दिग्गज के सिंह सिवराज हौ" ॥१४२॥

यहाँ शिवराज में अगस्त्य आदि के आरोप का कारण दिल्लीपति बादशाह में समुद्र आदि का आरोप किया जाना है। अगस्त और दावानल आदि बहुत से आरोप हैं अतः मालारूप है। ये आरोप भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा हैं अतः भिन्न शब्द परंपरित है।

सावयव रूपक और परंपरित रूपक का पृथक्करण—

सावयव रूपक में एक प्रधान आरोप होता है और अन्य आरोप उसके अङ्गभूत होते हैं अर्थात् प्रधान आरोप सुप्रसिद्ध होता है—वह

* अगस्त्य मुनि। † घोर अन्धकार। ‡ सूर्य। § एक दैत्य। ¶ इन्द्र। § गरुड़।

अन्य आरोपों के बिना ही सिद्ध हो जाता है*—उसके लिए दूसरा आरोप नियत (अपेक्षित या आवश्यक) नहीं होता। जैसे—'इस व्योम सरोवर में सखि नीलिमा.........' (पद्य सं० १२३) में चन्द्रमा में जो कमल का प्रधान आरोप है वह प्रसिद्ध है अतः वह 'नभ' आदि में सरोवर आदि के आरोप किये बिना ही सिद्ध हो जाता है; अतः इसके लिए नभ आदि में सरोवर आदि का आरोप अपेक्षित नहीं है—रूपक को केवल सावयव बनाने के लिये चन्द्रमा के अवयवों में कमल के अवयवों का आरोप किया गया है।

परंपरित रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अर्थात् एक आरोप दूसरे आरोप के बिना सिद्ध नहीं हो सकता†। जैसे—'ऐसो जो जानतो.........' (पद्य सं० १३८) में राधावर में जब तक समुद्र का आरोप नहीं किया जायगा, प्रेम में पत्थर का आरोप सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि राधावर और समुद्र का साधर्म्य प्रसिद्ध नहीं अतएव एक आरोप दूसरे आरोप का कारण है। सावयव रूपक और परंपरित में यही भेद है।

'भारतीभूषण' में दिये गये सावयव रूपक के—

"सूरजमल कवि-वृन्द-रवि गुरु-गनेस-अरविंद,
पावे सुमति-मरंद दें मो से मलिन मिलिंद॥"

---

* 'साङ्गरूपके तु वर्णनीयस्याङ्गिनः रूपणं सुप्रसिद्धसाधर्म्यनिमित्तकमेव न तु तत्राङ्गरूपणमेवनिमित्तम्, तस्य तद्विनाऽप्युपपत्तेः। काव्यप्रकाश, वामनाचार्य व्याख्या, पृ० ७२७–७२८। और देखिये, रसगङ्गाधर पृ० २३४।

† 'नियते वर्णनीयत्वेनावश्यके प्रकृते यः आरोपः.........' काव्यप्रकाश, वामनाचार्य व्याख्या, पृ० ७२८। और साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।३३ वृत्ति।

इस उदाहरण में सावयव नहीं किन्तु परंपरित है। वक्ता में जो मिलिंद (भ्रमर) का आरोप है वह महाकवि सूर्यमल में 'रवि' और स्वामी गणेशपुरी में अरविंद का आरोप किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वक्ता का और भ्रमर का साधर्म्य अप्रसिद्ध है अतः एक आरोप दूसरे आरोप का कारण है।

ऊपर दिये हुए सभी उदाहरणों में उपमेय में उपमान का आरोप समानता से कुछ—न्यूनता या अधिकता के बिना—किया गया है। अतः ये सभी सम-अभेद रूपक के उदाहरण हैं। भामह, उद्भट और मम्मट आदि ने केवल सम-अभेद-रूपक लिखा है। साहित्यदर्पण और कुवलयानन्द में 'अधिक' और 'न्यून' रूपक भी लिखे हैं—

अधिक और न्यून रूपक

उपमेय में आरोप होने से पहिले की उपमान की स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा उपमेय में आरोप किये जाने के बाद जहाँ कुछ अधिकता कही जाती है वहाँ अधिक रूपक और जहाँ कुछ न्यूनता कही जाती है वहाँ न्यून-रूपक होता है।

दण्डी ने अधिक रूपक को व्यतिरेक-रूपक नाम से लिखा है।*

अधिक रूपक—

"कंचन की बेल सी अलेल इक सुंदरी ही,
अंग अलबेल गई गोकुल की गैलै है;
पातरे वसन वारी कंचुकी कसन वारी,
मो-मन लसन वारी परी जाकी ऐलै है।

---

* काव्यादर्श २।८८–९०

'ग्वाल' कवि पीठि पै निहारी सटकारी कारी,
तब तैं बिथा की बड़ी भूलि गई सैलै है ;
आली ! हम कालीकों उतालीनाथ लीयो हुतौ,
वाकी वैनी-व्याली को विलोकैं विष फैलै है" ॥१४३॥

यहाँ वेणी में व्याली (सर्पिणी) का आरोप करके वेणी रूप सर्पिणी के देखने मात्र से विष का फैल जाना, यह अधिकता कही गई है।

"सुनि समुझहि जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग,
लहहिं चार फल अछत तनु साधु-समाज-प्रयाग" ॥१४४॥

यहाँ साधु-समाज में प्रयागराज का आरोप है। प्रयागराज के सेवन से मरने के बाद मुक्ति मिलती है। साधु-समाजरूपी प्रयागराज द्वारा 'अछत तनु' (इसी शरीर में) चारों फलों का (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) मिलना कहा गया है।

वास्तव में 'अधिक' रूपक 'व्यतिरेक' अलङ्कार से भिन्न नहीं है।

न्यून रूपक—

है चतुरानन-रहित विधि द्वै भुज रमानिवास,
भाल-नयन बिन संभु यह राजतु हैं मुनि व्यास ॥१४५॥

यहाँ श्रीवेदव्यासजी को चार मुख रहित ब्रह्मा, दो भुजा वाले श्री विष्णु और ललाट के नेत्र रहित शिव कहकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव उपमानों की स्वाभाविक अवस्था से कुछ न्यूनता कही गई है।

ताद्रूप्य रूपक

उपमेय को उपमान का जहाँ भिन्न (दूसरा) रूप कहा जाता है वहाँ ताद्रूप्यरूपक होता है।

ताद्रूप्य रूपक केवल कुवलयानन्द में लिखा है, अन्य प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं है। ताद्रूप्य भी अधिक और न्यून होता है—

अमिय झरत चहुं ओर अरु नयन-ताप हरिलेत,
राधा-मुख यह अपर ससि सतत उदित सुखदेत॥१४६॥

यहाँ 'अपर ससि' पद द्वारा श्री राधिकाजी के मुख-उपमेय को उपमान-चन्द्रमा से भिन्न कहा गया है। 'सतत उदित' के कथन से यह अधिक ताद्रूप्य है।

"वह कोकनद-मद-हारिणी क्यों उड़ गई मुख-लालिमा,
क्यों नील-नीरज-लोचनों की छागई यह कालिमा,
क्यों आज नीरस दल सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया,
क्यों चंद्रिका से हीन है यह चंद्रमा होकर नया"॥१४७॥

इस विरह-दशा के वर्णन में दमयन्ती के मुख को 'नया चन्द्रमा' कहने में ताद्रूप्य रूपक है। और 'चन्द्रिका से हीन' कहने के कारण यह न्यून ताद्रूप्य है।

काव्यनिर्णय में भिखारीदासजी ने न्यून ताद्रूप्य का—

"कंज के संपुट हैं ये खरे हिय में गड़िजात ज्यों कुंत की कोर हैं,
मेरु हैं पै हरि-हाथ में आवत चक्रवती पै बड़े ही कठोर हैं।
भावती! तेरे उरोजनि में गुन 'दास' लखे सब औरहिं और हैं,
संभु हैं पै उपजावैं मनोज सुवृत्त हैं पै परचित्त के चोर हैं"॥१४८॥

यह उदाहरण दिया है। स्तनों में जिन कमल के संपुट आदि का आरोप है उनके साथ स्तनों का विलक्षण वैधर्म्य दिखाकर विरोध बताया गया है—सभी आरोप प्रायः विरोध की पुष्टि करते हैं। अतः इसमें न्यून-ताद्रूप्य-रूपक नहीं है, 'विरोध' अलङ्कार प्रधान है।

'रामचंद्रभूषण' में लछिरामजी ने 'अधिक' ताद्रूप्य का—

"बसत मलीन वह बामी में बिसासी, यह,
मखमली म्यान सों लहरबाज लाली तैं;
'लछिराम' जंग धूम-धाम की लपट यामें,
वह दबिजात परसत मुख हाली तैं।
वह काटि भागै यह कातिल रुकै न राव,
रामचंद्र-कर वर पावै मुंडमाली तैं;
जौहर ज्वलित भरी कहर कृपान बंक,
अधिक बहाली फन-मालिनी फनाली तैं" ॥१४६॥

यह उदाहरण दिया है। इसमें न तो तद्रूप रूपक है और न अभेद रूपक ही—न तो कृपाण में सर्पिणी का ताद्रूपता से आरोप है और न अभेद से ही। 'बसत मलीन वह बामी' इत्यादि विशेषणों द्वारा उपमान सर्पिणी का अपकर्ष, और 'यह मखमली म्यान' इत्यादि विशेषणों द्वारा उपमेय भगवान रामचन्द्र की कृपाण का उत्कर्ष वर्णन है, अतः स्पष्टतया शुद्ध व्यतिरेक अलङ्कार है।

काव्यादर्श में दण्डी ने रूपक के रूपक-रूपक, युक्त, अयुक्त और हेतु आदि कुछ और भी भेदों का निरूपण किया है। जैसे—

रूपक-रूपक।

रूपक का भी रूपक अर्थात् उपमेय में एक उपमान का आरोप करके फिर एक और आरोप किया जाना, जैसे—

तो मुख-पंकज-रंग-थल लखि मो-मन ललचातु,
जहँ भ्रू-लतिका-नर्तकी भाव-नृत्य दिखरातु ॥१५०॥

यहाँ मुख में कमल का आरोप करके फिर मुखरूप कमल में रंगमंच का एक और आरोप किया गया है। और भ्रू में लतिका का आरोप करके फिर भ्रुकुटी रूप लतिका में दूसरा आरोप नर्तकी का किया गया है। दण्डी के जिस पद्य का यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य के भाव पर कविप्रिया में रूपक-रूपक का—

"काछैं सितासित काछनी "केसव" पातुरि ज्यों पुतरीनि विचारो,
कोटि कटाच्छ चलैं गति भेद नचावत नायक नेह निनारो,
बाजतु है मृदु-हास मृदंग सुदीपति दीपन को उजियारो,
देखत हौं हरि ! हेरि तुम्हें यहि होत है आंखिन ही में अखारो॥"

यह उदाहरण दिया है। इसमें नेत्रों में केवल अखाड़े (रंगमंच) का साङ्ग आरोप है। अतः साधारण रूपक है—रूपक-रूपक नहीं। यदि नेत्रों में पङ्कज आदि का एक आरोप करके फिर नेत्रों में अखाड़े का दूसरा आरोप किया जाता तो रूपक-रूपक हो सकता था। संभवतः महाकवि केशव दण्डी के रूपक-रूपक का यथार्थ स्वरूप नहीं समझने के कारण इसका लक्षण और उदाहरण उपयुक्त नहीं लिख सके।

युक्त रूपक—

स्मित-विकसित कुसुमावली सोभित चल-दृग-भृङ्ग,
तेरे मुख ने हे प्रिये, किया मीन-मद भङ्ग ॥१५२॥

यहाँ स्मित में पुष्प का और चञ्चल नेत्रों में भृङ्ग का आरोप है। पुष्प और भृङ्गों का सम्बन्ध युक्त (उचित) है, अतः युक्त रूपक है।

अयुक्त रूपक—

स्निग्ध नयन पंकज सुभग शशिद्युति है मृदु-हास,
कलित अलक नागिनि ललित तेरा मुख सविलास ॥१५३॥

यहाँ नेत्र में पङ्कज का और मृदु-हास्य में चन्द्रमा की चाँदनी का आरोप है। इसमें कमल और चाँदनी परस्पर विरोधियों का अयुक्त सम्बन्ध होने के कारण अयुक्त रूपक है।

हेतु रूपक—

हो समुद्र गांभीर्य सौं गौरव सौं गिरि रूप,
कामदता सों कलपतरु सोभित हो तुम भूप ॥१५४॥

यहाँ गांभीर्य आदि साधारण धर्मों को समुद्र आदि उपमानों के कारण बताये गये हैं, अतः आचार्य दण्डी के मतानुसार यह हेतु रूपक है।

रूपक की ध्वनि—

हरतु दसौं दिस को तिमिर करतु जु ताप विनास,
सकुचिजात जलजात लखि तेरो वदन स-हास ॥१५५॥

यहाँ मुख को चन्द्र रूप शब्द द्वारा नहीं कहा गया है। मुख को तिमिर-नाशक, ताप-हारक और कमलों को संकुचित करनेवाला कहा गया है। इसके द्वारा मुख में चन्द्रमा का आरोप व्यंग्य से ध्वनित होता है। अतः रूपक की ध्वनि है।

"दियो अरघ, नीचै चलौ संकटु भानै जाइ,
सुचिती ह्वै औरैं सबै ससिहि विलोकैं आइ" ॥१५६॥

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में नायिका के मुख में शशि का आरोप शब्द द्वारा नहीं है—उसकी व्यंजना होती है।
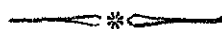
(८) परिणाम अलङ्कार।

किसी कार्य के करने में असमर्थ उपमान जहाँ उपमेय से अभिन्न रूप होकर उस कार्य के करने को समर्थ होता है वहाँ परिणाम अलङ्कार होता है।

परिणाम का अर्थ है अवस्थान्तर प्राप्त होना। परिणाम अलङ्कार में उपमेय की अवस्था को प्राप्त होकर उपमेय का कार्य उपमान करता है। जिस प्रकार उत्प्रेक्षा-वाचक मनु, जनु आदि, और उपमा-वाचक इव, सम, आदि शब्द हैं, उसी प्रकार परिणाम में 'होना', 'करना' अर्थ वाली क्रियाओं का प्रयोग होता है।

अमरी-कबरी भार-गत भ्रमरिन मुखरित मंजु*,
दूर करैं मेरे दुरित गौरी के पद-कंजु ॥१५७॥

यहाँ गौरी के पद उपमेय है और कमल उपमान है। पापों का दूर करने का कार्य श्री गौरी के चरण ही कर सकते हैं, न कि कमल, क्योंकि कमल जड़ है। जब उपमान-कमल गौरी के पद-उपमेय से एक रूप हो जाता है, अर्थात् पद-रूपी कमल कहा जाता है तब वह पापों के दूर करने का कार्य कर सकता है।

इस अपार संसार विकट में विषम विषय-वन गहन महा,
किया बहुत ही भ्रमण किंतु हा! मिला नहीं विश्राम वहाँ।
होकर श्रांत भाग्यवश अब मैं हरि-तमाल† के शरण हुआ,
हरण करेगा ताप वही रहता यमुना-तट स्फुरण हुआ ॥१५८॥

तमाल वृक्ष (उपमान) द्वारा संसार-ताप हरने का कार्य नहीं हो सकता है। तमाल को हरि (उपमेय) से एक रूप करने पर वह संसार-ताप नष्ट करने के कार्य को करने में समर्थ हो जाता है।

परिणाम और रूपक का पृथक्करण—

'परिणाम' और 'रूपक' के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं। पण्डितराज‡ ने रूपक और परिणाम में यह पृथकता बताई है कि जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य को अर्थात् उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को कर सकता है वहाँ 'परिणाम' होता है, और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ होता है वहाँ 'रूपक' जैसे—

---

*प्रणाम करती हुई देवांगनाओं के सुगन्धित केशपाश पर बैठे हुए भौंरों से शब्दायमान होने वाले गौरी के पाद-पद्म।

†श्री हरि रूप तमाल—श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण।

‡देखिये, रसगङ्गाधर में परिणाम अलङ्कार प्रकरण।

जो चाहतु चित सांत तो सुनु सत-वचन-पियूष।

यहाँ सत-वचन उपमेय है और पीयूष (अमृत) उपमान। अमृत में बोलने की शक्ति नहीं है, किन्तु वह सतपुरुषों के वचनों से एक रूप होने पर सुनाने का कार्य कर सकता है; अतः परिणाम है। और—

जो चाहतु चित सांत तो पिय सतवचन-पियूष।

'सुनु' के स्थान पर यहाँ 'पिय' कर देने के कारण 'रूपक' हो जाता है—'पीयूष' अपने रूप से पान कराने का कार्य करने में समर्थ है।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत पण्डितराज के इस मत से विपरीत है। सर्वस्वकार के मतानुसार—

सौमित्री की मैत्रि मय आतर पाय अपार,
केवट प्रभु को लैगयो सुरसरि-पार उतार॥१५६॥

इसमें लचमणजी की मैत्री उपमेय और आतर (नाव का किराया) उपमान है। उपमेय मैत्री ने उपमान-आतर का कार्य (गंगाजी के पार उतारना) किया है—उपमेय ने उपमान रूप होकर उपमान का कार्य किया है अर्थात् पंडितराज ने जिसे रूपक का विषय बतलाया है उसे सर्वस्वकार ने परिणाम का विषय माना है। और सर्वस्वकार ने रूपक और परिणाम में यह भेद बताया है कि रूपक में आरोप्यमाण (उपमान) का किसी कार्य करने में औचित्य-मात्र होता है। जैसे—'मोद देत मुखचंद' में मोद देने की क्रिया करने में आरोप्यमाण चन्द्रमा के बिना भी मुख (उपमेय) स्वयं समर्थ है—मुख में चन्द्रमा का आरोप करने में औचित्य-मात्र है; अतः रूपक है। और 'तिमिर हरत मुखचंद' में अंधकार को हटाने का कार्य चन्द्रमा के आरोप बिना मुख स्वयं नहीं कर सकता अतः परिणाम है। किन्तु सर्वस्वकार के मतानुसार रूपक और परिणाम का विषय-विभाजन भली भाँति नहीं हो सकता। पण्डितराज का मत ही युक्ति संगत प्रतीत होता है।

काव्यप्रकाश में परिणाम को स्वतन्त्र अलङ्कार न लिखने का कारण परिणाम का रूपक के अन्तर्गत होना ही उद्योतकार ने बतलाया है।

परिणाम की ध्वनि—

क्यों संतापित ह्वै रह्यो अरे, पथिक मतिमंद !
जाहु स्याम-घन की सरन हरन-ताप सुखकंद ॥१६०॥

वाच्यार्थ में यहाँ पथिक को मेघ-छाया के सेवन करने के लिये कहना बोध होता है। 'मतिमंद' पद द्वारा पथिक का संसार ताप से तापित होना ध्वनित होता है। संसार-ताप को श्यामघन (मेघ) अपने रूप से दूर करने में अशक्त है—व्यंग्यार्थ द्वारा उसको (मेघ को) घनश्याम श्री कृष्ण से एक रूप किये जाने पर वह संसार-ताप को नष्ट करने का कार्य कर सकता है, अतः परिणाम की ध्वनि है।

---

(६) उल्लेख अलङ्कार

एक वस्तु का निमित्त भेद से—ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण—अनेक प्रकार से उल्लेख-वर्णन—किये जाने को उल्लेख कहते हैं।

उल्लेख का अर्थ है लिखना, वर्णन करना।

इसके दो भेद होते हैं। प्रथम उल्लेख और द्वितीय उल्लेख।

उल्लेख और निरवयव-माला-रूपक एवं भ्रान्तिमान अलङ्कार का पृथक्करण—

निरवयव माला-रूपक में ग्रहण करने वाले अनेक व्यक्ति नहीं होते। किन्तु उल्लेख में अनेक व्यक्ति होते हैं और एक वस्तु में दूसरी वस्तु के आरोप में रूपक होता है, शुद्ध 'उल्लेख' में आरोप नहीं होता, किन्तु एक वस्तु का उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण किया जाता है। भ्रान्तिमान में भ्रम होता है, शुद्ध 'उल्लेख' में भ्रम नहीं होता है।

प्रथम उल्लेख।

ज्ञाताओं के भेद के कारण एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को प्रथम उल्लेख कहते हैं।

प्रथम उल्लेख के दो भेद हैं, शुद्ध और संकीर्ण।

शुद्ध उल्लेख।

अति उत्सुक हो जन दर्शक ने हरि को अपने मनरंजन जाना,
शिशुवृंद ने आनँदकंद तथा पितु नंदक* ने निज नंदन जाना।
युवती जन ने मनमोहन को रति के पति का मद-गंजन जाना,
भुवि-रंग में कंस ने शंकित हो जगवंदन को निज-कंदन जाना।१६१

कंस की रंग-भूमि में प्रवेश करने के समय भगवान् कृष्ण को यहाँ कंस आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से समझा जाना कहा गया है। अन्य किसी अलङ्कार का मिश्रण न होने के कारण यह शुद्ध उल्लेख है।

"वासव† को जायो वत्त-वासव सिरायो‡ काल
खंजहिं$ गिरायो जस छायो जग जानैं कै।
रुद्र को रिझायो, वर पायो मन भायो, दल,
दुर्हद दवायो§ पटु पाटव पिछानैं कै।
गहन, सँधान, तान, चलनि सुबान चर्न-
ताला° के समान रंग¶ प्रान-हर मानैं कै।

---

* नंदक भी नंद का नाम है। † इन्द्र। ‡ इन्द्र का हृदय शीतल करने वाला। $ कालखंज नामक दैत्य को मारने वाला। § शत्रु की सैन्य को दबाने वाला। ° चर्नताला—चौताले की (गाने के समय की एक ताल जिसमें चारों तालों का समय समान होता है) गति की क्रिया के समान बाण के ग्रहण करने में, सन्धान करने में तानने में और चलाने में शत्रुओं के प्राण हरण करने वाला। ¶ रङ्गभूमि—रणस्थल।

नर कों बखानैं, नर वरको बखानैं नर-
करकों बखानैं नर-सर को बखानैं कै" ॥१६२॥

यहाँ भारतयुद्ध में अर्जुन को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा है।

संकीर्ण (अन्य अलङ्कारों से मिश्रित) उल्लेख—

तेरा सहास मुख देख मिलिंद आते—
वे मान फुल्ल अरविंद प्रमोद पाते।
ये देख आलि! शशि के भ्रम हो विभोर—
हैं चंचु-शब्द करते फिरते चकोर ॥१६३॥

नायिका के मुख को भौंरों ने कमल और चकोरों ने चन्द्रमा समझा है।

यहाँ 'उल्लेख' के साथ 'भ्रान्तिमान' अलङ्कार मिश्रित है।

"सूरीजन* मूरति छतर्कन† की जानैं तोहि,
सूरजन‡ जानैं खुरली§ में बहुतैं बढ्यो।
कवि मनमानैं मीन सुधुनि महोदधि को°
सचिव बखानैं मरजी में मंत्र ही चढ्यो।
सादी लोक$ जानैं नल नकुल न ऐसे भये,
जानैं रिपुदंड ही उपाय मति में मढ्यो।
रानी जन जानैं रतिराज रावराजा राम!
जोग-सिद्धि ऐसी कलिकाल में कहाँ पढ्यो" ॥१६४॥

बूँदी के रावराजा रामसिंह जी को सूरीजन आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा षट्शास्त्र की मूर्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से समझना

* पंडित गण। † षट्शास्त्र। ‡ शूरवीर। § शस्त्रविद्या में।
° श्रेष्ठ ध्वनि रूप समुद्र का मत्स्य। $ घोड़ों के सवार।

कहा गया है। मीन और कामदेव आदि का राजा में आरोप होने के कारण यह रूपक मिश्रित उल्लेख है।

"अवनी की मालसी सुवाल सी दिनेस जानी,
लालसी है कान्ह करी वाल सुख थाल सी।
नरकन को हालसी विहाल सी करैया भई
धर्मन को उद्धृत सुढाल सी विसाल सी।
'ग्वाल' कवि भक्तन को सुरतरु जाल सी है
सुन्दर रसाल सी कुकर्मन को भाल सी।
दूतन को सालसी जु चित्त को हुसाल सी है
यम को जँजाल सी कराल काल व्याल सी" ॥१६५

यह उपमा मिश्रित उल्लेख है।

ऊपर के उदाहरणों में स्वरूप का उल्लेख होने के कारण 'स्वरू-पोल्लेख' है। फल के उल्लेख में 'फलोल्लेख' और हेतु के उल्लेख में 'हेतूल्लेख होता है'। जैसे—

दान देन हित अर्थि-जन त्रान देन हित दीन,
प्रान लेन हित सत्रु-जन जानत तुहि विधि कीन॥१६६॥

यहाँ विधाता द्वारा राजा का निर्माण किया जाना, अर्थियों ने दान देने के लिए, दीनों ने अपनी रक्षा करने के लिए और शत्रुओं ने अपने प्राण लेने के लिए समझा, इसलिए फलोल्लेख है।

हरि-पद के सँग सों जु इक हर-सिर-स्थिति सों अन्य,
अपर वस्तु-माहात्म्य सों कहत गंग! तुहि धन्य॥१६७॥

यहाँ श्री गङ्गा को 'धन्य' कहने में पृथक्-पृथक् जनों द्वारा पृथक् पृथक् कारण हैं, अतः हेतूल्लेख है।

उल्लेख की ध्वनि—

कृत बहु पापरु ताप युत दुखित परे भवकूप,
विचल-तरंग सु-गंग लखि होत सबै सुख-रूप॥१६८॥

पूर्वार्द्ध में कहे हुए तीनों प्रकार के मनुष्यों द्वारा श्रीगङ्गा के दर्शन मात्र से पाप, ताप और भव-दुःख का नाश होना शब्द द्वारा नहीं कहा गया है—व्यंग्य से ध्वनित होता है, अतः उल्लेख की ध्वनि है।

द्वितीय उल्लेख।

विषय भेद से एक ही वस्तु को एक ही के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को द्वितीय 'उल्लेख' कहते हैं।

पर-पीड़ा में कातर, अनातुर जो निज दुःख में रहते,
यश-संचय में आतुर, चातुर हैं सज्जन उन्हें कहते ॥१६९॥

यहाँ सज्जनों को पर पीड़ा आदि अनेक विषय भेदों से कातर आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह शुद्ध द्वितीय उल्लेख है।

"नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत झरनि के।
खंजन से नचैं देखि सुखमा सरद की सी,
नचै मधुकर से पराग केसरनि के।
रीझि रीझि तेरी पद-छबि पै तिलोचन के,
लोचन ये अंब! धारैं केतिक धरनि के।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख,
पंकज से खिलैं लखि तरवा तरनि के" ॥१७०॥

यहाँ श्री शङ्कर के नेत्रों को श्री पार्वतीजी के चरणों के नूपुर आदि अनेक विषय भेद से मृग आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह उपमा मिश्रित है।*

---

* देखो चित्रमीमांसा उल्लेख प्रकरण।

"वदन-मयंक पै चकोर ह्वै रहत नित,
पंकज-नयन देखि भौंर लौं भयो फिरै,
अधर सुधारस के चखिबे कों सुमन सु,
पूतरी ह्वै नैननि के तारन फयो फिरै।
अंग अंग गहन अनंग के सुभट होत,
बानी-गान सुनि ठगे मृगलौं ठयो फिरै,
तेरे रूप-भूप आगै पिय को अनूप मन,
धरि बहुरूप बहुरूपिया भयो फिरै"॥१७१॥

यहाँ नायक के मन को नायिका के मुख आदि अनेक विषय भेदों से चकोर आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह रूपक और उपमा मिश्रित उल्लेख है।

आचार्य दण्डी ने "वदन मयङ्क........" ऐसे पद्यों में हेतु-रूपक अलङ्कार माना है।

(१०) स्मरण अलङ्कार

पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश किसी वस्तु के देखने पर उसकी (पूर्वानुभूत वस्तु की) स्मृति के कथन करने को स्मरण अलङ्कार कहते हैं।

स्मरण का अर्थ स्पष्ट है। स्मरण अलंकार में पूर्वानुभूत वस्तु का संस्कार उत्पन्न करने वाली—कालान्तर में— उसके सदृश वस्तु देखने पर उस पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो आता है।

तुल्य रूप शिशु देख यह अति अद्भुत बल-धाम,
मख-रक्षक शर-चाप धर सुधि आते हैं राम॥१७२॥

सुमंत द्वारा यह लव का वर्णन है। भगवान रामचन्द्र की बाल्यावस्था के पूर्वानुभूत स्वरूप के सदृश कालान्तर में (चंद्रकेतु के युद्ध के समय में)

श्री रघुनाथजी के पुत्र लव के स्वरूप को देखकर सुमंत को रामचंद्रजी का स्मरण हो आना कहा गया है।

पहुँचा उड एक विचित्र कलाप मयूर तुरंग-समीप* वहीं,
फिर भी मृगया-पटु† भूप ने किंतु किया उसको शर-लक्ष्य‡ नहीं।
सुध आगयी क्योंकि उसे लख के नृप को अपनी अनुभूत वही—
रति में बिखरी प्रिय-भामिनि की कवरी सु प्रसून-गुही झट ही॥१७२॥

रघुवंश से अनुवादित इस पद्य में महाराज दशरथ की शिकार का वर्णन है। मयूर का कलाप (पिच्छभार) देखकर दशरथजी को उसी (मयूर कलाप) के सदृश चित्र-विचित्र फूलों की मालाओं से गुँथी और बिखरी हुई अपनी प्रिया की वेणी का यहां स्मरण होआना कहा गया है।

विरुद्ध वस्तु के देखने पर भी स्मरण अलङ्कार होता है§—

जब-जब अति सुकुमार सिय वन-दुख सों कुम्हिलातु,
तब-तब उनके सदन-सुख रघुनाथहि सुधि आतु॥१७३॥

यहाँ दुखों को देखकर सुखों का स्मरण है।

"ज्यों-ज्यों इत देखियतु मूरख विमुख लोग,
त्यों-त्यों ब्रजवासी सुखरासी मन भावै हैं।
खारे जल छीलर दुखारे अंध कूप चितैं,
कालिंदी के कूल काज मन ललचावै है।
जैसी अब बीतत सु कहत वनैन बैन,
'नागर' न चैन परै प्रान अकुलावै हैं।
थोहर पलास देखि-देखि के बँबूर बुरे
हाय हरे-हरे वे तमाल सुधि आवै हैं"॥१७४॥

कृष्णगढ़-नरेश नागरीदासजी के इस प्रेमोद्गार में मूर्खों आदि को देखकर ब्रजवासियों आदि का वैधर्म्य द्वारा स्मरण है।

---

* घोड़े के समीप। † शिकार में चतुर। ‡ बाण का निशाना।
§ देखिये, साहित्यदर्पण स्मरण अलङ्कार का प्रकरण।

जहाँ सदृश वस्तु के देखे बिना ही स्मृति होती है वहाँ स्मरण अलङ्कार नहीं होता है। जैसे—

"नंद औ जसुमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै 'रतनाकर' सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृग-नैननि के गुन-गन गावती।
जमुना-कछारनि की रंगरस रारनि की,
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुलसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख रासिन की,
ऊधौ! नित हमकों बुलावन कौं आवती" ॥१७५॥

यहाँ सदृश वस्तु के देखने से स्मृति नहीं होने से स्मरण अलङ्कार नहीं है।

'रामचन्द्र भूषण' में स्मरण अलङ्कार के उदाहरण में दिये गये—

"बाग लतान के ओट लखी परब्रह्म बिलास हिये फरक्यो परै,
दोने भरे कर कंज प्रसून गरे वनमाल कों त्यों लरक्यो परै,
मंदिर आइ सँकोच सनी मन ही मन भाँवरैं में भरक्यो करै,
सावनी स्याम-घटा रँग राम को मैथिली-लोचन में खरक्यो करै"॥१७६

इस पद्य में जनक-वाटिका में श्री रघुनाथजी की रूप-माधुरी का जानकी जी को स्मरण मात्र है। अतः इसमें भी स्मरण अलङ्कार नहीं है।

स्मरण अलङ्कार की ध्वनि—

रवि का यह ताप असह्य, चलो तरु के तल शीतल छांह जहां,
निशि में अब भानु का ताप कहां? प्रभु! है यह चंद्र-प्रकाश यहां,
प्रिय लक्ष्मण! ज्ञात हुआ यह क्यों? मृग-अंक रहा यह दीख वहां,
अयि चंद्रमुखी! मृगलोचनि! जानकि! प्राणप्रिये! तुम हाय कहां॥१७७

लक्ष्मणजी के मुख से यह सुनकर कि 'यह तो मृगलांछन चन्द्रमा है' वियोगी श्री रघुनाथजी को मृग के समान नेत्रों वाली और चन्द्र के

समान मुख वाली श्री सीताजी का स्मरण होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है किन्तु यह ध्वनित होता है। पण्डितराज ने चित्रमीमांसा-कार का खण्डन करते हुए जिसका यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य में स्मरण अलङ्कार बतलाया है, नकि स्मरण की ध्वनि। किन्तु यह पण्डितराजका दुराग्रह मात्र है, हमारे विचार में तो यहाँ स्मरण की ध्वनि ही है। किन्तु जहाँ सादृश्य ज्ञानके विना स्मृति की व्यंजना होती है, वहाँ स्मरण अलङ्कार की ध्वनि नहीं होती है। जैसे—

गिरि हैं वह ही शिखि-वृंद यहां मद-पूरित कूक सदा करते,
वन है वह ही मद-मत्त यहां मृग-यूथ विनोद रचा करते,
सरिता-तट भी अनुभूत वही इनमें हम आ विचरा करते,
नव वंजुल-कुंज वही यह हैं कुछ काल विराम किया करते॥१७८॥

शंबूक का बध करके अयोध्या को लौटते हुए श्री रघुनाथजी द्वारा किये गये इस दण्डकारण्य के वर्णन में वियोगी श्री रघुनाथजी को जनक-कुमारी के सहवास के पूर्वानुभूत विनोदों के स्मरण हो आने की जो व्यंजना होती है, उसमें सादृश्य के अभाव में केवल स्मृति होने के कारण 'स्मरण' अलङ्कार की ध्वनि नहीं—स्मृति संचारी भाव है।

---

(११) भ्रान्तिमान् अलङ्कार

अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) को देखने पर अप्रकृत की भ्रांति होने में भ्रांतिमान् अलङ्कार होता है।

भ्रान्ति का अर्थ है एक वस्तु को भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेना। इस अलङ्कार में किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का—कवि की प्रतिभा द्वारा उत्थापित—चमत्कारक भ्रम होता है।

दुग्ध समझ कर नर-कपाल को लगे चाटने जिन्हें विडाल,*
तरु-छिद्रों में गिरी देख गज लगे मानने जिन्हें मृनाल,†
रमणीजन रति अंत तल्प‡ से लेने लगी वस्त्र निज जान,
प्रभामत्त-शशि-किरण सभी को भ्रमित बनाने लगी महान॥१७६॥

यहाँ दुग्ध आदि के (अप्रकृत के) सदृश चन्द्रमा की (प्रकृत-की) चाँदनी में दुग्ध आदि का भ्रम होना कहा है।

समझकर किंशुक-कली°, होकर भ्रमित—
मुग्ध मधुकर गिर रहे शुक-तुण्ड§ पर
है झपटता पकड़ने शुक भी भ्रमित—
जम्बुफल वह समझ उस अलि-झुण्ड¶ पर ॥१८०॥

यहाँ भ्रमर और शुक के परस्पर में भ्रांति है।

बाधित भ्रान्ति में अर्थात् किसी वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति होकर फिर उसके निवारण हो जाने पर भी यह अलङ्कार होता है—

जान कर कुछ दूर से फलपत्र-छाया ताप-हर,
शुष्क-वट के निकट आये भ्रमित हो कुछ पथिक, पर—
शब्द उनका सुन सभी शुक-वृन्द तरु से उड़ गये,
पथिक भी यह देख कौतुक फिर गये हँसते हुए ॥१८१॥

सूखे वट-वृक्ष पर बैठे हुए शुक पक्षियों को भ्रम से वट के फल और पत्तों की छाया समझ कर आए हुए पथिकों को शुक-वृंद के उड़ जाने पर यहाँ उस भ्रान्ति का बाध (मिट जाना) है।

दृग को युग लील-सरोज अली! कुच कंज-कली अनुमानती हैं,
कर-कोमल पद्म सनाल तथा मधुराधर बंधुक§ जानती हैं,

---

* बिल्लियाँ। † कमल-नाल के तंतु। ‡ पलंग। ° ढाक के पुष्प की कली। § तोते की चोंच। ¶ भृङ्गों का समूह। § एक प्रकार का रक्त पुष्प।

मणिरत्न-गुँथी कबरीभर* को कुसुमावलि वे पहिंचानती हैं,
अति वारण भी करती सखि! मैं मधुपावलि किन्तु न मानती हैं ॥१८२

नायिका के नेत्र आदि में यहाँ भृङ्गावली को कमल आदि का भ्रम होना कहा है। यह भ्रान्ति माला है।

भ्रान्तिमान अलंकार की ध्वनि—

"संग में श्री श्यामसुन्दर राम के,
कनक-रुचि सम मैथिली को लक्ष्य कर।
चातकों के पोत† अति मोदित हुए,
सघन उस वन में प्रफुल्लित पक्ष कर"॥१८३॥

श्रीराम और जानकी को वन में देखकर चातक पक्षियों को विद्युत सहित नील-मेघ की भ्रान्ति होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है—इसकी व्यञ्जना होती है।

जहाँ सादृश्य मूलक चमत्कारक कवि-कल्पित भ्रान्ति होती है वहीं अलङ्कार होता है। जहाँ उन्माद-जन्य वास्तविक भ्रान्ति होती है वहाँ अलङ्कार नहीं होता जैसे—

"बातें वियोग-विथा सों भरी अरी! बावरी जानै कहा बनवासी,
पीर हू नारिन के उर की न पिछानत ए तरु तीर निवासी,
सोभा सुरूप मनोहरता 'हरिऔध' सी या में नहीं छबि खासी,
बाल! तमाल सों धाइ कहा तू रही लपटाय लवंग लतासी"॥१८४

यहाँ उन्माद अवस्था में नायिका को तमाल वृक्ष में श्री नन्दनन्दन की भ्रान्ति हुई है इसमें अलङ्कार नहीं है।

---

* केशों का जूड़ा—वेणी। † बच्चे।

(१२) सन्देह अलङ्कार

किसी वस्तु के विषय में सादृश्य-मूलक संशय होने में सन्देह अलङ्कार होता है।

सन्देह का अर्थ स्पष्ट है। यहाँ कवि-कल्पित चमत्कारक सन्देह होता है। रात्रि में सूखे वृक्ष को देखकर 'यह सूखा काठ है या मनुष्य?' इस प्रकार के वास्तविक सन्देह होने में कुछ चमत्कार नहीं; अतः अलङ्कार भी नहीं हैं। सन्देह अलङ्कार के दो भेद हैं—

(१) भेद की उक्ति में संशय। अर्थात् दूसरे से भिन्नता दिखाने वाले धर्म कथन होकर संशय होना। भेद की उक्ति दो प्रकार से होती है—उपमान में भिन्न धर्म की उक्ति और उपमेय में भिन्न धर्म की उक्ति। अतः इसके भी दो भेद हैं—

(क) निश्चय-गर्भ। गर्भ में अर्थात् मध्य में निश्चय होना—आदि और अन्त में सन्देह का होना। इसमें उपमान में रहने वाले भिन्न धर्म की उक्ति होती है।

(ख) निश्चयान्त। पहिले संशय होकर अन्त में निश्चय होना। इसमें उपमेय में रहने वाले भिन्न धर्म की उक्ति होती है।

(२) भेद की अनुक्ति में संशय। दूसरे से भिन्नता करने वाले धर्म का कथन न होकर केवल संशय का होना। इसको शुद्ध सन्देह भी कहते हैं।

भेदोक्ति निश्चय-गर्भ संदेह—

कैधों उजागर ये प्रभाकर* स्वरूप राजै ?
जाकर सदैव सप्त-अश्व, नहिं याकै है।

---

* सूर्य।

जगमगात गात जातवेद* यह आत कैधों ?
वाहू को प्रसार नांहि दसहू दिसा कै है।
अति महकाय भयदाय यमराय कैधौं ?
वाहन महिष पास छाजत जु वाकै है।
याकै है न पास यों विकल्पन प्रकास कै कै,
रन के अवास अरिरास† तोहि ताकै है ॥१८५॥

कवि ने किसी राजा की प्रशंसा में कहा है कि रणभूमि में तुम्हें देखकर शत्रुओं को प्रथम यह सन्देह होता है कि यह सूर्य है, या अग्नि है, अथवा यमराज ? फिर तुम्हारे पास सात घोड़ों का रथ आदि न देखकर यह निश्चय होता है कि यह सूर्य, अग्नि और यमराज नहीं है। पर यह कौन है ? इस प्रकार अन्त तक उनको सन्देह ही बना रहता है। यहाँ सूर्य आदि से भिन्नता सूचक सूर्यादि उपमानों में रहने वाले सप्त अश्व के रथ आदि के अभाव रूप भिन्न धर्म कहे गये हैं अतः भेद की उक्ति में निश्चय-गर्भ सन्देह है।

"कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहां ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य कि लोच कहां ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोली भाली,
तुम्हीं बताओ अतः कौन तुम, हे रंजित रहस्य वाली"॥१३०॥

सूर्पणखा के प्रति लक्ष्मणजी की इस उक्ति में 'मानवी' आदि के सन्देह में 'वैसा संकोच कहाँ' इत्यादि वाक्यों द्वारा मध्य में 'तू मानवी नहीं है' इत्यादि निश्चय होकर अन्त में सन्देह बना रहता है।

भेदोक्ति में निश्चयान्त सन्देह—

च्युत घन है क्या चपला ?
चंपक-लतिका परिम्लान किंवा है ?

---

* अग्नि। † शत्रु गण।

लख कर स्वास चपलता,
जाना कपि, विकल जानकी अंबा है ॥१८६॥

अशोक वाटिका में जानकीजी को देखकर हनुमानजी को चपला (बिजली) और चंपक-लता का सन्देह हुआ फिर दीर्घ निस्वास निकालती हुई देखकर अन्त में 'यह सीताजी ही हैं' यह निश्चय हो गया है। निस्वासों का होना उपमेय सीताजी का भिन्न-धर्म कहा गया है। अतः भेदोक्ति में निश्चयान्त है। इसको अग्निपुराण में निश्चयोपमा और काव्यादर्श में निर्णयोपमा के नाम से उपमा का ही एक विशेष भेद लिखा है।

भेद की अनुक्ति में सन्देह—

रचना इसकी मन-मोहक में कि कलानिधि चंद्र* प्रजापति† है ?
कुसुमाकर‡ ही सुखमाकर ? या कुसुमायुध ही रति का पति है ?
विधि वृद्ध विरक्त हुआ जिसकी अब वेद-विचार-रता मति है,
इस रूप अलौकिक की कृति में न समर्थ कहीं उसकी गति है॥१८७

उर्वशी के सौन्दर्य के विषय में राजा पुरूरवा द्वारा यह सन्देह किया गया है कि इसकी रचना करने वाला चन्द्रमा है, या वसन्त, अथवा कामदेव ? यहाँ चन्द्रमा आदि से भेद दिखाने वाले धर्म नहीं कहे गये हैं, अतः भेद की अनुक्ति है। उत्तरार्द्ध में कहे गये ब्रह्मा की वृद्धता आदि धर्म चन्द्रमा आदि द्वारा रचना किये जाने के सन्देह को पुष्ट करते हैं, न कि भेद-दर्शक धर्म।

साहित्यदर्पण में रघुवंश के जिस पद्य का यह अनुवाद है वह पद्य सम्बन्धातिशयोक्ति के उदाहरण में लिखा गया है। किन्तु इसमें सन्देह

---

* यद्यपि कलानिधि चन्द्रमा का ही नाम है पर यहाँ कलाओं का निधि इस अभिप्राय से चन्द्रमा के विशेषण रूप में 'कलानिधि' का प्रयोग है। † रचना करने वाला। ‡ वसन्त।

का चमत्कार उत्कट होने के कारण महाराज भोज, आचार्य मम्मट और पण्डितराज ने इसमें सन्देह ही माना है।

"तारे आसमान के हैं आये मेहमान बन
याकि कमला ही आज आके मुसकाई है?
चमक रही है चपला ही एक साथ याकि
केशों में निशा के मुकुतावली सजाई है?
आई' अप्सरायें हैं अलक्षित कहीं क्या जोकि
उनके विभूषणों की ऐसी ज्योति छाई है?
चंद्र ही क्या बिखर गया है चूर चूर होके?
क्योंकि आज नभ में न पड़ता दिखाई है"॥१८८॥

दीपमालिका के इस वर्णन में दीपावली में 'तारे' आदि का सन्देह किया गया है।

"कैधौं रूपरासि में सिंगार रस अंकुरित
संकुरित कैधौं तम तड़ित जुन्हाई में?
कहै 'पदमाकर' किधौं ये काम मुनसी ने
नुकता दियो है हेम पट्टिका सुहाई में?
कैधौं अरविंद में मिलिंद-सुत सोयो आज
राज रह्यो तिल कै कपोल की लुनाई में?
कैधौं परयो इन्दु में कलिंदी जल-बिंदु आन
गरक गुविंद किधौं गोरी की गुराई में॥"१८९॥

श्री राधिकाजी की ठोड़ी के श्याम बिन्दु के इस वर्णन में अनेक सन्देह किये गये हैं।

सन्देह की ध्वनि—

तीर तरुनि-स्मित-वदन लखि नीर खिले अरविंद,
गंध-लुब्ध दुहुं ओर को धावहिं मुग्ध मिलिंद॥१९०॥

सरोवर के तट पर नायिका के मुख को और सरोवर में प्रफुल्लित कमल को देखकर भौंरों को 'यह कमल है या वह कमल' यह सन्देह होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है—इसकी व्यंजना हो रही है। अतः सन्देह की ध्वनि है।

"थी शरदचंद्र की जोति खिली सोवै था सब गुन जुटा हुआ,
चौका की चमक अधर विहँसन रस-भीजा दाड़िम फटा हुआ,
इतने में गहन समै वेला लख ख्याल बड़ा अटपटा हुआ,
अवनी से नभ, नभ से अवनी अध उछलै नटका बटा हुआ"॥१६१

यहाँ शयन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र के मुख को पृथ्वी पर और चन्द्रमा को आकाश में देख कर ग्रहण के समय राहु को 'यह चन्द्रमा है या वह ?' ऐसा सन्देह होना कहा नहीं गया है, किन्तु 'नट का बटा हुआ' इस पद से यह ध्वनित होता है।

"उज्वल अनूप वह, यह कमनीय महा,
वह है सुधाकर यह सुधाधर हितै रह्यो।
'नवनीत' प्यारे ये नसावत वियोग-ताप,
वह तम-तोम ही कों सुचित चितै रह्यो।
वाके हैं कलंक याके अंकित दृगन मांहि,
वह निसि एक येहू सौतिन जिते रह्यो।
इत मुखचंद्र उत चंद्र को विलोकि राहु—
चाह चखि चार्यो ओर चकित चितै रह्यो"॥१६२॥

यहाँ कामिनी के मुखचन्द्र और आकाश के चन्द्र में राहु को "यह चन्द्र है कि वह" यह सन्देह होना ध्वनित तो होता है। परन्तु यहाँ सन्देह की यह ध्वनि प्रधान नहीं किन्तु वह वितर्क संचारी भाव के रूप में—'चाह चखि चार्यो ओर चकित चितै रह्यो' इस अन्तिम वाक्य द्वारा जो अद्भुत रस की व्यंजना है, उसकी पुष्टि करता है।

'रसिक मोहन' में सन्देह अलङ्कार का—

"बागे बने बरही के पखा सिर बेनु बजावत गैयन घेरे,
या विधि सों 'रघुनाथ' कहै छिन होत जुदे नहिं सांझ सबेरे,
आँखिन देखिबे कों नहिं पैयतु पैयतु है नित ही करि नेरे,
मोहन सों मन मेरो लग्यो कि लग्यो मन सों मनमोहन मेरे"॥१६३

यह उदाहरण दिया है। किन्तु इसमें सादृश्य-मूलक सन्देह न होने के कारण सन्देह अलङ्कार नहीं है।

काव्यनिर्णय में दिये गये सन्देह के—

"लखे उहिं टोल में नौलवधू मृदुहास में मेरो भयो मन डोल,
कहौं कटि-छीन को डोलनो डौल कि पीन नितंब उरोज की तोल,
सराहौं अलौकिक बोल अमोल कि आनन कोप में रंग तमोल,
कपोल सराहौं कि नील-निचोल किधौं बिबि लोचन लोल कपोल"।१६४

इस उदाहरण में सन्देह अलङ्कार नहीं है क्योंकि 'नायिका के किस-किस अंग के सौन्दर्य की प्रशंसा करूँ' इसमें सादृश्य-मूलक सन्देह नहीं और न ऐसे वर्णन में सन्देह का कुछ चमत्कार ही होता है।*

(१३) अपन्हुति अलङ्कार

प्रकृत का (उपमेय का) निषेध करके अन्य के (उपमान के) स्थापन (आरोप) किये जाने को अपन्हुति अलङ्कार कहते हैं।

'अपन्हुति' शब्द 'न्हुङ्' धातु से बना है—'न्हुङ् अपन्हवे'—धातुपाठ। 'अप' उपसर्ग है। अपन्हुति का अर्थ है गोपन (छिपाना) या निषेध।

* देखिये, रसगङ्गाधर पृ० २२६।

अपन्हुति अलङ्कार में उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाता है। लक्षण में उपमेय और उपमान का कथन उपलक्षण मात्र है। वास्तव में उपमेय उपमान भाव के बिना भी अपन्हुति होती है।*
अपन्हुति में कहीं पहिले निषेध करके अन्य का आरोप किया जाता है और कहीं पहिले आरोप करके पीछे निषेध किया जाता है।

अपन्हुति शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की होती है। ये दोनों भेद सावयवा (अङ्ग सहित) और निरवयवा (अङ्ग रहित) होते हैं। अपन्हुति के भेद इस प्रकार हैं:—
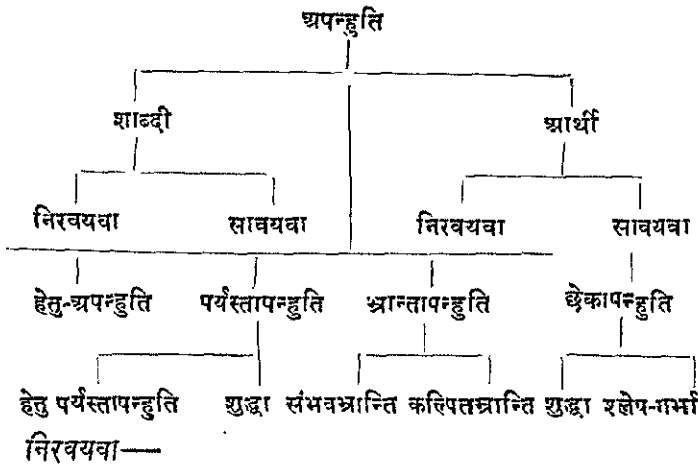
निरवयवा—

"ससि में अङ्क कलंक को समझहु निज सदभाय,
सुरत-श्रमित निसि-सुन्दरी सोवत उर लपटाय"॥१६५॥

चन्द्रमा में कलङ्क का निषेध करके चन्द्रमा के अङ्क में रात्रि रूप नायिका के सोने का आरोप किया गया है। यहाँ अवयव कथन नहीं अतः निरवयवा है।

---

* देखिए काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या।

"पूरी निर्मल-नीर से बह रही थी पास ही मालिनी,
वृक्षाली जिसके प्रतीर पर थी भूरि प्रभा शालिनी,
लीला से लहरें अनेक उठती वे लीन होती न थी*,
मीनाक्षी सरिता कटाक्ष करती वो किन्तु भ्रू-क्षेप थी"॥१६६॥

मालनी नदी की उठती और लीन होती हुई तरङ्गों का निषेध करके नदी द्वारा भ्रू-क्षेप युक्त कटाक्ष किये जाने का आरोप किया गया है।

सावयवा शाब्दी अपन्हुति—

"मुसुकान नहीं यह किन्तु सुशोभित है कमनीय विकाशित ही,
कहते मुख हैं जन मूढ़ इसे, यह कंज प्रफुल्ल सुवासित ही,
युग उन्नत पीन उरोज नहीं, यह हैं द्युति-कंचन के फल ही,
भ्रमरावलि-नम्य-लता यह रम्य, इसे वनिता कहना न कहीं"॥१६७

यहाँ उपमेय नायिका का निषेध करके लतिका-उपमान का आरोप किया गया है। नायिका के मुसुकान आदि अवयवों का निषेध करके विकाशित आदि को स्थापन किया गया है अतः सावयवा है। यहाँ (चतुर्थ पाद में) पहिले आरोप करके तदनन्तर निषेध किया गया है।

आर्थी अपन्हुति—

आर्थी अपह्नुति को कैतवापह्नुति भी कहते हैं।

एक से बढ़ एक कृति में विधि बढ़ा सुविदग्ध है,
देखकर चातुर्य उसका हो रहे सब मुग्ध है,

---

* तीसरे चरण के अन्त में मूल पाठ 'थी लीन होती तथा' और चौथे चरण के अन्त में 'भ्रूक्षेप से थी यथा' है। यहाँ इस पद्य को अपह्नुति का उदाहरण बनाने के लिए इनके स्थान पर क्रमशः 'वे लीन होती न थी' और 'वो किन्तु भ्रूक्षेप थी' इस प्रकार पाठान्तर कर दिया है।

दुर्जनों के बदन में भी एक डसने की कला,
व्याज रसना के भयङ्कर सर्पिणी रख दी भला ॥१९८॥

यहाँ दुर्जनों के मुख में जिह्वा का निषेध करके उसमें सर्पिणी का आरोप किया गया है। यहाँ 'निषेध' शब्द द्वारा नहीं है-'व्याज' शब्द के अर्थ से बोध होता है अतः आर्थी है।

"लालिमा श्री तरवान की तेज में सारदा लौं सुखमा की निसेनी,
नूपुर नील-मनीन जड़े जमुना जगे जौहर में सुख देनी,
यों 'लछिराम' छटा नख नौल तरंगनि गंग-प्रभा फल पेनी,
मैथिली के चरनांबुज व्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी" ॥१९९॥

यहाँ श्री जनकनन्दनी के चरणोदक का निषेध करके उसमें त्रिवेणी का आरोप किया गया है। चरणोदक का निषेध शब्द द्वारा नहीं है—वह 'व्याज' शब्द के अर्थ से बोध होता है।

काव्यप्रकाश और सर्वस्व आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार अपन्हुति के ये ही भेद हैं। चन्द्रालोक आदि अन्य कुछ ग्रन्थों के अनुसार अपन्हुति के और भी कुछ भेद होते हैं—

हेतु अपन्हुति

कारण सहित उपमेय का निषेध करके उपमान के स्थापन करने को हेतु अपन्हुति कहते हैं।

श्याम और यह श्वेत रंग है रमणी-दृग का रूप नहीं;
गरल और अमृत यह दोनों भरे हुए हैं सत्य यहीं,
युवक जनों पर होता है जब देखो इनका गाढ़ निपात,
बेसुध और मुदित होते क्यों यदिच नहीं होती यह बात ॥२००॥

यहाँ नेत्रों में श्याम और श्वेत रंग का निषेध करके उनमें विष और

अमृत का आरोप किया गया है। इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा गया है, अतः हेतु अपह्नुति है।

"चंद्रिका इसकी न छवि यह जाल है जंजाल है,
जो विरह-विधुरा नारियों का कर रहा बेहाल है,
नागपाश विचित्र यह या गरल-सिंचित वस्त्र है,
या अस्त्र है पंचत्व का या पंचशर का शस्त्र है"॥२०१॥

दमयंती की इस उक्ति में चन्द्रमा की चाँदनी का निषेध करके उसमें कामदेव के शस्त्र आदि का आरोप किया गया है। दूसरे चरण में उसका कारण कहा है। यहाँ सन्देह अलङ्कार मिश्रित है

पण्डितराज के मतानुसार इस पिछले उदाहरण में अपह्नुति का आभास मात्र है। उनका कहना है कि चन्द्रमा की चांदनी वियोगिनी को तापकारक होने के कारण चन्द्रमा में कामदेव के शस्त्र आदि का वियोगिनी को भ्रम उत्पन्न होता है अतः यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार है।*

पर्यस्तापह्नुति।

किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिए उस दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध किए जाने को पर्यस्तापह्नुति कहते हैं।

है न सुधा यह किंतु है सुधा रूप सतसंग,
विष हालाहल है न, यह हालाहल दुःसङ्ग ॥२०२॥

यहाँ सत्सङ्ग में सुधा-धर्म का आरोप करने के लिए सुधा में सुधा-धर्म का निषेध किया गया है।

---

* देखिये रसगङ्गाधर पृ० २०८

हालाहल को जो कहते विष वे हैं मति-व्युत्पन्न नहीं,
है विष रमा देखिए, इसका है प्रमाण प्रत्यक्ष यही,
हालाहल पीकर भी सुखसे हैं जागृत श्री उमारमण,
निद्रा-मोहित हुए रमा के स्पर्श मात्र से रमा-रमण ।।२०३।।

यहाँ लक्ष्मीजी में विष-धर्म के आरोप के लिए हालाहल में विष-धर्म का निषेध किया गया है। चौथे पाद में उसका कारण कहा है। अतः यह हेतु-पर्यस्तापन्हुति है।

पण्डितराज* और विमर्शनीकार† ने पर्यस्तापन्हुति को दृढ़ारोप रूपक बताया है। उनका कहना है कि इसमें उपमान का निषेध किया जाता है वह उपमेय में उसका दृढ़ता पूर्वक आरोप (रूपक) करने के लिए होता है अतः अपन्हुति नहीं।

भ्रान्तापन्हुति

सत्य बात प्रकट करके किसी की शङ्का के दूर करने को भ्रान्तापन्हुति अलङ्कार कहते हैं।

इसमें कहीं सम्भव भ्रान्ति और कहीं कल्पित भ्रान्ति होती है।

मानस चित उत्सुक भये लखि नभ मेघ-वितान,
तिन हंसन को मधुर रव नूपुर-धुनि जिन जान ।। २०४।।

'मानसरोवर को जाने वाले हंसों का यह मधुर शब्द है' यह सत्य प्रकट करके नूपुर के शब्द का भ्रम दूर किया गया है। यह सम्भव भ्रान्ति है क्योंकि इस प्रकार की भ्रान्ति का होना सम्भव है।

---

* देखिये रसगङ्गाधर पृ० २८१

† देखिये अलङ्कार सर्वस्व-विमर्शनी में अपह्नुति अलङ्कार का प्रकरण।

"हंस ! हहा ! तेरा भी
बिगड़ गया क्या विवेक वन बनके ?
मोती नहीं, अरे, ये
आंसू हैं उर्मिला जन के !" ॥२०५॥

यह कवि-कल्पित भ्रान्ति है, क्योंकि अश्रुओं में हंस को मोतियों की भ्रान्ति होना असम्भव है।

"आनन है अरविंद न फूले, अलीगन ! भूलि कहा मडरातु हौ,
*कीर ! तुम्हें कहा वायु लगी भ्रम बिम्ब से ओंठनु कों ललचातु हौ,
'दासजू' व्याली न, बेनी रची तुम पापी कलापी† ! कहा इतरातु हौ,
बोलत बाल, न बाजत बीन कहाँ सिगरे मृग घेरत जातु हौ" ॥२०६॥

यहाँ भी कल्पित भ्रान्ति है।

शुद्धापन्हुति आदि में प्रकृत (उपमेय) का निषेध होता है और इस भ्रान्तापन्हुति में उपमान का। इसलिये साहित्यदर्पण में भ्रान्तापन्हुति को 'निश्चय' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है और दण्डी ने इसे 'तत्वाख्यानोपमा' नामक उपमा का ही एक भेद लिखा है।

छेकापन्हुति।

स्वयं कथित अपने गुप्त रहस्य के किसी प्रकार प्रकट हो जाने पर उसको मिथ्या समाधान द्वारा छिपाये जाने को छेकापन्हुति अलङ्कार कहते हैं।

अति चंचल है वह आ झट ही तन से सखि! अञ्चल को हरता है,
रुकता न समक्ष किसी जन के लगता फिर अङ्क नहीं डरता है,
अधरक्षत भी करता रहता कुछ शङ्क नहीं मन में धरता है,
अलि! क्या प्रिय धृष्ट? नहीं यह तो सब शीत-समीर किया करता है।

---

* तोता। † मयूर।

यहाँ नायिका द्वारा अपनी अन्तरङ्ग सखी से कहे हुये गुप्त रहस्य को सुनकर 'क्या तेरा पति इतना निर्लज्ज है ?' इस प्रकार पूछने वाली दूसरी स्त्री से नायिका ने यह कहकर कि 'नहीं मैं तो यह शीतकाल के समीर के विषय में कह रही हूँ' सत्य को छिपाया है।

यह श्लेष-मिश्रित भी होती है—

रहि न सकत कोउ अपतिता सखि ! पावस-ऋतु मांय,
भई कहा उतकंठिता ? नहिं पथ फिसलत पांय ॥२०८॥

'अपतिता' के दो अर्थ हैं 'पति के बिना न रहना' और 'फिसले बिना न रहना'। वियोगिनी के कहे हुए 'वर्षाऋतु में कोई अपतिता—पति के बिना—नहीं रह सकती' इस वाक्य को सुनकर सखी के यह कहने पर कि 'क्या तू पति के लिये इतनी उत्कंठित हो गई है' लज्जित हो कर वियोगिनी ने कहा—'नहीं मैं तो यह कहती हूँ कि वर्षा ऋतु के मार्ग में कोई अपतिता (फिसले बिना) नहीं रह सकती।

छेकापन्हुति से वक्रोक्ति और व्याजोक्ति का पृथक्करण—

वक्रोक्ति में अन्य की उक्ति का अन्यार्थ कल्पित किया जाता है किन्तु छेकापन्हुति में अपनी उक्ति का और व्याजोक्ति में उक्ति का निषेध नहीं होता है केवल सत्य का गोपनमात्र है किन्तु छेकापन्हुति में निषेध करने के पश्चात् सत्य छिपाया जाता है।

अपन्हुति की ध्वनि—

वदन-रदन-छवि मिस लसहिँ सखि ! केसर तव अंग।
सोभित लोभित गंध ये अलक बेस धरि भृंग ॥२०९॥

'यह तेरी दन्तावली की कान्ति नहीं किन्तु दन्तावली के मिस से कमलिनी की केसर है'। और 'ये अलकावली नहीं किन्तु भृङ्गावली है'। ये दो अपन्हुतियाँ यहाँ वाच्यार्थ में प्रकट कही गई हैं। इनके द्वारा

'तू कामिनी नहीं है किन्तु कमलिनी है' इस तीसरी प्रधान अपन्हुति की व्यञ्जना होती है।

(१४) उत्प्रेक्षा अलङ्कार

प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में सम्भावना की जाने को उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहते हैं।

उत्प्रेक्षा का अर्थ है—'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानं उत्प्रेक्षा पदार्थः।'* अर्थात् उपमान का उत्कटता से ज्ञान किया जाना। 'सम्भावना' का अर्थ भी 'एक कोटिका प्रबल ज्ञान' है। एक ज्ञान तो समान कोटिक होता है, जैसे अँधेरे में सूखे वृक्ष के ठूंठ को देख कर यह सन्देह होता है कि 'यह मनुष्य है या वृक्ष का ठूंठ ?' ऐसे समान कोटिक संशय ज्ञान में मनुष्य का होना और वृक्ष के ठूंठ का होना दोनों ज्ञानों की समान कोटि होती है। ऐसा समान कोटि का ज्ञान जहाँ कवि-प्रतिभोत्पन्न—चमत्कारक—होता है वहाँ तो पूर्वोक्त सन्देह अलङ्कार होता है। और जहाँ ऐसे संशय ज्ञान में एक कोटि का प्रबल (उत्कट) ज्ञान होता है अर्थात् निश्चित प्राय ज्ञान होता है उसे सम्भावना कहते हैं—'उत्कटैककोटिः संशयः सम्भावनम्'*। उत्प्रेक्षा अलङ्कार में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है।

उत्प्रेक्षा में भेद का ज्ञान रहते हुए अर्थात् उपमेय और उपमान को दो वस्तु समझते हुए उपमेय में उपमान का आहार्य आरोप† किया जाता है। रूपक में जो आहार्य आरोप होता है वह उपमेय उपमान के

* काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ७०८।

† वस्तुतः अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाता है उसे आहार्य आरोप कहते हैं।

अभेद में होता है। जैसे, 'मुखचंद्र' में 'मुख ही चंद्र है' यह अभेद माना जाता है। अतः मुखचन्द्र में रूपक है और उत्प्रेक्षा में वक्ता 'मुख मानो चन्द्रमा है' इस प्रकार मुख और चन्द्रमा को वास्तव में भिन्न-भिन्न मानता हुआ मुख को चन्द्रमा मानता है।

उत्प्रेक्षा में जहाँ मनु, जनु, मनहु, मानो, जानहु, निश्चय, इव, प्रायः और शंके आदि उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा होती है और जहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। किन्तु जहाँ सादृश्य के बिना अर्थात् उपमेय उपमान भाव के बिना केवल सम्भावना-वाचक शब्द होते हैं वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं होता। दासजी ने काव्यनिर्णय में जो उत्प्रेक्षा का—

"जो कहौं काहु के रूप सों रीझै तो और को रूप रिझावन वारो,
जो कहौं काहु के प्रेम पगे हैं तो और को प्रेम पगावन वारो,
'दासजू' दूसरो भेव न और इतो अवसेर लगावन वारो,
जानति हौं गयो भूलि गुपालहिँ पंथ इतैकर आवन वारो"॥२१०

यह उदाहरण दिया है। इसमें 'जानतिहौं' पद केवल सम्भावना-वाचक है। उपमेय-उपमान भाव न होने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार नहीं।

लक्षण में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कथन उपलक्षण मात्र है। क्योंकि हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उपमेय-उपमान भाव के बिना ही उत्प्रेक्षा होती है।

उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार हैं—
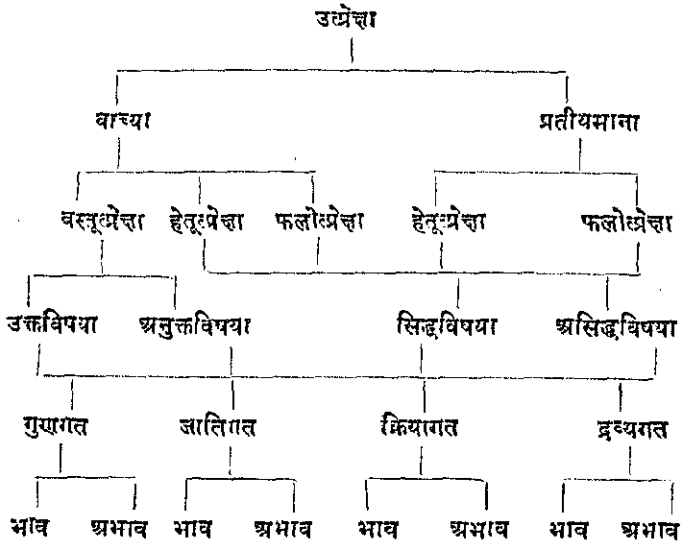
वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सम्भावना की जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है। इसको 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' भी कहते हैं। वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा का विषय (आश्रय) उपमेय होता है। इसके दो भेद हैं—

(१) उक्तविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय कहकर सम्भावना की जाती है वहाँ उक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

(२) अनुक्तविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय कथन न करके सम्भावना की जाती है वहाँ अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

उक्त-विषया—

"सोहत ओढ़ैं पीत-पट स्याम सलोने गात,
मनो नील-मनि-सैल पर आतप परयो प्रभात"॥२११॥

पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण के श्याम-तन (उपमेय) में प्रातःकालीन सूर्य-प्रभा से शोभित नील-मणि के पर्वत (उपमान) की सम्भावना की गई है। यहाँ पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का श्याम-तन जो उत्प्रेक्षा का विषय है उसको पूर्वार्द्ध में कहकर उत्प्रेक्षा की गई है अतः उक्तविषया है। उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनो' शब्दका प्रयोग है अतः वाच्या है।

प्रति प्रति लतिकाओं भूरुहों पास जाके—
मुखरित मधुपाली क्या यही है बताती,
यह तरु-लतिकाएँ भाग्यशाली महा हैं,
प्रतिदिन करते श्रीकृष्ण लीला यहाँ है॥२१२॥

ब्रजस्थ प्रेमसरोवर के इस वर्णन में प्रत्येक लता और वृक्ष के समीप जाकर गुँजायमान होने वाली भ्रमरावली के उस गुंजन में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह भृङ्गावली मानों उन वृक्षलताओं को भगवान कृष्ण की लीलास्थली बता रही है।

"आये अवधेस के कुमार सुकुमार चारु,
मंजु मिथिला की दिव्य देखन निकाई है।
सुररमनी-गन रसीली चहुं ओरनि तैं,
भौंरनि की भीर दौरि दौरि उमगाई है।
तिनके अनोखे-अनिमेष-दृग पाँतिनि पै,
उपमा तिहूँ पुर की ललकि लुभाई है।
उन्नत अटारिनि पै खिरकी-दुवारिनि पै,
मानो कंज-पुंजनि की तोरन तनाई है"॥२१३॥

देवाङ्गनाओं के अनिमेष नेत्र पंक्तियों में कमल की वंदनवारों की उत्प्रेक्षा की गई है।

जाती ऊपर नील-मेघपटली छाया गिरे आ कभी,
है यों श्वेत प्रवाह किंतु उससे आधा बने श्याम भी,
आती है मिलने कलिंद-तनया* भागीरथी द्वार में,
मानो संगम हो यहाँ फिर मिली वे जा रही साथ में॥२१४॥

हरिद्वार में श्री गंगाजी के श्वेत प्रवाह पर गिरी हुई मेघ-छाया में श्री गंगा और यमुना के संगम के दृश्य की उत्प्रेक्षा की गई है।

घन सांवरी चारु लसै कवरी मदिरा-मद-रक्त-प्रभा हलकी,
रमनी-मुख याहि कहैं सब लोग छली मति है जगती तलकी,
मत मेरे में है ससि-बिंब यहैं अरुनाई उदोत समैं झलकी,
निज बैर सम्हारि गह्यो तमने कढ़ि कंदर तें उदयाचलकी॥२१५॥

यहाँ मदिरा के मद से कुछ अरुणता प्राप्त नायिका के कवरी (केशपाश) सहित मुख में उदयकालीन चन्द्रमा को उदयाचल से निकल कर अन्धकार द्वारा ग्रहण करने की सम्भावना की गई है। आचार्य रुद्रट ने जिसका यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य में मत अलङ्कार माना है। उनका कहना है कि जहाँ अन्य मत से उपमेय को कहकर वक्ता अपने मत से उसको (उपमेय को) उपमान रूप सिद्ध करता है वहाँ मत अलङ्कार होता है। किन्तु वस्तुतः मत अलङ्कार उत्प्रेक्षा से भिन्न होने योग्य नहीं।

"उस मुख-सुधाकर से सुधा की बिन्दुएं ढलकर बढ़ी,
कुछ आ कुचों पर बिखर जाती कुछ वहाँ रहतीं पड़ी,
मानो मदन-करि-कुँभ-युग गज-मोतियों से युक्त था,
या शिशिर मुकुलित पद्म-युग ही ओस-कण उपभुक्त था"२१६

---

* यमुना।

वियोगिनी दमयन्ती के मुख पर से वक्षस्थल पर गिरते हुए अश्रु-बिन्दुओं में मोतियों से शोभित कामदेव के हाथी के कुंभों की तीसरे चरण में और ओस कणों से शोभित कमल की दो कलियों की चौथे चरण में उत्प्रेक्षा की गई है।

"कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि,
श्याम-घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हृदय में तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि
ढाल पर खांड़ा कामदेव का दुधारा है"॥२१७॥

यहाँ नायिका के केशों की मांग में कजल की ढेरी के मध्य में दीपशिखा आदि की उत्प्रेक्षाएं की गई हैं। विश्वनाथ का कहना है कि यहाँ 'कि' के प्रयोग में सन्देह अलङ्कार न समझना चाहिये। क्योंकि यहाँ सन्देह नहीं किया गया है, किन्तु मांग में अनेक संभावनाएं की गई हैं अतः जिस प्रकार उपमा-वाचक 'इव' शब्द कहीं विशेष अवस्था में उत्प्रेक्षा वाचक हो जाता है इसी प्रकार सन्देह-वाचक 'कि' शब्द भी यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक* है। अलङ्कारसर्वस्व में ऐसे उदाहरण सन्देह अलङ्कार में लिखकर कहा है कि कुछ लोग ऐसे वर्णनों में उत्प्रेक्षा मानते हैं†।

ऊपर के इन सभी उदाहरणों में उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) कहा गया है अतः इनमें उक्तविषया उत्प्रेक्षा है।

---

*"तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावान्नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता"—साहित्यदर्पण उत्प्रेक्षा प्रकरण।

†देखिये अलङ्कारसर्वस्व सन्देह अलङ्कार प्रकरण।

अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा—

बरसत इव अंजन गगन लीपत इव तम अंग ॥२१८॥

यहाँ रात्रि में सर्वत्र फैले हुए अन्धकार में आकाश से अंजन की बरसा होने की उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का विषय जो अन्धकार है, वह यहाँ नहीं कहा गया है, अतः अनुक्तविषया है।

इस उदाहरण में 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा वाचक है। इव शब्द जिस शब्द के पीछे लगा रहता है वह उपमान माना जाता है—जैसा कि शाब्दी उपमा के प्रकरण में पहिले बताया गया है*, पर यहाँ 'बरषत' पद तिङन्त है अर्थात् साध्य क्रिया-वाचक पद है। जहाँ तिङन्त क्रिया-वाचक पद के साथ 'इव' शब्द होता है वहाँ वह उपमान नहीं हो सकता किन्तु संभावनार्थक होता है। क्योंकि सिद्ध को उपमानता संभव है न कि साध्य को। 'न तिङन्तेन उपमानमस्तीति'—महाभाष्य—३।१—७। इसकी व्याख्या में कैयट ने 'किन्तु तत्र संभावनार्थकः इव शब्दः।' ऐसा कहकर स्पष्ट कर दिया है।

जिस प्रकार संस्कृत में तिङन्त के साथ 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक होता है, उसी प्रकार हिन्दी में सी, सो आदि भी तिङन्त के साथ उत्प्रेक्षावाचक होते हैं। जैसे—

"सूर्योद्भासित कनक-कलश पर केतु था,
वह उत्तर को फहर रहा किस हेतु था,
कहता सा था दिखा दिखाकर कर कला—
यह जंगम† साकेत देव मंदिर चला"॥२१९॥

श्रीराम बनवास के समय अयोध्या के राजप्रासाद पर फहराती हुई ध्वजा में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि यह ध्वजा 'यह जंगम साकेत जा रहा है' यह कह रही है।

---

*देखो, श्रौती उपमा पृ० ४४। †चलता फिरता हुआ।

यहाँ 'सा' का प्रयोग 'कहता सा' इस तिङन्त के साथ होने के कारण उत्प्रेक्षा है।

'भारतीभूषण' में—

"सजि सिँगार तिय भाल पै मृगमद-बेंदी दीन्ह,
सुवरन के जय-पत्र में मदन-मोहर सी कीन्ह"॥२१९॥

यह दोहा धर्म-लुप्तोपमा के उदाहरण में दिया है। किन्तु 'मदन मोहर सी कीन्ह' में 'सी' का प्रयोग तिङ्त के साथ होने के कारण उत्प्रेक्षा है, न कि लुप्तोपमा।

अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा के अन्य उदाहरण—

तिय-तन-छवि-भर-तरन-हित लखि तिहिं अतल अपारु,
स्मर-जोवन के मनहु यह तरन-कुंभ जुग चारु*॥२२०॥

नायिका के उरोजों में कामदेव और यौवन के तरन-कुंभों की उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का विषय जो उरोज हैं, उनका कथन नहीं किया गया है अतः अनुक्तविषया है।

"वाही† राण प्रतापसी बरछी लचपच्चाह,
जाणक‡ नागण नीसरी मुँह भरियो बच्चाह"॥२२१॥

शत्रु का उदर चीर कर आँतों के साथ बाहिर निकली हुई महाराणा प्रताप की बरछी के दृश्य में यहाँ मुखमें बच्चे भरे हुए बांबी से निकलती हुई सर्पिणी की उत्प्रेक्षा की गई है। किन्तु उत्प्रेक्षा का विषय जो उदर चीर कर आँतों के साथ निकलने का दृश्य है, उसका कथन नहीं किया गया है; अतः अनुक्तविषया है।

---

* कामिनी के शरीर की कान्ति रूप अथाह झर (झरने से निकले हुए जल के प्रवाह) में दोनों कुच मानो कामदेव और यौवन के तैरने के दो घड़े या तूँबे हैं। † चलाई। ‡ मानो।

भिखारीदासजी ने काव्यनिर्णय में अनुक्तविषयाउत्प्रेक्षा का—

"चंचल लोचन चारु विराजत पास लुरी अलकैं थहरैं,
नाक मनोहर औ नथ-मोतिन की कछु बात कही न परै,
'दास' प्रभानि भरयो तिय-आनन देखत ही मनु जाइ अरै,
खंजन सांप सुआ सँग तारे मनो ससि बीच बिहार करै"॥२२२॥

यह उदाहरण दिया है। इसके चौथे चरण में चन्द्रमा के मध्य में खंजन, सर्प, शुक और तारागणों की उत्प्रेक्षा की गई है। किन्तु उत्प्रेक्षा के विषय (उपमेय) जो नायिका के मुख, नेत्र, अलकावली, नासिका और नथ के मोती हैं, उनका कथन, पहिले तीनों चरणों में कर दिया गया है; अतः उक्तविषया है, न कि अनुक्तविषया।

लछिरामजी ने भी अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा का रामचन्द्र भूषण में—

"जहँ अजोग कलपित सु तहँ वस्तु अनुक्त बखान।"

यह लक्षण लिखा है। अर्थात् दासजी ने और लछीरामजी ने असम्भव वस्तु की कल्पना की जाने को अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा समझ लिया है। इसी लक्षण के अनुसार लछीरामजी ने—

"मान गयौ मघवान को भूलि लखे दशरत्थ-बरात छटा है,
फूले घने बरसैं मुद में रचे देववधूटी विमान अटा है,
लाल अमारी मतंगन पै 'लछिराम' करै समता न कटा है,
आवत कज्जल-मेरु मनों चढ़ो पच्छिमी नील गुलाली घटा है"॥२२३॥

यह उदाहरण दिया है। इसमें दशरथजी के बरात के हाथियों में गुलाल की घटा छाए हुए कज्जल के पर्वतों की उत्प्रेक्षा की गई है। पर इसमें भी अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा नहीं, क्योंकि उत्प्रेक्षा का विषय जो सुरख अँवारी वाले हाथी हैं, उनका कथन तीसरे चरण में कर

दिया गया है; अतः उक्तविषया है। सम्भवतः काव्यनिर्णय के कारण लछीरामजी को भी भ्रम हो गया हो।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाने को हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् जो वास्तव में कारण न हो उसे कारण मान कर उसीक उत्प्रेक्षा किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) सिद्ध-विषया। उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध अर्थात् सम्भव हो।
(२) असिद्ध-विषया। उत्प्रेक्षा का विषय असिद्ध अर्थात् असम्भव हो।

सिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा—

लाई श्री मिथिलेश-सुता को रंगालय में सखियाँ साथ,
विश्व-विजय-सूचक वरमाला लिये हुए थी जो निज हाथ।
लज्जा, कांति और भूषण का उठा रहीं थी अतुलित भार,
मंद मंद चलती थी मानो इसी हेतु वह अति सुकुमार ॥२२४॥

श्री जानकीजी के स्वाभाविक मन्द गमन में लज्जा आदि का भार उठाने का कारण बता कर उत्प्रेक्षा की गई है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। यहाँ इस कारण द्वारा उत्प्रेक्षा करने में जो भार उठाने रूप उत्प्रेक्षा का आश्रय है, वह सिद्ध है। भार उठाने के कारण मन्द गमन होना सम्भव है अतः सिद्ध-विषया है।

असिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा—

प्रिया कुमुदनी हुई निमीलित रही दृष्टि-पथ रजनी भी न,
हुए समस्त अस्त तारागण रहा सुपरिजन* चिन्ह कहीं न,

* कुटुम्ब।

चिन्ता-ग्रस्त इसी से हिमकर* होकर विगत-प्रभा प्रभात,
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट जाकर अचिरात॥२२५॥

प्रभात में चन्द्रमा का कांति-हीन होकर क्षितिज पर चला जाना स्वाभाविक है। यहाँ क्षितिज पर जाने के कारण में नष्ट परिजनों की चिन्ता होने की उत्प्रेक्षा की गई है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा को उक्त चिन्ता का होना असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

तरुणियों के हृदय को अपना बनाकर स्थान यह,
चाहता रहना अहो! अब भी वहाँ दृढ़ मान यह,
उदित होने के समय यह जान कर कोपित हुआ,
क्या इसी से चन्द्रमा अत्यन्त यह लोहित हुआ॥२२६॥

उदित होते समय चन्द्रमा की स्वाभाविक रक्तता में मानवती नायिकाओं के मान दूर न होने से क्रोध के कारण अरुण होने की उत्प्रेक्षा की गई है जोकि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा का मानिनी नायिकाओं पर कुपित होना असम्भव है अतः असिद्ध-विषया है।

सहता न विकाश कभी निशि में शशि है अरविन्द का शत्रु सदा से
उसका तुम गर्व-विनाश प्रिये! करती अपने मुख की प्रतिभा से,
यह मान बड़ा उपकार अतः अरविंद कृतज्ञ हुआ सुख पाके--
मत मेरे में अर्पण की उसने पद तेरे सभी सुखमा निज आके†॥२२७॥

रूपवती रमणियों के चरणों में स्वभावतः कोमलता और सुन्दरता होती है। यहाँ उस सौन्दर्य का कारण कमल द्वारा अपनी शोभा तरुणी के चरणों में अर्पण करना कहा गया है। यह असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

---

* चन्द्रमा। † कमल जाति के द्वेषी चन्द्रमा के सौन्दर्य का गर्व तूने अपनी मुखकान्ति से दूर कर दिया है, इसी उपकार को मानकर मानों कमल ने अपनी शोभा को, हे प्रिये! तेरे चरणों में अर्पित करदी है।

"क्या प्रसव-वेदना से प्राची-रमणी का आनन लाल हुआ,
धीरे धीरे गगनस्थल में प्रकटित सुन्दर शशि-बाल हुआ,
खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु, मणि-जटित गगन के आँगन में,
तारावलि उसकी प्रभा देख खिल गई मुदित होकर मन में"॥२२८॥

सन्ध्याकाल में पूर्व-दिशा स्वभावतः रक्त हो जाती है। यहाँ उस रक्तता का कारण चन्द्रमा-रूपी बालक के प्रसव-काल की वेदना होना कहा गया है, यह असम्भव है अतः असिद्ध-विषया है।

फलोत्प्रेक्षा

अफल में फल की संभावना की जाने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् फल न हो उसमें फल की कल्पना किया जाना। यह भी सिद्ध-विषया और असिद्ध-विषया दो प्रकार की होती है।

सिद्ध-विषया—

भार उठाने के लिये पीन कुचों का वाम,
मानो इस कटि क्षीण पर कसी कनक की दाम॥२२६॥

कामिनी जब अपने नितंबों पर शोभा के लिए सुवर्ण दाम (कटि-भूषण किंकिणी) धारण करती हैं न कि स्थूल कुचों का भार उठाने के लिये किन्तु यहाँ इस फल के लिए—कुचों का भार उठाने के लिए—किंकिणी-धारण करना कहा गया है अतः फलोत्प्रेक्षा है। भार उठाने के लिये कटि बांधी ही जाती है अतः सिद्ध-विषया है।

दमयन्ती कच-पाश-विभा से गत-शोभा निज देख कलाप—
कार्तिकेय की सेवा करता है मयूर मानों इस ताप,
उसकी कुच-शोभा के आगे निष्प्रभ-कुम्भ हुआ गजराज—
मानों उनके सम होने को वह भी भजता है सुर-राज॥२३०॥

यहाँ दमयन्ती के केश-कलाप और उसके कुचों की शोभा की समता प्राप्त करने के लिये—इस फल की इच्छा से—मयूर द्वारा कार्तिकेय की और ऐरावत हाथी द्वारा इन्द्र की सेवा करने की उत्प्रेक्षा की गई है। तिर्यक योनि मयूर और हाथी द्वारा इस प्रकार की इच्छा का किया जाना सर्वथा असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

"तीजै घोस कुरुवृद्ध* सत्रु सैन्य कों हटाय,
किरीटी† कों अपनो पराक्रम दिखायो है।
सारथी महारथी जे दोनों कृष्ण‡ चक्रित है
प्रेरवे को अस्त्र शस्त्र छिद्र नहिं पायो है।
आगे पीछे सव्य अपसव्य जो निहारै ताहि
रथ ना लखावै सर-पंजर यों छायो है।
आन-वीर-बान तैं बचावे प्रान बासवी§ के
गंगापुत्र° बान को बितान$ सो बनायो है"॥२३१॥

भारत युद्ध में भीष्मजी द्वारा अर्जुन के रथ के चारों तरफ बाणों का पिंजरा बनाया गया उसमें अन्य योद्धाओं से अर्जुन के प्राण बचाने रूप फल के लिये मंडप बनाये जाने की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ 'सो' शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक है।

उपर्युक्त सारे उदाहरणों में उत्प्रेक्षा-वाचक मनु, जनु आदि शब्द हैं। अतः ये सभी वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण हैं। उक्त तीनों प्रकार की (वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा) वाच्योत्प्रेक्षाओं में कहीं 'जाति' उत्प्रेक्ष्य रहती है, कहीं 'गुण' कहीं 'क्रिया' और कहीं 'द्रव्य'। कुछ आचार्यों के मत के अनुसार द्रव्यगत उत्प्रेक्षा केवल वस्तूत्प्रेक्षा ही हो सकती है, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नहीं।

---

* भीष्म। † अर्जुन। ‡ भगवान् कृष्ण और अर्जुन। § इन्द्र का पुत्र अर्जुन। ° भीष्म। $ मंडप।

रसगङ्गाधर में हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के भी द्रव्यगत उदाहरण दिये गये हैं। वाच्योत्प्रेक्षा के तीनों भेदों के जो जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से चार चार भेद होते हैं उनमें कहीं 'भाव' और कहीं 'अभाव' उत्प्रेक्ष्य होता है। जैसे—'सहता न विकाश…………' (सं० २२७) में कमल जातिगत उत्प्रेक्षा है। 'सोहत ओढ़े पीत पट…………' (सं० २११) में 'पर्यो' इस क्रिया की उत्प्रेक्षा है। 'तरुणियों के हृदय को…………' (सं० २२६) में 'अरुण' गुण की उत्प्रेक्षा है। 'मृगनैनी मुख लसतु है मानहु पूरनचन्द'। में 'चन्द्र' इस एक द्रव्य की उत्प्रेक्षा है। इन उदाहरणों में 'भाव' रूप पदार्थ की उत्प्रेक्षा की गई है।

अभाव की उत्प्रेक्षा—

वाके जुगल कपोल की दसा न अब कहि जाय ।
छाम भये एते मनहु एक न अपर लखाय* ॥२३२॥

यहाँ 'एक न अपर लखाय' पद से दर्शन क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा की गई है। किन्तु इन जाति, गुण आदि भेदों में विशेष चमत्कार नहीं है।

प्रतीयमाना अथवा गम्योत्प्रेक्षा।

विश्वनाथ† का मत है कि प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा ही हो सकती हैं वस्तूत्प्रेक्षा नहीं। क्योंकि वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का प्रयोग न किया जाय तो अतिशयोक्ति की प्रतीति होने लगती है। जैसे—

---

* वियोगिनी का वर्णन है। उसके युगल कपोल जो पहले बड़े रमणीय थे अब वे इतने कृश हो गये हैं कि मानों परस्पर में एक दूसरे को देख नहीं सकते।

† देखिये साहित्यदर्पण परिच्छेद १०। ४४

सखि-मंडल कों छुवत हैं मनु या पुर के भौन।

इस वर्णन में महलों के ऊँचे शिखिरों में चन्द्र-मण्डल को छूने की उत्प्रेक्षा की गई है। यदि यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनु' शब्द हटा दिया जाय तो असम्बन्ध में सम्बन्धवाली सम्बन्धातिशयोक्ति होजाती है। किन्तु पण्डितराज* ऐसे उदाहरणों में उत्प्रेक्षावाचक शब्द के अभाव में भी गम्योत्प्रेक्षा ही मानते हैं, न कि सम्बन्धातिशयोक्ति। पण्डितराज का कहना है कि सम्बन्धातिशयोक्ति वहीं हो सकती है जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो। जैसे—

जलद ! गरज करु नांहि सुनि मेरो मासिक गरभ,
गुनि मत-गज-धुनि याहि, उछरतु मेरे उदर में ॥२३३॥

इस पद्य में उत्प्रेक्षा की सामग्री न होने के कारण सम्बन्धातिशयोक्ति है।

भिखारीदासजी ने लिखा है गम्योत्प्रेक्षा, 'काव्यलिङ्ग' में मिल जाती है—"याकी विधि मिल जात है काव्यलिंग में कोइ"। संभवतः गम्योत्प्रेक्षा का विषय दासजी नहीं समझ सके इसी से उन्होंने काव्यनिर्णय में गम्योत्प्रेक्षा का—

"बिनहु सुमन गन बाग में भरे देखियत भौंर,
'दास' आज मनभावती खेल कियो इहि ठौर"॥२३४॥

यह उदाहरण दिया है। किन्तु ऐसे वर्णनों में गम्योत्प्रेक्षा नहीं हो सकती है। इसमें न तो स्वरूप की उत्प्रेक्षा है और न हेतु या फल की ही। पुष्पों के बिना भौंरों की भीड़ देख कर बाग में नायिका के आने की संभावना मात्र है। इस दोहे के पूर्वार्द्ध में पुष्पों के होने रूप कारण के अभाव में भौंरों के होने रूप कार्य का होना कहा जाने से उक्त निमित्त

* देखिये रसगङ्गाधर उत्प्रेक्षा प्रकरण पृ० ३१४–३१५।

प्रथम 'विभावना' है अथवा उत्तरार्द्ध के वाक्य का पूर्वार्द्ध में ज्ञापक कारण होने से अनुमान अलंकार भी माना जा सकता है।

प्रतीयमाना-फलोत्प्रेक्षा—

सूक्ष्म लंक कुच धरन को कसी कनक की दाम ॥२३५॥

यहाँ मनु, जनु, आदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के बिना उत्प्रेक्षा है। नितम्बों पर कटि-भूषण का धारण करना कुचों का भार उठाने के लिये माना गया है। अतः गम्य-फलोत्प्रेक्षा है।

"*दुःसासन मृत्यु पेखि पूत बिनु जंघा भयो,
जाके जोर दीर्घ लँगराई को दुरायली।
भीष्म भगदत्त द्रोन गदा असि सक्ति भग्न,
जाके जोर गिरी गैंद वीरता गुरायली।

---

* यह संजय द्वारा कर्ण का मरण सुनकर धृतराष्ट्र की उक्ति है। दुःशासन की मृत्यु होने पर लँगड़े के समान हो कर भी दुर्योधन ने उस लँगड़ाई को जिस छड़ी (लकड़ी) के सहारे से छिपाली थी, और भीष्मादि के पतन होने पर वीरता रूपी जो गैंद गिर गई थी उसे भी जिसके सहारे से वह गुड़ाता रहा था अर्थात् युद्ध करता रहा था और भी बहुत सी रणरूपी नदियों को जिसके सहारे से वह पार कर गया था और जिस छड़ी से उसने जय रूपी नौबत बजाई थी, हा! उसी कर्ण रूपी लकड़ी को आज विधाता ने मानो इसलिये छीनली कि हम (अर्थात् गांधारी और मैं) अंधों को अंधे करने के (अर्थात् अंधों को बुद्धि रूप या पुत्र रूप नेत्र होते हैं सो दुर्योधन के मरने से वे भी नष्ट हो जायँगे) पाप से विधाता अंधा हो जायगा तब उसे भी लकड़ी रखने की आवश्यकता होगी।

जाके जोर ओर रन-कुल्या* लँघि पार भयो,
जाके जोर घोर जय-नोबत घुरायली।
अंधन करेगो अंध अंध ह्वैगो विधि यातैं,
आज सुत-अंध कर्न-छरिया छुरायली"॥२३६॥

कर्ण की मृत्यु भावी-वश हुई थी यहाँ कर्ण की मृत्यु में "विधाता अंधा होगा तब उसे भी लकड़ी की आवश्यकता होगी इस फल के लिये उसने दुर्योधन की कर्ण-रूपी लकड़ी छीनली।" यह उत्प्रेक्षा की गई है उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का प्रयोग न होने के कारण प्रतीयमाना है।

प्रतीयमाना-हेतूत्प्रेक्षा—

"†रतनहार गुनवान कों दै न सके हम ठाम,
तरुनी-कुच इहि लाज सों प्रकट न निज-मुख स्याम"॥२३७॥

यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द के प्रयोग बिना प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा है।

"बाल पन विसद बिताइ उदयाचल पै,
संवलित कलित कलानि ह्वै उमाहै है।
कहै 'रतनाकर' बहुरि तन-तोम जीत,
उच्च पद आसन लै सासन उछाहै है।
पुनि पद सोऊ त्यागि तीसरे विभाग मांहि,
न्यून तेज ह्वै कै सून पास में आवै है।

---

* रण रूपी नदी।

† यह अनुच्छिन्न चूचुका नायिका के स्तनों का वर्णन है। इस तरुनी के उरोज इस लाजा के कारण अपना काला मुख (स्तनों के मध्य भागका चिह्न) प्रगट नहीं करते हैं कि हमने (स्तनों ने) स्वयं बड़े (स्थूल) होकर भी गुणवान (डोरे में पोए हुए, श्लेषार्थ-गुणवाले) हार को स्थान नहीं दिया है।

जानि पन चौथो अत्र भेष कै भगौहौं भानु,
अस्ताचल थान में पयान कियो चाहै है" ॥२३८॥

यहाँ सूर्य के अस्ताचल पर जाने का कारण उसका चौथापन कहा गया है, जोकि वस्तुतः कारण नहीं है। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द न होने के कारण प्रतीयमाना है।

उत्प्रेक्षा यदि किसी दूसरे अलङ्कार द्वारा उत्थापित होती है अर्थात् उत्प्रेक्षा का कारणीभूत कोई दूसरा अलङ्कार होता है तो वह अधिक चमत्कारक होती है। जैसे—

श्लेष-मूला उत्प्रेक्षा—

शुक्ती-संकट सो निकसि मुक्त-निकर दुतिमान,
रमनी-गल-अधिवास सों मनहु भयो गुनवान ॥२३६॥

शुक्ति-संकट से निकसि (सीप के उदर से निकलकर अथवा संसार के *दुःख को त्याग कर*) मुक्त-निकर *दुतिमान* (*कान्ति* युक्त मोती अथवा तेजस्वी मुक्त पुरुष) कामिनी की ग्रीवा के अधिवास से (कण्ठ में हार रूप रहने से अथवा स्त्रियों के कण्ठ लगने की वासना से) मानों गुणवान (सूत के धागे से युक्त अथवा सत्य, रज आदि गुणों से युक्त) हो गया है।

यहाँ 'रमनी-गल-अधिवास सों' इस हेतु-उत्प्रेक्षा का कारण 'गुणवान' पद का श्लेष है।

ललितालिका* सुशोभित
लोभित करती है वैश्रवण-श्री† भी

---

*कपोल पक्ष में ललित अलिकावली और उत्तर दिशा के पक्ष में अलकापुरी।

†कपोल पक्ष में वै = निश्चय, श्रवणों की शोभा और उत्तर दिशा के पक्ष में वैश्रवण अर्थात् कुबेर की शोभा।

तेरी कपोल-पाली,
आली! क्या दिशा राजराजवाली‡ है ॥२४०॥

नायिका की कपोल स्थली की उत्तर दिशा के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। 'ललितालिका' और 'वैश्रवण' पद श्लिष्ट हैं।

सापन्हव-उत्प्रेक्षा—

आता है चलके प्रवाह गिरि से पा वेग की तर्जना—
होती है ध्वनि सो न, किन्तु करती मानो वही गर्जना,
वीची-क्षोभ-खिली सुदन्त-अवली ये फेन आभास है,
श्री गंगा कलि-काल का कर रहीं मानो बड़ा हास है॥२४१॥

यहाँ श्री गङ्गा के प्रवाह के फेनों का (झागों का) निषेध करके उस में कलि-काल के हास्य करने की उत्प्रेक्षा की गई है अतः यह सापन्हव-उत्प्रेक्षा है।

"चपल-तुरंग चख, भृकुटी जुआ के तारे,
धाय धाय मरत पिया के हित पथ है।
तरल तरौना चक्र, आसन कपोल गोल,
आयुध अलक बङ्क विकस्यो सु गथ है।
सारथी सिंगार हाव भाव कर रोरी लिये,
मन से मतङ्गन की गति लथपथ है।
विविध विलास साज साजै कवि 'उरदाम',
मेरे जान मुख मकरध्वज को रथ है"॥४४२॥

यह रूपक मिश्रित उत्प्रेक्षा है। नेत्र आदि में जो तुरंग आदि का रूपक किया गया है, उसके द्वारा नायिका के मुख में कामदेव के रथ की उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

---

‡राजराज नाम कुबेर का है, कुबेर उत्तर दिशा के पति हैं अतः उत्तर दिशा को कुबेर की दिशा कही जाती है।

उत्प्रेक्षा का प्रयोग उर्दू के कवियों ने भी किया है—

"चिराग सुबह ये कहता है आफताब को देख,
ये वजम तुमको मुबारिक हो हमतो चलते हैं"॥२४३॥

सूर्योदय होने के समय दीपक के बुझने पर उत्प्रेक्षा की गई है।

अन्य अलङ्कारों से उत्प्रेक्षा का पृथकरण—

भ्रांतिमान अलंकार में एक वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना की जाने में सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, कवि द्वारा ही सत्य वस्तु का कथन किया जाता है। उत्प्रेक्षा में वस्तु के सत्य स्वरूप का भी ज्ञान रहता है।

सन्देह अलङ्कार में ज्ञान की दोनों कोटियां समकक्ष प्रतीत होती हैं। उत्प्रेक्षा में एक कोटि जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, प्रबल रहती है।

अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध होता है अर्थात् उपमेय का निगरण* होकर उपमान मात्र का कथन होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य रहता है, अर्थात् उपमान का अनिश्चित रूप से कथन होता है।

(१५) अतिशयोक्ति अलङ्कार

अतिशय का अर्थ है अतिक्रान्त–'अतिशयतः अतिक्रान्ते।' (शब्द-चिन्तामणि)। अर्थात् उल्लंघन। अतिशयोक्ति अलङ्कार में लोक-मर्यादा को उल्लंघन करनेवाली उक्ति होती है।

अतिशयोक्ति का विषय बहुत व्यापक है। शब्द और अर्थ की जो विचित्रता (अलङ्कारता) है वह अतिशयोक्ति के ही आश्रित है। अति-

---

*निगरण का अर्थ है निगल जाना—हजम कर जाना। अतिशयोक्ति में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का कथन होता है, अर्थात् उपमान द्वारा उपमेय का निगरण है।

शयोक्ति के भिन्न-भिन्न चमत्कारों की विशेषता से अलङ्कारों के भिन्न-भिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। जहाँ किसी चमत्कारक उक्ति में किसी विशेष अलङ्कार का नाम निर्दिष्ट नहीं किया गया हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार कहा जा सकता है। आचार्य दण्डी ने सन्देह, निश्चय, मीलित, और अधिक आदि बहुत से अलङ्कारों को पृथक् न लिखकर अतिशयोक्ति के अन्तर्गत ही लिखा है*। दण्डी ने अतिशयोक्ति के उपसंहार में लिखा है कि—

"अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् †॥"

काव्यादर्श परि० २।२२०

लोक-सीमा के उल्लंघन के वर्णन में अतिशयोक्ति नामक एक विशेष अलङ्कार भी माना गया है, उसके भेद इस प्रकार हैं—
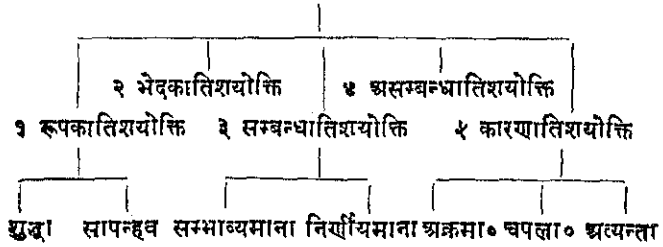
रूपकातिशयोक्ति

उपमान द्वारा निगरण किये हुए उपमेय के अध्यव-सान को रूपकातिशयोक्ति कहते हैं।

* देखिये काव्यादर्श।

† अतिशय नाम की उक्ति वाचस्पति द्वारा पूजिता है। यह बहुत से अन्य अलङ्कारों का भी आश्रयभूत है।

निगरण का अर्थ है निगल जाना अर्थात् उदर-गत कर लेना और अध्यवसाय का अर्थ है आहार्य अभेद* का निश्चय। रूपकातिशयोक्ति में उपमेय (आरोप के विषय) का कथन न किया जाकर केवल उपमान (आरोप्यमाण) के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाता है। अतः इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा रहती है। और भेद में अभेद कहा जाता है। अर्थात् उपमेय और उपमान दो पदार्थ होने के कारण दोनों में भेद होते हुए भी उपमेय का कथन न किया जाकर केवल उपमान कहा जाता है।

रूपकातिशयोक्ति का रूपक से पृथक्करण—

रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का कथन होता है। अतः केवल आहार्य अभेद होता है और अतिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन किया जाता है अतः आहार्य अभेद का निश्चय होता है।

रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण—

यमुना-तट कानन में स्थित है मिलता करने पर खोज पता,
जन आश्रित जो रहते, उनका पथ-खेद सभी रहता हरता,
कनकाभ-लता अवलंबित है वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता,
अवलंब अरे! झट ले उसका अब क्यों यह ताप वृथा सहता।

यहाँ श्री राधाकृष्ण उपमेय है। सुवर्ण-लता युक्त तमाल वृक्ष उपमान है। उपमेय श्री राधाकृष्ण का कथन नहीं किया गया है—केवल कनकाभ (सुवर्ण जैसी कान्तिवाली) लता से युक्त तमाल-वृक्ष (जो श्री राधाकृष्ण का प्रसिद्ध उपमान है) के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया गया है। अतः उपमान द्वारा उपमेय का निगरण है।

---

* आहार्य-अभेद अर्थात् अभेद न होने पर भी अभेद मान लेना।

"ए हो ब्रजराज ! एक कौतुक बिलोको आज,
भानु के उदै में बृषभानु के महल पर।
बिन जलधर बिन पावस गगन द्युति,
चपला चमंकै चारु घनसार थल पर।
'श्रीपति' सुजान मनमोहन मुनीसन के,
सो हैं एक फूल मंजु चंचला अचल पर।
तामें एक कीर-चोंच दाबै है नखत जुग,
सोभित हैं फल स्याम लोभित कमल पर"॥२४४॥

यहाँ श्री राधिकाजी और उनके अङ्गों का (जो उपमेय है) कथन नहीं है। केवल उनके उपमान चपला (बिजली), कीर आदि ही का कथन किया गया है।

"सखि! मैं भव-कानन में निकली वन के इसकी वह एक कली
खिलते खिलते जिससे मिलने उड़ आ पहुंचा हिल हेम-अली,
मुसकाकर आलि! लिया उसको तब लौं वह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' यह गूंज यहाँ किस ओर गया वह छोड़ छली"॥२४५

उर्मिला की इस उक्ति में लक्ष्मणजी उपमेय और हेम-अली (पीत-कान्तिवाला भ्रमर) उपमान है। उपमेय लक्ष्मणजी का शब्द द्वारा कथन नहीं है। केवल उपमान हेम-अली का कथन किया गया है। यहाँ भव में कानन (वन) के आरोप में और उर्मिला में कली के आरोप में जो रूपक है वह अतिशयोक्ति का अङ्ग है।

"है बिखेर देती वसुंधरा मोती सब के सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर,
और विराम दायिनी अपनी संध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम-तनु जिससे उसका नया रूप दिखलाता है"।२४६

यह निशा-कालीन, प्रातःकालीन और सन्ध्या-कालीन तारागणों का

वर्णन है। उपमेय तारागणों का कथन नहीं किया गया है केवल उपमान मोतियों का कथन किया गया है।

रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार वेद और स्मृतियों में भी देखा जाता है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्योऽभिचाकशीति।"*

(तृतीय मुंडकोपनिषद् खण्ड १ सं० १)

इसमें जीव, ईश्वर, आदि उपमेयों का कथन न करके केवल दो पक्षी और वृक्ष आदि उपमानों का कथन है।

सापन्हव रूपकातिशयोक्ति—

अपन्हुति के साथ जहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है वहाँ सापन्हव-अतिशयोक्ति होती है।

मुक्ता-खचित विद्रुमों में वह भरा मधुर रस अनुपम है,
पुष्प, भार-वाहक केवल हैं वहाँ नहीं पाते हम हैं,
सुधा, सुधाकर में न कहीं है वसुधा में यदि सुधा कहीं—
तो है वहीं देखिये चल उस रमणी में प्रत्यक्ष यहीं॥२४७॥

यहाँ नायिका के अधरामृत-उपमेय का कथन न करके विद्रुम (अधर के उपमान) और मुक्ता (दन्तावली के उपमान) के मध्य में

---

*द्वा सुपर्णा = दो पक्षी (जीव और ईश्वर) हैं वे सयुजा (नियम्य-नियामक भाव से सहयोगी) और सखा हैं अर्थात् चेतना करके तुल्य स्वभाव हैं, और समान वृक्ष (एक ही शरीर) के आश्रित हैं, उनमें एक (जीव) स्वादिष्ट पिप्पल को (कर्म-फल को) भोगता है, दूसरा (ईश्वर) कुछ भक्षण न करके (कर्म-फल को न भोग कर) प्रकाशमान रहता है।

मधुर रस और सुधा-उपमान का कथन किया गया है। मधुर रस आदि का पुष्पादिक में निषेध किये जाने के कारण सापन्हव अतिशयोक्ति है।

भेदकातिशयोक्ति

उपमेय के अन्यत्व वर्णन में भेदकातिशयोक्ति होती है।

रूपकातिशयोक्ति में भेद में अभेद होता है और भेदकातिशयोक्ति में अभेद में भेद होता है, अर्थात् वास्तव में भेद न होने पर भी भेद कथन किया जाता है।

हैं अन्य धन्य रचना वचनावली की,
लोकोत्तरा प्रकृति लोक-हितैषिणी भी।
जो कार्य आर्य-पथ-दर्शक हैं उन्होंके—
हे मित्र ! वे सब विचित्र महज्जनों के ॥२४८॥

यहाँ सज्जनों के लौकिक चरित्रों में 'अन्य' 'लोकोत्तर' और 'विचित्र' पदों के द्वारा भेद वर्णन किया गया है।

"अनियारे दीरघ नयनि किती न युवति सयान,
वह चितवन औरैं कछू जिहिं बस होत सुजान" ॥२४६॥

यहाँ कामिनी के अन्य साधारण कटाक्षों में 'औरैं' पद के द्वारा भेद बताया गया है।

"औरैं भांति कुंजन में राग-रत भौंर भीर
औरैं भांति भौंरिन में बौरन के न्वै गये।
कहैं 'पदमाकर' सु औरैं भांति गलियान-
छलिया छबीले छैल औरैं छबि छ्वै गये।
औरैं भांति विहग समाज में अवाज होति,
अबै रितुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरैं रस औरैं रीति औरैं राग औरैं रंग,
औरैं तन औरैं मन औरैं बन ह्वै गये" ॥२५०

वसन्त आगमन के इस वर्णन में 'औरैं' शब्दों के द्वारा कुन्ज आदि में भेद न होने पर भी भेद कहा गया है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना किये जाने को सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—

(१) सम्भाव्यमाना। जहाँ 'यदि' 'जो' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असम्भव कल्पना की जाय।

(२) निर्णीयमाना। जहाँ निश्चित रूप से असम्भव कल्पना की जाय। अर्थात् निर्णीत रूप से असम्भव वर्णन किया जाय।

संभाव्यमाना—

"करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं धर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों दर्शित हुए,
दो पद्म शुंडों में लिए दो शुंड वाला गज कहीं—
मर्दन करै उनको परस्पर तो मिलै समता वहीं"॥२५१॥

यहाँ 'कहीं' शब्द द्वारा दो शूँड़ वाले हाथी की असम्भव कल्पना की गई है। अर्थात् दो शूंड़ वाले हाथी के होने का सम्बन्ध न होने पर भी 'कहीं' शब्द के प्रयोग द्वारा असम्भव सम्बन्ध कल्पना किया गया है।

"आनन कोटिन कोटि लहै प्रति-आनन कोटिन जीभ जु पावै,
सारदा संकर सेसौ गनैसौ प्रसन्न ह्वै जो जुग कोटि पढ़ावैं,
ध्यान धरै तजि आनि विषै वह 'दत्तजू' ग्यान जो ब्रह्म पै पावै,
ए जननी जगदम्ब ! चरित्र ये तेरे कछू तब गावै तो गावै"॥२५२॥

यहाँ भी 'जो' पद के प्रयोग द्वारा सम्भाव्यमाना सम्बन्धातिशयोक्ति है।

जहाँ 'यदि' और 'जो' आदि के प्रयोग होने पर भी वास्तविक वर्णन होता है वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता है। जैसे—

"सक्र जो न माँग लेतो कुंडल कवच पुनि,
चक्र जो न लीलती धरनि रथ-धार तो।
कुंती जो न सरन समेटि लेती द्विजराज,
साप जो न हो तो, सल्य सारथी न जारतो।
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीत-पट वारो बनि,
सारथीपने को कछु कारज न सारतो।
तो तो बीर करन प्रतापी रविनन्दन सु,
पांडु-सुत-सेना को चबेना करि डारतो" ॥२५३॥

यहाँ 'जो' आदि शब्दों का प्रयोग है परन्तु कर्ण की और पाण्डवों की वास्तविक अवस्था का वर्णन होने के कारण अलङ्कार नहीं है।

सम्भाव्यमाना अतिशयोक्ति को चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'सम्भावना' नाम का एक स्वतंत्र अलङ्कार माना है। दण्डी ने इसे 'अद्भुतोपमा' नामका उपमा का ही एक भेद लिखा है।

निर्णीयमाना—

जलद ! गरज करु नांहि सुनि मेरो मासिक गरभ,
गुनि मत-गज-धुनि ताहि उछरतु है मेरे उदर ॥२५४॥

मेघ-गर्जना को गज-ध्वनि समझ कर सिंहनी के गर्भ का उछलना असम्भव है अतः सम्बन्ध न होने पर भी यहाँ कहा गया है और निश्चित रूप से कहा गया है अतः निर्णीयमाना अतिशयोक्ति है।

असम्बन्धातिशयोक्ति

सम्बन्ध में असम्बन्ध कहने को असम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

युग उरोज तेरे अली ! नित नित अधिक बढ़ांय,
तेरी भुज-लतिकान में, अब ये नांहि समाँय ॥२५५॥

उरोजों का दोनों भुजाओं के मध्य भाग में होने का सम्बन्ध यहाँ प्रत्यक्ष है फिर भी यहाँ उरोजों को उससे अधिक विस्तृत कहकर असम्बन्ध कहा गया है।

"मोहिबो मोहन की गति को गति ही पढ़ी बैन कहोंधों पढ़ैगी,
ओप उरोजन की उपजै नित काहि मढ़ै अंगिया न मढ़ैगी,
नैनन की गति गूढ़ चलाचल 'केसवदास' अकास चढ़ैगी,
माई कहाँ यह जायगी दीपति जो दिन द्वै यहि भांति बढ़ैगी"।

यहाँ अङ्गकांति का नायिका के शरीर में या लोक में समा जाने का सम्बन्ध होने पर भी 'कहाँ जायगी' पद से असम्बन्ध कहा है।

कारणातिशयोक्ति

कारण और कार्य के पौर्वापर्य विपर्यय में कारणातिशयोक्ति होती है।

इसके तीन भेद हैं:—

(१) अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कार्य और कारण का एक ही काल में होना कहा जाता है वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

"उठ्यो संग गज-कर-कमल चक्र चक्र-धर हाथ,
करते चक्र रु नक्र-सिर धर ते विलग्यो साथ" ॥२५७॥

यहाँ गज-शुण्ड से कमल का उठना यह कारण और श्रीहरि के हाथ से सुदर्शन-चक्र का उठना यह कार्य, दोनों का एक ही साथ होना कहा गया है।

"*उतैं ये निकारैं बर-माला हृस्य-संपुट सौं,
इतैं अखै तून के निकारत ही बान के।
उतैं देव-वधू माल-ग्रंथि को सँधान करैं,
गाण्डीव की मुरवी पै होत ही सँधान के।
इतैं जापै कोप की कटाक्ष भरे नैन परैं,
उतैं भर काम की कटाक्ष प्रेम पान के।
मारिबे को बरबे को दोनों एक साथ चलैं,
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अप्छरान के"॥२५८॥

यहाँ अर्जुन द्वारा अक्षय-तूण से बाणों का निकालना, आदि कारण; और युद्ध में मरने के पश्चात् वीर पुरुषों को स्वर्गलोक में अप्सराओं का प्राप्त होना यह कार्य दोनों का एक ही साथ होना कहा गया है।

(२) चपलातिशयोक्ति

जहाँ कारण के ज्ञानमात्र से कार्य का होना कहा जाता है वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है।

'जाऊँ कै जाऊँ न' यह सुनतहि पिय-मुख बात,
ढरकि परे करसों वलय सूख गये तिय-गात ॥२५६॥

---

* यह अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। तूणीर से बाण के निकालते ही स्वर्ग में अप्सरायें वर-माला निकालने लगती हैं। गाण्डीव पर बाण के खैंचते ही देवाङ्गनायें वरमालाओं की ग्रन्थियों को खैंचने लगती हैं। क्रोध से भरे अर्जुन के कटाक्ष जिस शत्रु पर गिरते हैं, अप्सराओं के कामकटाक्ष उस पर गिरने लगते हैं। कौरवों के वीरों को मारने के लिये अर्जुन के हाथ और उनको वरने के लिए अप्सराओं के हाथ एक ही साथ चलते हैं।

यहाँ प्रिय-गमन रूप कारण के ज्ञानमात्र से नायिका के हाथ से कङ्कण का ढीला होकर गिर जाने और शरीर का सूख जाने रूप कार्य का होना कहा गया है।

(३) अत्यंतातिशयोक्ति

जहाँ कारण के प्रथम ही कार्य का होना कथन किया जाता है, वहाँ अत्यंतातिशयोक्ति होती है।

"अजब अखंड बांह वलित लता लौं वसी
मंडित विरद मारू मंत्र-भा मढति है।
परम निसंक पान कीबे की रुधिर चाह
'लछिराम' साहस अभंग में बढ़ति है।
रावरी कृपान रन रंग बीच रामचंद्र!
बंक बढ़ि फन पै बहाली यों चढ़ति है।
प्रान पहिले ही हरैं असुर सँघातिन के
पीछे पन्नगी लौं म्यान-बाँबी तें कढ़ति है"॥२६०॥

यहाँ कृपाण का म्यान से निकालना जो कारण है, उसके प्रथम ही राक्षसों के प्राणान्त होने रूप कार्य का होना कहा गया है।

"रमत रमा के संग आनँद-उमंग भरे
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै।
कहै 'रतनाकर' वदन-दुति औरै भई
बूँदैं छई छलकि दृगनि नेह-नाधे पै।
धाये उठि बार न उबारन में लाई रंच
चंचला हू चकित रही है वेग साधे पै।
आवत वितुंड*की पुकार मग आधे मिली,
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज† मग-आधे पै"॥२६१॥

---

* हाथी। † गरुड़।

यहाँ गजेन्द्र की पुकार सुनने रूप कारण के प्रथम ही उसके उद्धार करने के लिये प्रस्थान करने रूप कार्य का होना कहा गया है।

—— * ——

(१६) तुल्ययोगिता अलङ्कार

तुल्ययोगिता का अर्थ है तुल्य पदार्थों का योग। तुल्ययोगिता अलङ्कार में अनेक प्रस्तुतों का या अप्रस्तुतों का गुण या क्रिया रूप एक धर्म में योग अर्थात् अन्वय आदि होता है। इसके तीन भेद हैं:—

प्रथम तुल्ययोगिता

अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) के अथवा अप्रस्तुतों (उपमानों) के एक धर्म कहे जाने को प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार कहते हैं।

प्रथम तुल्ययोगिता में औपम्य (उपमेय-उपमान भाव) गम्य (छिपा हुआ) रहता है। अर्थात् अनेक उपमेयों का अथवा अनेक उपमानों का एक धर्म कहा जाता है। किन्तु उपमा की तरह तुल्ययोगिता में सादृश्य की योजना करने वाले साधारण-धर्म-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

प्रस्तुतों का एक धर्म—

"सर्व ढके सोहत नहीं उघरे होत कु-वेस,
अरध-ढके छवि पातु हैं कवि-अच्छर, कुच, केस"॥२६२॥

यहाँ कवि-वाणी कुच, और केश तीनों वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत हैं। इन तीनों का 'अरध ढके छवि पातु हैं' यह एक ही क्रिया रूप धर्म कहा गया है।

"कहैं यहै श्रुति सुमृत्यौ यहै सयाने लोग,
तीन दबावत निसक ही पावक, राजा, रोग"॥२६३॥

यहाँ पावक, राजा और रोग इन तीनों प्रस्तुतों का 'निसक ही दबा-वत' यह एक धर्म कहा गया है।

"भूषन भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस में छवि छाई,
पूरी अनेक पदारथ तें जिहि में परमारथ स्वारथ पाई,
औ उकतै मुकतैं उलही कवि 'तोष' अनोप भई चतुराई,
होत सबै सुखकी जनिता बनि आवतु जो वनिता कविताई"।२६४

यहाँ वनिता और कविता दोनों प्रस्तुतों का भूषन-भूषित आदि एक धर्म कहे गये हैं। यह श्लेष-मिश्रित तुल्ययोगिता है।

कपट-नेह* असरल† मलिन करन निकट‡ नित वास,
गनिका-कुटिल-कटाक्ष, खल दोऊ ठगत स-हास ॥२६५॥

यहाँ गणिका के कटाक्ष और खल ये दोनों प्रस्तुत हैं—वर्णनीय हैं इनका 'हँसते हुए औरों को ठगना' एक ही क्रिया रूप धर्म कहा गया है। यह भी श्लेष-सङ्कीर्ण है।

अप्रस्तुतों का एक धर्म—

"लखि तेरी सुकुमारता एरी! या जग माँहि,
कमल गुलाब कठोर से किंहिं कों लागत नाँहि"॥२६६॥

यहाँ नायिका की सुकुमारता के वर्णन में कमल और गुलाब इन दोनों उपमानों का एक ही धर्म कहा गया है।

---

*मिथ्या प्रेम। †कटाक्ष पक्ष में बांका होना, खल पक्ष में कुटिल। ‡ कटाक्ष पक्ष में कानों के समीप, खल पक्ष में कान में दूसरे की चुगली करना।

दूसरी तुल्ययोगिता

हित और अनहित में तुल्य-वृत्ति वर्णन में दूसरी तुल्ययोगिता होती है।

अर्थात् मित्र और शत्रु के साथ एक ही समान वर्त्ताव किया जाना—

प्रफुल्लता प्राप्त जिसे न राज्य से
न म्लानता भी वन-वास से जिसे।
मुखाम्बुजश्रीरघुनाथ की, वही
सुख-प्रदा हो हमको सदैव ही ॥२६७॥

यहाँ 'राज्य-प्राप्त होना' इस हित में और 'वनवास को जाना' इस अनहित में श्रीरघुनाथजी के मुख-कमल की शोभा की समान वृत्ति कही गई है।

"जे तट पूजन कों बिसतारैं पखारैं जे अंगन की मलिनाई,
जो तुव जीवन लेत है जीवन देत हैं जे करि आप ढिठाई,
'दास' न पापी सुरापी तपी अरु जापी हितू अहितू बिलगाई,
गंग! तिहारी तरंगन सों सब पावैं पुरन्दर की प्रभुताई"॥२६८॥

यहाँ पूजन करनेवाले और शरीर का मल धोने वाले अर्थात् हित-कर और अहितकर दोनों को श्रीगङ्गाजी द्वारा इन्द्र की प्रभुता दिया जाना यह समान वृत्ति कही गई है।

तुल्ययोगिता का यह भेद महाराजा भोजकृत सरस्वती-कण्ठाभरण के अनुसार चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में लिखा गया है। यह श्लेष मिश्रित भी होता है। जैसे—

"सर क्रीड़ा करि हरत तुम तिय को अरि को मान"॥२६९॥

यहाँ कामिनी रूप मित्र के साथ और शत्रु के साथ 'सर क्रीड़ा' द्वारा उनका मान हरण किया जाना, यह एक ही वृत्ति है। यहाँ श्लेष द्वारा

तुल्यवृत्ति है। 'सर' शब्द श्लिष्ट है, इसका अर्थ कामिनी-पक्ष में जल-क्रीड़ा और शत्रु-पक्ष में बाण-क्रीड़ा है। यहाँ तुल्य-वृत्ति में चमत्कार है अतः तुल्ययोगिता ही प्रधान है—श्लेष तुल्ययोगिता का अङ्गमात्र है, प्रधान नहीं।

तीसरी तुल्ययोगिता

प्रस्तुत की (उपमेय की) उत्कृष्ट-गुण वालों के साथ गणना की जाने को तीसरी तुल्ययोगिता कहते हैं।

आचार्य भामह आदि ने तुल्ययोगिता का केवल एक यही भेद लिखा है। मम्मट आदि आचार्यों ने इस तीसरी तुल्ययोगिता को 'दीपक' अलङ्कार के अन्तर्गत माना है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म कहा जाता है*।

"कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामनि मन मानि,
चौथो तेरो सुजस हू हैं मनसा के दानि"॥२७०॥

यहाँ राजा के यश (प्रस्तुत) को कामधेनु आदि वांछित फल देने वाली उत्कृष्ट वस्तुओं के साथ गणना करके उन्हीं के समान वांछित फलदायक कहा गया है।

"एक तुही वृषभानु-सुता अरु तीनि हैं वे जु समेत सची हैं,
और न केतिक राजन के कविराजन की रसना ये नची हैं,
देवी रमा कवि 'देव' उमा ये त्रिलोक में रूप की रासि मची हैं,
पै वर-नारि महा सुकुमारि ये चारि विरंचि विचार रची हैं"॥२७१॥

यहाँ वर्णनीय श्रीवृषभानु-सुता का सची, रमा और उमा इन तीनों उत्कृष्टों के साथ उन्हीं के समान बताकर वर्णन किया गया है।

'भाषाभूषण' में इस तुल्ययोगिता का—

---

* देखिये, काव्यप्रकाश उद्योत टीका।

"तूही श्रीनिधि धर्मनिधि तुही इन्द्र तुहि इन्दु।"

यह उदाहरण दिया है। किन्तु इसमें 'श्रीनिधि' आदि उपमानों का 'तुही' उपमेय में आरोप है; अतः रूपक है न कि तुल्ययोगिता। तुल्ययोगिता के इस भेद में तो उपमेय को उत्कृष्ट गुणवालों के समान बताकर उपमेय की उनके साथ गणना की जाती है न कि आरोप।
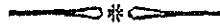
(१७) दीपक अलङ्कार

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्म कहने को दीपक अलङ्कार कहते हैं।

दीपक अलङ्कार का नाम दीपक न्याय के अनुसार है अर्थात् जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ दीपक बहुत-सी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार दीपक अलङ्कार में गुणात्मक या क्रियात्मक एक धर्म द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के स्वरूप का प्रकाश किया जाता है। इसी आधार पर श्री भरतमुनि और भामह आदि आचार्यों ने दीपक के आदि, मध्य और अन्त ये तीन भेद माने हैं। जहाँ आदि में धर्म कथन किया जाता है वहाँ आदि और जहाँ मध्य या अन्त में धर्म कथन किया जाता है वहाँ मध्य या अन्त दीपक माना है।

तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों का अथवा केवल उपमानों का ही एक धर्म कहा जाता है। और दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा जाता है। इन दोनों में यही भेद है।

बल-गर्वित सिसुपाल यह अजहू जगत सतातु,
सती-नारि निश्चल-प्रकृति परलोकहु सँग जातु ॥२७२॥

श्रीकृष्ण के प्रति देवर्षि नारद की उक्ति है। शिशुपाल की निश्चल प्रकृति (स्वभाव) का वर्णन प्रस्तुत है (प्रकरण गत है) और पतिव्रता

स्त्री अप्रस्तुत। इन दोनों का 'परलोकहु सँग जात' यह एक धर्म कहा गया है।

निज-पति-रति कुलटान, खलन प्रेम अरु अहिन शम।
कृपन जनन को दान, विधि जग सिरजे ही नहीं॥२७३॥

यहाँ सर्प अप्रस्तुत का और कुलटा, खल तथा कृपण प्रस्तुतों का 'सिरजे नहीं' यह अभाव रूप एक धर्म कहा गया है।

"छोटे छोटे पेड़नि को सूरन की वारि करौ
पातरे से पौधा पानी पोखि प्रतिपारिबो।
फूले फूले फूल सब बीनि इक ठोर करौ
घने घने रूंख एक ठौर तें उखारिबो।
नीचे गिरिगये तिन्हैं दै दै टेक ऊंचे करौ
ऊंचे चढ़ि गये ते जरूर काटि डारिबो।
राजन को मालिन को प्रतिदिन 'देवीदास'
चारि घरी राति रहे इतनो विचारिबो" ॥२७४॥

यहाँ राजा प्रस्तुत और माली अप्रस्तुत है। इन दोनों के एक धर्म कहे गये हैं।

"देखे तें मन ना भरै तन की मिटै न भूख,
विन चाखे रस ना मिलै आम, कामिनी, ऊख" ॥२७५॥

कामिनी प्रस्तुत का और आम तथा ऊख अप्रस्तुतों का यहाँ 'बिन चाखे रस ना मिलै' यह एक धर्म कहा गया है।

नदी-प्रवाह रु ईख-रस द्यूत, मान-संकेत,
भ्रू-लतिका पांचौ यहैं भंग भये सुख देत ॥२७६॥

यहाँ भ्रू-लता और मान प्रस्तुत हैं और नदी-प्रवाह, ईखरस तथा द्यूत अप्रस्तुत हैं। इनका चौथे चरण में एक धर्म कहा गया है। यह श्लेप-मिश्रित दीपक है।

स्यामल पावस के समय दिसि घन-सघन-घटान,
छितितल हू नव अंकुरित कोमल तृन लतिकान ॥२७७॥

यहाँ दिशा और पृथ्वीतल दोनों का 'श्यामल' गुण रूप एक धर्म कहा गया है।

"धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ,
गोपिनि कौं आवत न भावत भडंग है।
कहै 'रतनाकर' करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न कोऊ इहाँ यह मुहचंग है।
और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधौ!
साँस रोकिबे कौं कहा जोग ही कुढंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग* अति,
जमुना-तरंग† है तिहारौ सतसंग‡ है"॥२७८॥

यहाँ कटारी, ऊँची अटारी, यमुना की तरंग अप्रस्तुत और उद्धवजी का संग प्रस्तुत इन चारों का स्वास रोकने (मृत्यु कारक होने) रूप एक धर्म कहा गया है।

दीपक और तुल्ययोगिता का पृथकरण—

पण्डितराज के मत के अनुसार दीपक अलङ्कार तुल्ययोगिता के ही अन्तर्गत है। उनका कहना है कि केवल प्रस्तुतों के अथवा केवल अप्रस्तुतों के एक धर्म कहने में जब तुल्ययोगिता के दो भेद कहे गये हैं, तब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एक धर्म कथन किये जाने में कोई विशेष विलक्षणता न होने के कारण इसे भी तुल्ययोगिता का ही एक भेद माना जाना उचित है।

---

* 'ऊँचे मकान पर से गिर जाना' यह भाव है। † 'यमुना जी की धारा में डूब जाना' यह भाव है। ‡ उद्धव द्वारा वैराग्य का उपदेश सुनना भी गोपी जनों ने मृत्यु के समान ही असह्य सूचन किया है।

(१८) कारक-दीपक अलङ्कार

बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक* के प्रयोग में कारक-दीपक अलङ्कार होता है।

कारक-दीपक अलङ्कार में दीपक न्याय† के अनुसार अनेक क्रियाओं का एक कारक होता है।

रसगंगाधर में इसको दीपक अलङ्कार का ही एक भेद माना है।

"कहत नटत रीझत खिझत हिलत मिलत लजियात,
भरे भौन में करतु है नैनन ही सों बात" ॥२७६॥

यहाँ कहत, नटत इत्यादि अनेक क्रियाओं का एक कारक है। अर्थात् कर्त्ता एक नायिका ही है।

"बता अरी ! अब क्या करूँ रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आंसू पियूँ, मन मारूँ झखमार" ॥२८०॥

यहाँ 'भय खाऊँ' आदि अनेक क्रियाओं की उर्मिला ही एक कारक है।

सूर-सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि-कुल-कान,
सजन पर उपकार कों छोड़तु हैं गत-प्रान ॥ २८१॥

यहाँ कर्त्ता और कर्म के निबन्धन में दीपक है।

उर्दू रचना में भी कारक-दीपक मिलता है—

"हँसे रोये फिरे रुसवा‡ हुए जागे बँधे छूटे,
गरज हमने भी क्या क्या कुछ मोहब्बत के मजे लूटे" ॥२८२॥

---

* कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण यह छः कारक होते हैं। इनमें कोई भी एक कारक का बहुत सी क्रियाओं में होना। † दीपक न्याय के लिये देखो दीपक अलङ्कार। ‡ बदनाम।

इसमें हसने, रोने आदि अनेक क्रियाओं का वक्ता ही एक कारक है।

---
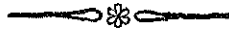
(१६) माला-दीपक अलङ्कार

पूर्व कथित वस्तुओं से उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहने को माला-दीपक अलङ्कार कहते हैं।

मालादीपक में दीपक न्याय के अनुसार उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहा जाता है। किन्तु जो उत्तरोत्तर पदार्थ कहे जाते हैं उनमें पूर्वोक्त 'दीपक' की भाँति प्रस्तुत अप्रस्तुत भाव नहीं रहता है।

'दीपक' और 'एकावली' इन दोनों अलङ्कारों के मिलने पर माला-दीपक अलङ्कार होता है।

रस सों काव्य रु काव्य सों सोहत वचन महान,
वचनन ही सों रसिक-जन तिनसों सभा सुजान ॥२८३॥

यहाँ प्रथम कथित 'रस' से उसके उत्तर कथित काव्य का, काव्य से वचनों का, वचनों से रसिक जनों का और रसिक जनों से सभा का 'सोहत' इस एक क्रिया रूप धर्म से सम्बन्ध कहा गया है।

भारतीभूषण में माला-दीपक का लक्षण—'वर्ण्य, अवर्ण्य की एक क्रिया का ग्रहीत-मुक्त रीति से व्यवहार किया जाना' लिखा है। किन्तु इस लक्षण में वर्ण्य अवर्ण्य का प्रयोग अनुचित है—इस अलङ्कार में सादृश्य (उपमेय-उपमान भाव) नहीं रहता

है* । रसगङ्गाधर में भी स्पष्ट कहा है—'सादृश्यसम्पर्कअभावम्' पृ० ३२८।

—:*:—

(२०) आवृत्ति-दीपक अलङ्कार ।

अनेक वस्तुओं को स्पष्ट दिखाने के लिए प्रत्येक वस्तु के समीप दीपक द्वारा प्रकाश डाला जाता है, इस दीपक न्याय के अनुसार आवृत्ति दीपक में एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ दोनों प्रकाशित किये जाते हैं। इसके तीन भेद हैं—पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थावृत्ति । जिनकी आवृत्ति होती हैं वे पद प्रायः क्रियात्मक होते हैं।

पदावृत्ति दीपक

भिन्न भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति होना।

"घन बरसै हैं ! सखी । निसि बरसैं हैं देख" ॥२८४॥

यहां भिन्नार्थ वाले 'बरसै हैं' क्रियात्मक पद की आवृत्ति है । 'बरसैं हैं' का अर्थ घन के साथ बरसा होना है और निशि के साथ संवत्सर है।

अर्थावृत्ति दीपक

एक ही अर्थ वाले भिन्न भिन्न शब्दों की आवृत्ति होना।

"दौरहिं सँगर मत्तगज धावहिं हय समुदाय,
नटहिं रंग में बहुनटी नाचहिं नट हरषाय" ॥२८५॥

यहां एकार्थ 'दौरहिं' और धावहिं क्रियात्मक शब्दों की आवृत्ति है।

---

* 'प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेपिदीपकच्छायापत्तिमात्रेणदीपक-व्यपदेशः' कुवलयानन्द ।

पदार्थावृत्ति दीपक

ऐसे पद की आवृत्ति होना जिसमें वही शब्द और वही अर्थ हो।

"मीन मृग खंजन खिस्यान भरे मैन बान
अधिक गिलान भरे कंज कल ताल के,
राधिका रसीली के छोर छवि छाक भरे
छैलता के छोर भरे भरे छवि जाल के,
'ग्वाल' कवि आन भरे सान भरे स्यान भरे
कछू अलसान भरे भरे मान-माल के,
लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे
लाली भरे लाड़ भरे लोचन हैं लाल के"॥२८६॥

यहाँ एक ही अर्थवाले 'भरे' क्रिया-वाचक पद की कई बार आवृत्ति है।

'आवृत्ति दीपक' अलङ्कार 'यमक' और अनुप्रास में गतार्थ है—भिन्न नहीं। कुछ लोग पदावृत्ति की यमक से और पदार्थावृत्ति दीपक की अनुप्रास से यह भिन्नता बतलाते हैं कि दीपक में क्रिया-वाचक-पद और पद-अर्थ दोनों की आवृत्ति होती है। यमक और अनुप्रास में क्रियावाचक पद और पदार्थों का नियम नहीं होता है। किन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार आवृत्ति-दीपक, केवल क्रिया-वाचक शब्दों के प्रयोग द्वारा ही नहीं किन्तु क्रिया-वाचक शब्दों के बिना भी होता है। जैसे—

जय जग-कारन जय वरद जय करुना-सुखकंद,
जय ससि-सेखर त्रिपुर-हर जय हर, हर-दुख द्वंद ॥२८७॥

यह 'जय' शब्द की आवृत्ति में दीपक है।

---

(२१) प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार

उपमेय और उपमान के पृथक् पृथक् दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म शब्द-भेद द्वारा कहने को प्रति-वस्तूपमा अलङ्कार कहते हैं।

'प्रतिवस्तूपमा' का अर्थ है प्रतिवस्तु (प्रत्येक वाक्यार्थ) के प्रति उपमा। यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग समान-धर्म के लिए है। अर्थात् उपमेय और उपमान के दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म का पृथक् पृथक् शब्द द्वारा कहा जाना।

प्रतिवस्तूपमा का अन्य अलङ्कारों से पृथक्करण—

१—उपमा में उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग होता है। प्रतिवस्तू-पमा में उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

२—दृष्टान्त अलङ्कार में यद्यपि उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान-धर्म तीनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। प्रतिवस्तूपमा में एक ही समान-धर्म शब्द भेद से कहा जाता है।

३—दीपक और तुल्ययोगिता में समान-धर्म का एक बार कथन किया जाता है और प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म का पृथक् पृथक् शब्द-भेद से दो बार कथन किया जाता है।

उदाहरण—

आपद-गत हू सुजन जन भाव उदार दिखाय,
अगरु अनल में जरत हू अति सुगंध प्रगटाय ॥२८८॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में विपद-ग्रस्त सज्जन का वर्णन उपमेय वाक्य है। उत्तरार्द्ध में अग्नि पर जलते हुए अगरु (एक सुगन्धित काष्ठ) का वर्णन

उपमान वाक्य है। इन दोनों वाक्यों में एक ही समान-धर्म–'दिखाय' और 'प्रकटाय' इन पृथक् पृथक् शब्दों में कहा गया है—'दिखाय' और प्रकटाय' का अर्थ एक ही है केवल शब्द-भेद है।

"चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर,
फीको परै न बरु फटे, रँग्यो लोह रँग चीर" ॥२८६॥

यहाँ भी पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'चटक न छाँड़त' और 'फीको न परै' एक ही धर्म शब्द-भेद से कहा गया है।

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य में भी होती है, जैसे—

विज्ञ जनन को अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ,
प्रसव-वेदना दुसह सों बांझ न होइ अभिज्ञ ॥२६०॥

यहाँ प्रथम वाक्य में 'जानत हैं' यह विधि रूप धर्म है और दूसरे वाक्य में 'न होइ अभिज्ञ' यह निषेध रूप धर्म है अतः वैधर्म्य से एक ही धर्म कहा गया है।

माला प्रतिवस्तूपमा—

वहत जु सर्पन को मलय धरत जु काजर दीप,
चंदहु भजत कलंक को राखहिं खलन महीप ॥२६१॥

यहाँ 'वहत' 'धरत' एवं 'भजत' और 'राखहिं' में एक ही धर्म शब्द-भेद से कई बार कहा गया है अतः माला है।

———:※:———

(२२) दृष्टान्त अलङ्कार

उपमेय, उपमान और साधारण-धर्म का जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है।

दृष्टान्त का अर्थ है—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः' काव्यप्रकाश। दृष्टान्त अलङ्कार में दृष्टान्त (निश्चित) वाक्यार्थ दिखाकर दार्ष्टान्त (अनिश्चित) वाक्यार्थ का निश्चय कराया जाता है। अर्थात् दृष्टान्त दिखाकर किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाना।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का पृथक्करण—

'प्रतिवस्तूपमा' में केवल साधारण-धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तु भाव अर्थात् एक धर्म शब्द-भेद द्वारा दोनों वाक्यों में कहा जाता है। दृष्टान्त में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म तीनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है। अर्थात् उपमेय और उपमान के दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न समान-धर्म होते हैं।

पण्डितराज का मत है कि (प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में) अधिक भिन्नता न होने के कारण इनको एक ही अलङ्कार के दो भेद कहने चाहिए—न कि भिन्न-भिन्न अलङ्कार।

उदाहरण—

"दुसह दुराज प्रजान के क्यों न बढ़ै दुख द्वंद,
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद" ॥२६२॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'दुख द्वन्द बढै' और 'अधिक अँधेरो करत' ये भिन्न-भिन्न दो धर्म कहे गये हैं। इन सबका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

पाथोधि लंघन किया कपि सेन सारी
मंथाद्रि ही अतुलता उसकी निहारी।
हुए अनेक कवि काव्य-रसाधिकारी
मर्मज्ञ किन्तु कवि एक हुआ मुरारी ॥२६३॥

इसमें पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है। इन दोनों का पृथक् पृथक् धर्म-समुद्र की अगाधता का ज्ञान होना और

काव्य का मर्मज्ञ होना कहा गया है। इन सबका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

पाथोधि मंथन सुरासुर ने किया था,
पीयूष-दान-यश श्रीहरि को बदा था।
हुए अनेक कवि, की रस की मथाई,
रामायणी-रस-सुधा तुलसी पिवाई ॥२६४॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय-वाक्य का समान धर्म (अमृतदान) सहित उत्तरार्द्ध में बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

"सज्जन नांहि करैं तृसकार करैं तो 'गुविन्द' महा सुखदानी,
नीच करैं अति आदर कों हु तथापि वहै दुख ही की निसानी,
ठोकर देय तुरङ्ग ललाट में है वह कीरति ही सरसानी,
जो खर पीठ पै लेय चढ़ाइ तऊ जग में उपहास कहानी"॥२६५॥

इसमें पूर्वार्द्ध के उपमेय वाक्य का उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में प्रतिबिंब है।

माला दृष्टान्त—

"पंछिन कों विरछौ हैं घने विरछान कों पंछिहु हैं घने चाहक,
मोरन कों हैं पहार घने औ पहारन मोर रहैं मिलि नाहक,
'बोध' महीपन कों मुकता औ घने मुकतानि के होहिं वेसाहक,
जो धनु हैं तो गुनी बहुतैं अरु जो गुन हैं तो अनेक हैं गाहक"॥२६६॥

यहाँ चतुर्थ चरण उपमेय वाक्य है पहिले तीनों चरण उपमान वाक्य है उपमेय और उपमान वाक्यों का बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

वैधर्म्य में दृष्टान्त—

भव के त्रय ताप रहैं तबलौं नरके दृढ़-मूल बने हिय मांही,
जबलौं करुनाकर की करुना परिपूरित दीठि परै वह नांही,
दिसि पूरब में उदयाचल पै प्रकटै जब है रवि की अरुनाई,
तब पंकज-कोस-छिप्यौ तमतोम कहो यह देत कहाँ दिखराई।२६७

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय वाक्य में ताप की स्थिति और उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में तम का अभाव कहा गया है। अतः वैधर्म्य से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

---

(२३) निदर्शना अलङ्कार

निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्त करण अर्थात् करके दिखाना। निदर्शना अलङ्कार में दृष्टान्त रूप में अपने कार्य की उपमा दिखाई जाती है।

प्रथम निदर्शना

वाक्य के अथवा पद के अर्थ का असम्भव सम्बन्ध जहाँ उपमा का परिकल्पक होता है वहाँ प्रथम निदर्शना अलङ्कार होता है।

प्रथम निदर्शना में परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव वाले दो वाक्यों या पदों के अर्थ का परस्पर असम्भव सम्बन्ध होता है अतः वह उपमा की कल्पना का कारण होता है। अर्थात् उपमा की कल्पना की जाने पर उस असम्भव सम्बन्ध की असम्भवता हट जाती है।

दृष्टान्त अलङ्कार में भी उपमेय और उपमान वाक्यों का परस्पर में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। पर दृष्टान्त में वे दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं—उपमान के वाक्यार्थ में दृष्टान्त दिखाकर उपमेय के वाक्यार्थ की पुष्टि की जाती है। और निदर्शना में उपमेय और उपमान वाक्य परस्पर में सापेक्ष होते हैं क्योंकि उपमेय के वाक्यार्थ में उपमान के वाक्यार्थ का आरोप किये जाने के कारण दोनों का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

प्रथम निदर्शना दो प्रकार की होती है—वाक्यार्थ निदर्शना और पदार्थ निदर्शना।

वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण—

कहाँ अल्प मेरी मती ? कहाँ काव्य-मत गूढ़।
सागर तरिबो उडुप* सों चाहतु हौं मति-मूढ़ ॥२६८॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के—'काव्य-विषयक ग्रन्थ की रचना करने वाला अल्पमति मैं' इस वाक्य का 'बाँसों की नाव से समुद्र को तरना चाहता हूँ' इस वाक्य से जो सम्बन्ध है, वह असम्भव है। क्योंकि ग्रन्थ-रचना करना अन्य कार्य है और समुद्र-तरण अन्य कार्य है, अर्थात् ग्रन्थ-रचना कार्य समुद्र-तरण नहीं हो सकता। अतः यह असम्भव सम्बन्ध 'मुझ अल्पमति द्वारा ग्रन्थ रचना का कार्य बाँसों की नाव से समुद्र-तरण के समान है (दुःसाध्य है)' इस प्रकार उपमा की कल्पना कराता है।

अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज ऐसे उदाहरणों में 'ललित' अलङ्कार मानते हैं। आचार्य मम्मट ने 'ललित' को नहीं लिखा है। अतएव सम्भवतः उन्होंने ललित को निदर्शना के ही अन्तर्गत माना है।

कालिंदी-तट पै निवास करते हो नित्य राधापते !
देते दर्शन भी वहाँ पर तुम्हें अन्यत्र हैं खोजते,
देखो जो निज-कण्ठ भूषित सदा चिन्तामणी होरही।
हा हा ! भूल उसे विमूढ़-भुवि में वे ढूँढ़ते हैं कहीं ॥२६६

यहाँ 'भगवान् श्रीकृष्ण को जो लोग अन्यत्र खोजते हैं' इस वाक्य का 'वे अपने कण्ठ में स्थित चिन्तामणि को भूलकर पृथ्वी पर ढूँढ़ते हैं' इस वाक्य में जो सम्बन्ध है वह असम्भव है। अतः 'यमुना तट पर स्थित प्रभु को अन्यत्र ढूँढ़ना वैसा ही है जैसा अपने कण्ठ में स्थित चिन्तामणि को पृथ्वी पर ढूँढ़ना' इस प्रकार उपमा की कल्पना की जाने पर अर्थ की संगति बैठ जाती है।

---

* बाँसों से बनी हुई नाव।

माला निदर्शना—

व्यालाधिप गहिबो चहैं कालानल कर-लीन्ह,
हालाहल पीवो चहैं जे चहँ खल-बस कीन्ह ॥३००॥

यहाँ दुर्जनों को वश करने की जो इच्छा है, वह सर्पराज को पकड़ने की, प्रचण्ड अग्नि को हाथ पर रखने की और जहर पीने की इच्छा के समान है' इस प्रकार तीन उपमाओं की कल्पना की जाती है अतः माला निदर्शना है।

'भारतीभूषण' में माला निदर्शना का—

"भरिबो है समुद्र को संबुक* में, छिति को छिगुनी† पर धारिबो है,
बँधिबो है मृनाल सों मत्त करी जुही फूल सों सैल बिदारिबो है,
गनिबो है सितारन को कवि 'संकर' रेनु सों तेल निकारिबो है,
कविता समुझाइबो मूढ़न कों सविता गहि भूमि पै डारिबो है"॥३०१

यह उदाहरण दिया है। और 'ललितललाम' में मतिरामजी ने निदर्शना का—

"जो गुनवृन्द सता-सुत में कल्पद्रुम में सो प्रसून समाजै,
कीरति जो 'मतिराम' दिवान में चंद में चाँदनी सो छवि छाजै,
राव में तेज को पुंज प्रचंड सो आतप सूरज में रुचि साजै,
जो नृप भाऊ के हाथ कृपान सो पारथ के कर-बान विराजै"॥३०२

यह उदाहरण दिया है। किन्तु इन दोनों छन्दों में रूपक अलङ्कार है न कि निदर्शना। रूपक और निदर्शना में यही भेद होता है कि जहाँ कर्ताओं का अभेद शब्द द्वारा कहा जाता है और क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा न कहा जाकर अर्थ से बोध होता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है। जहाँ कर्त्ताओं का अभेद शब्द द्वारा न कहा जाकर अर्थ से

---

* घोंघा (सीप)। † कनिष्टका अंगुली।

बोध होता है और क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा कहा जाता है वहाँ 'रूपक' होता है। पहिले वाले—'कहाँ अल्प मेरी मती'............, आदि तीनों उदाहरणों में कर्त्ताओं का ही अभेद शब्द द्वारा कहा गया है न कि क्रियाओं का। किन्तु "भरिबो है समुद्र को संबुक में"......, इस छन्द में 'भरिबो' आदि क्रियाओं का 'कविता समुझाइयो मूढ़न को' इस क्रिया के साथ शब्द द्वारा अभेद कहा गया है अतः रूपक है। यदि यह पद्य—

रतनाकरै संबुक चाहैं भरयो छिति को छिगुनी पर धारतु हैं,
गज बांध्यो मृनाल सों चाहतु वे जुही फूल सों सैल उपारतु हैं,
कवि 'संकर' तारन चाहैं गन्यो अरु रेनु सों तेल निकारतु हैं,
कविता समुझावतु मूढ़न वे सविता गहि भूमि में डारतु हैं॥२०३

इस प्रकार होता तो इसमें निदर्शना अलङ्कार हो जाता। क्योंकि इसमें कर्त्ताओं का अभेद शब्द द्वारा कहा गया है न कि क्रियाओं का। इसी प्रकार दूसरे छन्द में—"जो गुनवृन्द सता-सुत में (है) इत्यादि क्रियाओं का 'कल्पद्रुम में सो प्रसून सजावै' इत्यादि क्रियाओं के साथ शब्द द्वारा अभेद कहा गया है अतः इसमें भी रूपक है।

रूपक अलङ्कार जिस प्रकार एक पद के अर्थ के आरोप में होता है जैसे—'मुख-चंद्र' इस वाक्य में मुख में 'चन्द्र' के आरोप में 'मुख' इस एक पद में 'चन्द्र' इस एक पद का आरोप है, उसी प्रकार अनेक पद-समूह से बने हुए सारे वाक्य में दूसरे सारे वाक्य के आरोप में भी रूपक होता है। 'भरिबो है समुद्र को संबुक में' इस पद्य के चतुर्थ चरण के—'कविता समुझाइबो मूढ़न को' इस वाक्य में प्रथम के तीनों चरणों के वाक्यार्थ का आरोप किया गया है अतः रूपक ही है*।

---

* देखिए रसगङ्गाधर निदर्शना प्रकरण।

रसिकमोहन में रघुनाथ कवि ने निदर्शना का—

"लाखन घोरे भये तो कहा औ कहा भयो जो भये लाखन हाथी,
हे 'रघुनाथ' सुनो हो कहा भयो तेज के नेज दसौं दिसि नाथी,
कंचन दाम सो धाम भयो तो कहा भयो नापि करोरन पाथी,
जो न कियो अपनो अपनायकै श्रीरघुनायक लायक साथी"॥३०४

यह उदाहरण दिया है। किन्तु ऐसे उदाहरणों में निदर्शना अलङ्कार नहीं हो सकता। इसमें विनोक्ति अलङ्कार की ध्वनि है क्योंकि श्री रघुनाथजी के प्रेम बिना प्रथम के तीनों चरणों में कहे हुए वैभवों की व्यर्थता ध्वनित होती है।

पदार्थ निदर्शना—

ससि को इहिं ओर है अस्त तथा उहिं ओर है भानु उदै जबही,
तब ऊपर कों उनकी किरनैं बिखरी बिलसैं रसरी समही,
दुहुँ ओरन घंट रहै लटकी सुखमा गजराज की मंजु वही—
गिरि रैवत धारतु है सु प्रतच्छ प्रभात में पूनम के दिन ही ॥३०५

पूर्णिमा के प्रातःकाल सूर्य के उदय और चन्द्रमा के अस्त होने के समय रैवतक गिरि को दोनों तरफ दो घंटा लकटते हुए हाथी की शोभा को धारण करने वाला कहा गया है अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु की शोभा को धारण करने वाली कही गई है। किन्तु यह असम्भव सम्बन्ध है क्योंकि एक वस्तु की शोभा को दूसरी वस्तु धारण नहीं कर सकती। अतः इसके द्वारा—'दो घण्टा लटकते हुए हाथी की शोभा के समान रैवतक गिरि की शोभा होती है, इस उपमा की कल्पना की जाती है। यहाँ 'सुखमा' (शोभा) इस एक पद के अर्थ के असम्भव सम्बन्धद्वारा उपमा की कल्पना होती है अतः पदार्थ निदर्शना है।

द्वितीय निदर्शना

अपने स्वरूप और अपने स्वरूप के कारण का सम्बन्ध अपनी क्रिया द्वारा बोध कराये जाने को द्वितीय निदर्शना अलङ्कार कहते हैं।

क्रिया द्वारा बोध कराया जाना अर्थात् अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में उसका कारण दिखाया जाना।

प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार असम्भव सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है उसी प्रकार द्वितीय निदर्शना में सम्भावित सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है।

उदाहरण—

गिरि-शृङ्ग-गत पाषाण-कण पा पवन का कुछ घात वह,
गिरता हुआ है कह रहा अपनी दशा की बात यह—
उच्च पद पर जो कभी जाता पहुंच है क्षुद्र जन,
स्थिर न रह सकता वहाँ से सहज ही होता पतन ॥३०६॥

पर्वत के शृङ्ग पर पहुँचा हुआ कंकड़ 'मन्द वायु के धक्के से गिर जानेरूप' अपने स्वरूप का और अपने गिरने के—'छोटा होकर उच्च स्थान पर पहुँच जाना'—इस कारण का सम्बन्ध 'गिरताहुआ' इस अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में दूसरों को बोध कराता है।

यहाँ पर्वत-शृङ्ग पर स्थित छोटे कंकड़ का पवन से गिर जाने का सम्बन्ध है, वह असम्भव नहीं—सम्भावित है। यह सम्भावित सम्बन्ध इस उपमा की कल्पना कराता है कि जिस प्रकार छोटा कंकड़ पर्वत की चोटी पर पहुँच कर पवन के हलके धक्के से सहज ही नीचे गिर जाता है उसी प्रकार क्षुद्र (नीच) जन का भी उच्च पद पर पहुँच कर सहज ही अधःपतन हो जाता है।

दूसरों को व्यर्थ करते ताप, वे—
संपदा चिरकाल तक पाते नहीं,
हो रहा है अस्त ग्रीष्म-दिनांत में
दिवसमणि* करता हुआ सूचित यही ॥३०७॥

यहाँ सूर्य, अस्त होने रूप अपने स्वरूप का और लोगों को वृथा सन्तापदायक होने से अधिक काल तक सम्पत्ति का भोग प्राप्त न होने रूप कारण का सम्बन्ध 'हो रहा है अस्त' इस अपनी क्रिया द्वारा बोध कराता है।

"गर्तों में, गिरि की दरी विपुल में, जो वारि था दीखता,
सो निर्जीव, मलीन तेज-हत था उच्छ्वास से शून्य था,
पानी निर्झर स्वच्छ, उज्ज्वल महा, उल्लास की मूर्ति था,
देता था गति-शील-वस्तु-गरिमा यों प्राणियों को बता"॥३०८

यह गोवर्धन-गिरि के जल-निर्झरों का वर्णन है। झरनों के स्वच्छ और उज्ज्वल आदि गुण युक्त जल द्वारा अपनी गति की क्रिया से गति-शीलों के गौरव को बतलाना कहा गया है।
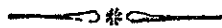
(२४) व्यतिरेक अलङ्कार

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष वर्णन को व्यतिरेक अलङ्कार कहते हैं।

व्यतिरेक पद 'वि' और 'अतिरेक' से बना है। 'वि' का अर्थ है विशेष और अतिरेक का अर्थ है अधिक। व्यतिरेक अलङ्कार में उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण-विशेष का आधिक्य (उत्कर्ष) वर्णन किया जाता है†।

---

* सूर्य। † 'व्यतिरेकः विशेषेणातिरेकः आधिक्यम् गुण विशेष कृत उत्कर्ष इति यावत्।' काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ७८३।

पूर्वोक्त प्रतीप अलङ्कार में उपमेय को उपमान कल्पना करके उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है और यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण की अधिकता वर्णन की जाती है।

व्यतिरेक के २४ भेद होते हैं—

इनके कुछ उदाहरण—

शाब्दी-उपमा द्वारा व्यतिरेक—

राधा मुख को चंद्र सा कहते हैं मतिरंक,
निष्कलंक है यह सदा उसमें प्रकट कलंक ॥२०६॥

यहाँ 'सा' शब्द होने के कारण शाब्दी-उपमा है। मुख-उपमेय के

उत्कर्ष का हेतु 'निष्कलंकता' और चन्द्र-उपमान के अपकर्ष का हेतु 'सकलङ्कता' कथन है, अतः प्रथम भेद है।

"तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा—
आचार्य! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा,
रघुवर-विशिख* से सिंधु सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थ-नंदन पार्थ से भी धीर-वीर प्रशस्त है" ॥३१०॥

यहाँ उपमेय पार्थ-नंदन का (अभिमन्यु का) उपमान-पार्थ से (अर्जुन से) आधिक्य कहा गया है। उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का हेतु नहीं कहा गया है। अतः दूसरा भेद है।

छोड़ सकते हैं नहीं वह काम-शर†
प्रिय-हृदय को कर न सकते मुदित वह,
हैं न तरै नयन से मृग-दृग प्रिये!
दे रहे कवि लोग उपमा भूल यह ॥३११॥

यहाँ उपमेय-नायिका के नेत्र के उत्कर्ष का हेतु न कहा जाकर केवल उपमान-मृग के नेत्रों के अपकर्ष के हेतु पूर्वार्द्ध में कहे गये हैं अतः तीसरा भेद है।

"मृग से मरोरदार खंजन से दौरदार
चंचल चकोरन के चित्त चोर बाँके हैं।
मीनन मलीनकार जलजन-दीनकार
भँवरन खीनकार असित प्रभा के हैं।
सुकवि 'गुलाब' सेत चिक्कन विसाल लाल
स्याम के सनेह सने अति मद छाके हैं।
बरुनी विसेस धारैं तिरछी चितौन वारे
मैन-बान हू तें पैने नैन राधिका के हैं" ॥३१२॥

---

* बाण। † कामदेव के बाण।

यहाँ उपमान-कामबाण का अपकर्ष न कह कर केवल नेत्र-उपमेय के उत्कर्ष का कथन किया गया है, अतः चतुर्थ भेद है।

आर्थी उपमा द्वारा व्यतिरेक—

सिय-मुख सरद-कमल सम किमि कहि जाय,
निसि मलीन वह, यह निसि दिन विकसाय ॥३०३॥

यहाँ आर्थी-उपमा-वाचक 'सम' शब्द है। उत्तरार्द्ध में उपमान के अपकर्ष और उपमेय के उत्कर्ष का कथन है अतः प्रथम भेद है। इस पद्य के कुछ पद परिवर्तन करने पर आर्थी उपमात्मक व्यतिरेक के शेष तीनों भेदों के उदाहरण भी हो सकते हैं।

आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक—

दहन करती चिता तन जीवन-रहित,
दुःख का अनुभव अतः होता नहीं,
रातदिन करती दहन जीवन सहित
है न चिंता-ज्वाल की सीमा-कहीं ॥३१४॥

यहाँ 'इव' आदि शाब्दी-उपमा वाचक शब्द और तुल्यादि आर्थी उपमा-वाचक शब्द नहीं है—उपमा का आक्षेप द्वारा बोध होता है। अतः आक्षिप्त-उपमा द्वारा व्यतिरेक है। पूर्वार्द्ध में मृत्यु रूप उपमान का अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में चिन्ता रूप उपमेय का उत्कर्ष कहा गया है अतः प्रथम भेद है।

"विधि-छत चन्द्र तें अनन्दित चकोर जन्तु
तेरे जस-चन्द्र तें कविंद्र सुख पातु हैं।
वह निसि राजै यह दिवानिसि सम राजै
वह स-कलंक, निकलंक यहाँ भातु हैं।
वाहि लखें कंज-पुंज मुकुलित होत याहि—
लखि कविवृन्द-मुख-कंज विकसातु हैं।

ह्रास वृद्धि वाके यह बढ़ै नित भूपराज !
वाके अरि-राहु याते अरि राह पातु है"* ॥३१५

बूंदी नरेश के यश रूपी चन्द्रमा-उपमेय का उत्कर्ष और चन्द्रमा का अपकर्ष कहा गया है अतः द्वितीय भेद है। उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग नहीं है—अर्थ बल से उपमा का आक्षेप होता है। अतः आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक है। यह रूपक मिश्रित व्यतिरेक है।

"सवरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ,
नाम उधारे अमित खल बेद-विहित गुनगाथ"॥३१६॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में श्रीरघुनाथजी का अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में श्री राम नाम का उत्कर्ष कहा गया है अतः द्वितीय भेद है। उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग न होने के कारण आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक है।

श्लेषात्मक व्यतिरेक—

सज्जन गन सेवहिं तुम्हें करतु सदा सनमान,
नहिं भंगुर-गुन कंज लौं तुम गाढ़े गुनवान ॥३१७॥

यहाँ 'लौं' शब्द शाब्दी उपमा-वाचक है। 'भंगुर' उपमान के अपकर्ष का और 'गाढ़े' उपमेय के उत्कर्ष का कारण कहा गया है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है इसका मनुष्य की प्रशंसा के पक्ष में 'चतुरता' आदि गुण और कमल पक्ष में कमल के तन्तु अर्थ है। अतः श्लेषात्मक शाब्दी उपमा द्वारा व्यतिरेक का प्रथम भेद है। इस दोहे के कुछ शब्द परिवर्तन कर देने पर शाब्दी उपमा द्वारा श्लेषात्मक व्यतिरेक के शेष तीनों भेदों के भी उदाहरण हो सकते हैं। और इसी प्रकार 'कंजलौं' के स्थान पर 'कंज सम' कर देने पर श्लेषात्मक आर्थी उपमा द्वारा व्यतिरेक के भी उदाहरण हो सकते हैं।

---

* चन्द्रमा का तो राहु (ग्रह) शत्रु है और राजा के यश रूपी चन्द्रमा द्वारा शत्रु राह पाते हैं अर्थात् सीधे मार्ग पर आ जाते हैं।

"हा हा रहैं* वाकै, यह देश में न हा हा† राखै
वह सतसत्र‡ यह अगिनित सत्र-धाम° ।
प्राचीपति वह, यह सकल दिशा को, वह
गोत्र-बल¶ बैरी यह पूरे बल गोत्र§ काम ।
पावै सतकोटि$, जो लुटावैं□ यह वाकै लेख,
हैं कवि‖ विरोधी याकै लक्ख दै कविन ग्राम± ।
लाज को जिहाज सुभ काज को इलाज सुर—
राज को सिरोमनि बिराजै रावराजा राम" ॥३१८॥

यहाँ 'सुरराज को सिरोमनि' वाक्य में श्लेषात्मक आक्षिप्तोपमा द्वारा बूंदी नरेश का इन्द्र से उत्कर्ष कहा गया है। 'हा हा' 'सत्र' और 'गोत्र' आदि श्लिष्ट शब्दों द्वारा इन्द्र का अपकर्ष और राजा का उत्कर्ष कहा गया है।

व्यतिरेक की ध्वनि—

राहु की है संक नहिं लखत कलंक न रेखु,
छवि-पूरित नित एक रस श्री राधा-मुख देखु ॥३१९॥

यहाँ केवल श्रीराधिकाजी के मुख-उपमेय के यथार्थ स्वरूप का वर्णन है। इसके द्वारा चन्द्रमा-उपमान से मुख-उपमेय का उत्कर्ष व्यंग्य से ध्वनित होता है। व्यतिरेक की यह अर्थ-शक्ति मूला-ध्वनि है।

आक्षिप्तोपमा के व्यतिरेक में और व्यतिरेक की ध्वनि में यह अन्तर है कि आक्षिप्तोपमा के व्यतिरेक में उपमान और उसके

---

* हाहा नामक गंधर्व । † आर्तनाद । ‡ एक सौ यज्ञ करने वाला । °असंख्य अन्न क्षेत्र । ¶ गोत्र का (पर्वतों का) और बलि राजा का शत्रु । §अपने गोत्र की (कुटुम्बी जनों की) कामना पूर्ण करनेवाला । $वज्र धारण करने वाला । □ शतकोटि द्रव्य दान देने वाला । ‖शुक्राचार्य । ±कवि जनों को लक्षों के द्रव्य का दान देने वाला ।

अपकर्ष सूचक विशेषण शब्द द्वारा कहे जाते हैं और व्यतिरेक की ध्वनि में उपमान के विशेषण शब्द द्वारा नहीं कहे जाते—केवल उपमेय के यथार्थ स्वरूप के वर्णन द्वारा ही उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष ध्वनित होता है।

आचार्य रुद्रट और रुय्यक ने उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में भी व्यतिरेक अलङ्कार माना है और—

क्षीण हो हो कर पुनः यह चन्द्रमा,
पूर्ण होता है कला बढ़ बढ़ सभी,
कर रही तू मान क्यों प्रिय से अली!
नहीं गत-यौवन पुनः आता कभी ॥३२०॥

यह उदाहरण दिया है। आचार्य मम्मट और पण्डितराज उपमान के उत्कर्ष में व्यतिरेक नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि उक्त उदाहरण में भी उपमान चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेय-यौवन का ही उत्कर्ष कहा गया है—मानिनी नायिका के प्रति मान छुटाने के लिए नायक की दूती के इस वाक्य में 'चन्द्रमा क्षीण हो हो कर भी पुनः बढ़ता रहता है, यह कहकर चन्द्रमा को उसने सुलभ बताया है और 'यौवन क्षीण होकर पुनः प्राप्त नहीं हो सकता' यह कह कर यौवन को दुर्लभ बताया है। वक्ता—दूती को मान-मोचन के लिए यौवन की दुर्लभता बताना ही अभीष्ट है। अतः यहाँ यौवन को दुर्लभ बताकर यौवन का उत्कर्ष कहा गया है। यदि उपमेय का अपकर्ष शब्द द्वारा भी कहीं कहा जाय तो वहाँ भी वह अपकर्ष वास्तव में उत्कर्ष ही होता है। जैसे—

निरपराधी-जनों को करना दुखित,
विषम-विष से भी अधिक है हीन यह,
जहर करता एक भक्षक को विनष्ट,
सभी कुल को किंतु करता क्षीण यह ॥३२१॥

यहाँ निरपराधी जनों को दुःख देना उपमेय और विष उपमान है। यद्यपि विष की अपेक्षा निरपराधी जनों को दुःख देने के कार्य को शब्द द्वारा हीन कहा गया है; परन्तु विष केवल खाने वाले को ही नष्ट करता है, पर यह सारे कुल को' इस कथन में निरपराधी जनों को दुःख देने की क्रूरता का वास्तव में उत्कर्ष ही कहा गया है।

विश्वनाथ भी रुद्रट और रुय्यक का अनुगामी है। विश्वनाथ ने उपमान के उत्कर्ष का—

> हनुमदादि निज सुयस सों कीन्ह दूत-पथ सेत,
> मैं तिहिं किय अरि-हास सों उज्वल-प्रभा-निकेत ॥३२३॥

यह* उदाहरण देकर कहा है "इसमें इन्द्रादि देवताओं द्वारा दूत बनाकर दमयन्ती के समीप भेजे हुए राजा नल ने उस दूत-कार्य में असफल होकर अपने को धिक्कार देते हुए कहा है—'श्री हनुमानजी आदि ने कृत कार्य होकर अपने सुयश द्वारा और मैंने असफल होकर शत्रुओं के हास्य द्वारा दूत-मार्ग को श्वेत किया है।' अतः इसमें उपमान—हनुमानजी की अपेक्षा उपमेय-नल की न्यूनता का वर्णन है। अतः इस वर्णन में स्पष्टतया उपमान का उत्कर्ष है।" इसके प्रतिवाद में काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार कहते हैं कि "जिस दूत-मार्ग को हनुमानजी आदि ने कृत कार्य होकर अपने यश द्वारा श्वेत किया था उसी को मैंने अकृत कार्य होकर अपने कुयश द्वारा श्वेत किया है अर्थात् नल की उक्ति में उपमेय (नल) का उत्कर्ष ही कहा गया है। क्योंकि सुयश द्वारा दूत-मार्ग को श्वेत किये जाने की अपेक्षा कुयश द्वारा उसे श्वेत किये जाने में कर्ता के चातुर्य का आधिक्य और चमत्कार है।"

---

* नैषधीय चरित के जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है, वह पद्य।

कुवलयानन्द में उपमान के उत्कर्ष का—

तू नव-पल्लव* सों रह रक्त रु हौंहू प्रिया-गुन-रक्त† लखावतु,
आवत तोपै सिलीमुख‡ त्यों स्मर-प्रेरित मोहुपै वे° नित धावतु,
कामिनि के पद-घात सों तू विकसात§ त्यों मोहू वो मोद बढ़ावतु,
तोहि असोक पै मोहि स-सोक कियो विधि, ये समता नहिं पावतु

यह उदाहरण दिया है। किन्तु पण्डितराज का कहना है कि वियोगी नायक की अशोक-वृक्ष के प्रति इस उक्ति में व्यतिरेक अलङ्कार नहीं है। तीन चरणों के वाच्यार्थ में कही हुई उपमा (सादृश्य) में ही वाक्य की समाप्ति मान ली जायगी तो कवि के वांछित वियोग-शृङ्गार का उत्कर्ष नहीं रह सकेगा। जिस प्रकार किसी विशेष अवसर पर अनुकूल होने के कारण रमणी के किसी अंग से आभूषण का दूर किया जाना शोभा-प्रद होता है उसी प्रकार यहाँ चौथे पाद में उपमा (सादृश्य) का दूर करना प्रसङ्ग प्राप्त विप्रलम्भ-शृङ्गार के अनुकूल होने के कारण रमणीय है। अतः यहाँ विप्रलम्भ-शृङ्गार प्रधान है न कि व्यतिरेक अलङ्कार।

हमारे विचार में यदि यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार भी मान लिया जाय तो भी अशोक की (उपमान की) अपेक्षा वक्ता वियोगी नायक का (उपमेय का) उत्कर्ष है। वक्ता कहता है—'यद्यपि मैं और तू दोनों ही स्त्री-वियोगी हैं पर तू जड़ होने के कारण वियोग-दुःख से व्याकुल नहीं है और मैं चेतन होने के कारण वियोग-दुःख से व्याकुल हूँ' अर्थात् तेरी अपेक्षा मुझ में यह(व्याकुलता रूप) अधिकता है।

---

* नवीन पत्तों के कारण अरुण वर्ण। † अपनी प्रिया के गुणों में अनुरक्त। ‡ भृङ्ग। ° कामदेव के छोड़े हुए बाण। § तरुणी के पाद-प्रहार की इच्छा करने वाला—कवि सम्प्रदाय में तरुणी के पाद-प्रहार से अशोक वृक्षका फूल उठना प्रसिद्ध है।

काव्यादर्श और कुवलयानन्द में अनुभय पर्यवसायी अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के बिना भी उपमेय और उपमान में किसी प्रकार के भेद के कथनमात्र में भी 'व्यतिरेक' माना है। जैसे—

दृढ़ मुट्ठी बाँधे रहतु* छिपे कोस-आगार†
भेद कृपानरु कृपन के है केवल आकार ॥३२५॥

यहाँ उपमेय-कृपण और उपमान-कृपाण में श्लेष द्वारा देखने में आकृति का और लिखने में 'प' के आकार का (ह्रस्व और दीर्घ होने मात्र का) भेद कहा गया है। किन्तु इसमें पण्डितराज ने व्यतिरेक न मान कर गम्योपमा मानी है। उनका कहना है कि आकार का भेद मात्र होने पर भी अन्य सब समान होने के कारण अन्ततः उपमा ही है।
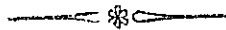
(२५) सहोक्ति अलङ्कार

सह-अर्थ-बोधक शब्दों के बल से एक ही शब्द जहाँ दो अर्थों का वाचक होता है वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है।

सहोक्ति अलङ्कार में सह भावकी उक्ति होती है अर्थात् सह, संग और साथ आदि शब्दों की सामर्थ्य से एक अर्थ के अन्वय का बोधक शब्द, दो अर्थों के अन्वय का बोधक होता है। एक अर्थ का प्रधानता से और दूसरे अर्थ का अप्रधानता से एक ही क्रिया में अन्वय होता है। जहाँ दोनों

---

* कृपाण (तलवार) के पक्ष में हाथ की मुट्ठी और कृपण पक्ष में बद्ध-मुष्टी अर्थात् किसी को कुछ न देना।

† कृपाण पक्ष में म्यान के भीतर छिपा रहना और कृपण पक्ष में धन को छिपाये रखना।

दोनों अर्थ प्रधान होते हैं वहाँ दीपक या तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक में उपमेयों का या उपमानों का अथवा उपमेय-उपमान दोनों का प्रधानता से एक क्रिया में अन्वय होता है—प्रधान और अप्रधान भाव नहीं होता।

सहोक्ति अलङ्कार कहीं शुद्ध और कहीं श्लेष-मिश्रित होता है।

शुद्ध सहोक्ति—

सकुच सँग कुच जुग बढ़त कुटिल भौंह दृग संग,
मनमथ संग नितंब बढ़ि भूषित तरुनी-अंग ॥३२६॥

यहाँ सकुच और दृग का 'बढ़त' के साथ शब्द द्वारा सम्बन्ध कहा गया है और 'कुच' एवं भृकुटि का 'बढ़त' शब्द के साथ सम्बन्ध 'संग' शब्द के सामर्थ्य से बोध होता है।

"फूलन के सँग फूलि हैं रोम परागन के सँग लाज उड़ाइ है,
पल्लव पुंज के संग अली! हियरो अनुराग के रंग रँगाइ है,
आयो वसंत न कंत हितू अब वीर! बदौंगी जो धीर धराइ है,
साथ तरून के पातन के तरुनीन के कोप निपात ह्वै जाइ है।"३२७

यहाँ 'फूल' आदि का 'फूलि हैं' आदि के साथ शब्द द्वारा सम्बन्ध कहा गया है और 'रोम' आदि का 'फूलिहैं' आदि के साथ सम्बन्ध 'सङ्ग' शब्द के बल से बोध होता है।

श्लेष मिश्रित सहोक्ति—

मन सँग रक्ताधर भये, सैसव सँग गति मन्द,
मनमथ सँग गुरुता लही, तरुनी-कुचन अमन्द" ॥३२८॥

यहाँ अधरों आदि का रक्त आदि होना 'भये' आदि शब्दों द्वारा कहा गया है, और मन आदि का रक्त होना 'संग' शब्द की सामर्थ्य से बोध होता है। अतः 'भये' आदि शब्द केवल 'अधर' आदि कर्त्ताओं

की क्रियायें हैं पर 'सङ्ग' शब्द की सामर्थ्य से मन आदि की क्रियाएं भी हो गई हैं, यही दो अर्थों की वाचकता है। 'भये' क्रिया पद का अधर के साथ प्रधानता* से और मन के साथ गौणता से सम्बन्ध है। 'रक्त' पद में श्लेष है—अधर के पक्ष में रक्त का अर्थ है लाल रंग और मन के पक्ष में अनुरक्त होना—अतः श्लेष मिश्रित है।

अलङ्कारसर्वस्व में कार्य-कारण के पौर्वापर्य विपर्यय में अतिशयोक्ति मूला-सहोक्ति का—

मुनि कौशिक की पुलकावलि संग उठा शिव-चाप लिया कर है,
नृपती-गण के मुख-मण्डल संग विनम्र तथैव किया, फिर है,
मिथिलेश-सुता-मन संग तथा उसको झट खैंच लिया धर है,
भृगुनाथ के गर्व के साथ उसे रघुनाथ ने भग्न दिया कर है ॥३२६॥

यह उदाहरण दिया है। यहाँ धनुष का भङ्ग होना कारण है और परशुराम जी के गर्व का भङ्ग होना कार्य है। इन दोनों का 'साथ' शब्द द्वारा एक काल में होना कहा गया है। अतः कार्य-कारण के एक साथ होने वाली अतिशयोक्ति का यहाँ मिश्रण है। विश्वनाथ ने भी सहोक्ति के इस भेद को माना है। पण्डितराज इसमें अतिशयोक्ति ही मानते हैं, न कि सहोक्ति। उनका कहना यह है कि सहोक्ति के इस उदाहरण में और अतिशयोक्ति के—

तुव-सिर अरु अरि-माथ नृप ! भूमि परत इक साथ।

ऐसे उदाहरणों में जहाँ कार्य और कारण के एक साथ होने का वर्णन होता है, कोई भेद नहीं है।

जहाँ चमत्कार रहित केवल सहोक्ति होती है—'सह' आदि शब्दों का प्रयोग होता है—वहाँ अलङ्कार नहीं होता। जैसे—

---

*साथ में ले जाने वाला प्रधान और साथ में जाने वाला गौण अर्थात् अप्रधान होता है।

विकसित वन मुखरित भ्रमर सीतल मंद समीर,
गउन चरावत गोप सँग हरि जमुना के तीर ॥३३०॥

यहाँ 'सँग' शब्द का प्रयोग होने पर भी चमत्कारक न होने के कारण अलङ्कार नहीं है।

---:※:---

(२६) विनोक्ति अलङ्कार

एक के बिना दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने के वर्णन को विनोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

विनोक्ति का अर्थ है किसी के बिना उक्ति होना। विनोक्ति अलङ्कार में एक वस्तु को किसी दूसरी वस्तु के बिना शोभित अथवा अशोभित कही जाती है। यह अङ्कलार पूर्वोक्त सहोक्ति का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है।

वदन सुकविता के बिना सदन सु वनिता हीन,
सोभित होत न जगत में नर हरि-भक्ति-विहीन ॥३३१॥

यहाँ सुन्दर कविता आदि के बिना वदन आदि की शोभा-हीनता कही गई है।

तीरथ को अवलोकन ह्वै मिलि लोकन सों धन हू लहिबो है,
बात अनेक नई लखि कै मति औ वच चातुरता गहिबो है,
हैं इतने सुख मित्र ! विदेसु पै एकहि दुःख बड़ो सहिबो है,
जो मृगलोचनि कामिनि के अधरामृत पान बिना रहिबो ह्वै ॥३३२॥

यहाँ कामिनी के बिना विदेश पर्यटन में सुख के अभाव रूप अशोभा का कथन है।

त्रास* बिना सोहत सुभट ज्यों छवि जुत मनि-माल,
दान† बिना सोहत नहीं नृप जिमि गज वल-साल ॥३३३॥

---

*सुभट (वीर) पक्ष में भय और मणि पक्ष में दोष। † राजा के पक्ष में दान और हाथी के पक्ष में मद का पानी।

यहाँ 'ग्रास' और 'दान' शब्दों में श्लेष होने से श्लेष-मूलक विनोक्ति है।

विनोक्ति की ध्वनि—

'झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जड़े मद-अम्बु चुचाते,
तीखे तुरङ्ग मनोगति चंचल पौन के गौनहु तें बढ़ि जाते,
भीतर चंद्रमुखी अवलोकत बाहिर भूप खड़े न समाते,
ऐसे भये तो कहा 'तुलसी' जो पै जानकीनाथ के रंग न राते ॥३३४॥

यहां भी राम-भक्ति के बिना मनुष्य के वैभव युक्त जीवन की शोभा का अभाव ध्वनित होता है।

"उनका यह कुञ्ज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं सुन चातक की रट पीव कहाँ,
अब भी सब साज समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि ! जा पहुंचे सुध संग कहीं यह गंध सुगंध समीर वहाँ" ॥३३५

यशोधरा की इस उक्ति में उसके स्वामी बुद्धदेव के बिना कुञ्ज-कुटीर की अशोभा ध्वनित होती है।

नलिनी जग जन्म निरर्थक है करके कवि-वृन्द प्रलोभित भी,
जब देख सकी न कभी वह है निशिराज नभस्थल सोभित भी,
रजनीपति का जग जन्म तथा कहते हम हैं न प्रशंसित भी,
मनमोहक जो नलिनी-प्रतिभा वह देख सका न प्रफुल्लित भी ॥३३६

यहाँ कमलिनी का जन्म चन्द्रमा के देखे बिना और चन्द्रमा का जन्म प्रफुल्लित कमलिनी के देखे बिना अशोभित कहा गया है। यहाँ 'बिना' शब्द के प्रयोग-रहित विनोक्ति होने के कारण पण्डितराज ने इसमें भी विनोक्ति की ध्वनि मानी है।

—:*:—

(२७) समासोक्ति अलङ्कार

प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से जहाँ अप्रस्तुत का बोध होता है वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है ।

समासोक्ति का अर्थ है समास से अर्थात् संक्षिप्त से उक्ति । समासोक्त में संक्षिप्त से उक्ति यह होती है कि एक अर्थ के (प्रस्तुत के) वर्णन द्वारा दो अर्थों का (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का) बोध होता है । अर्थात् प्रस्तुत के वर्णन में समान (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के साथ समान सम्बन्ध रखने वाले) विशेषणों के सामर्थ्य से अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है ।

समासोक्ति में विशेष्य-वाचक शब्द श्लिष्ट नहीं होता—केवल विशेषण ही समान होते हैं । समान विशेषण कहीं श्लिष्ट (द्व्यर्थक) और कहीं साधारण—अर्थात् श्लेष-रहित होते हैं । समासोक्ति का विषय भी श्लेष अलङ्कार के समान बहुत जटिल है ।

समासोक्ति की अन्य अलङ्कारों से पृथक्ता—

श्लेष और समासोक्ति में यह भेद है कि प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित श्लेष में विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है । समासोक्ति में केवल विशेषण श्लिष्ट होते हैं—विशेष्य श्लिष्ट नहीं होता है । और प्रकृतअप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य-पद श्लिष्ट तो नहीं होता है किन्तु प्रकृत और अप्रकृत दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्द द्वारा कथन किया जाता है । समासोक्ति में दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जाता—केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों के सामर्थ्य से ही अप्रकृत का बोध होता है ।

भारतीभूषण में श्लेष और समासोक्ति में जो यह भेद बताया गया है कि "श्लेष में जितने अर्थ होते हैं वे सभी प्रस्तुत (प्रकृत) होते हैं" यह उल्लेख भ्रमात्मक है। क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के वर्णन में भी श्लेष होता है इसके अनेक उदाहरण श्लेष अलङ्कार के प्रकरण में दिखाये गये हैं।

एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार और समासोक्ति में यह भेद है कि एकदेशविवर्ति रूपक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है अर्थात् उपमान अपने रूप से उपमेय के रूप को आच्छादित कर लेता है—ढक लेता है। समासोक्ति में स्वरूप का आच्छादन नहीं होता है प्रस्तुत के व्यवहार द्वारा अप्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीति मात्र होती है।

समासोक्ति केवल विशेषणों की समानता द्वारा ही नहीं किन्तु कार्य और लिङ्ग (पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग) की समानता में भी होती है। अतः समासोक्ति के भेद इस प्रकार हैं—
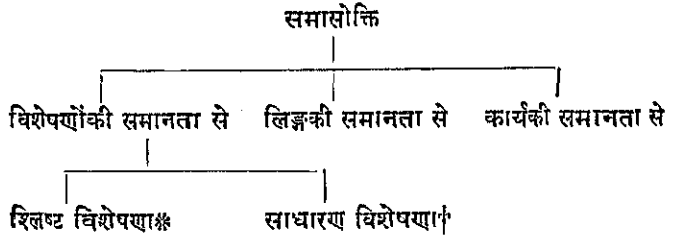
श्लिष्ट विशेषण—

विकसित-मुख प्राची निरखि रवि-कर सों अनुरक्त
प्राचेतस-दिसि जात ससि ह्वै दुति-मलिन विरक्त‡ ॥३३७॥

---

* विशेषण पद श्लिष्ट हो। † श्लेष रहित विशेषण हो। ‡ सूर्य के कर=किरण (श्लेषार्थ, हाथ) के स्पर्श से अनुरक्त=

यह प्रातःकालीन अस्तोन्मुख चन्द्रमा और उदयोन्मुख सूर्य का वर्णन है। अतः प्रभात का वर्णन प्रस्तुत (प्रसङ्ग-गत) है। यहाँ विशेष्य शब्द 'प्राची' श्लिष्ट नहीं है। केवल विशेषण शब्द—मुख, कर और अनुरक्त आदि ही श्लिष्ट हैं। इन श्लिष्ट विशेषणों द्वारा इस प्रभात के वर्णन में (प्रस्तुत में) उस विलासी पुरुष की (अप्रस्तुत की) अवस्था की प्रतीति होती है, जो अपनी पूर्वानुरक्ता किसी कुलटा स्त्री को अपने सम्मुख अन्यासक्त देख विरक्त होकर मरने को उद्यत हो जाता है। पूर्व दिशा में उस कुलटा स्त्री के व्यवहार की प्रतीति होती है जो अपने पहिले प्रेमपात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़ कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है।

तरल-तारका-रजनी-मुख को कर निज मृदुल करों से स्पर्श,
रजनीपति ने दूर कर दिया तिमिरांशुक अत्यन्त सहर्ष—
क्रमशः हो अनुरक्त लगा अब उससे करने रम्य विलास,
होकर मुदित लगी करने है मंद मंद वह भी कुछ हास॥३३८॥

यह उदयकालीन चन्द्रमा का वर्णन है। तरल-तारका वाले रजनी के मुख को* (श्लेषार्थ, चंचल नेत्रों वाली नायिका के मुख को) रागावृत† चन्द्रमा ने अपने मृदुल करों से स्पर्श करके अर्थात् अपनी

प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा से अरुण (श्लेपार्थ, अनुराग युक्त) विकसित मुख=प्रकाशित अग्र भाग (श्लेपार्थ, मुसकाती हुई), प्राची=पूर्व दिशा को देख कर द्युति-मलिन=कान्ति हीन अर्थात् फीका पड़ा हुआ (श्लेषार्थ, दुखित) और विरक्त=रक्तता रहित अर्थात् सफेद (श्लेपार्थ, वैराग्य प्राप्त) यह चन्द्रमा प्राचेतस=वरुण की पश्चिम दिशा (श्लेषार्थ, मृत्यु) का आश्रय ले रहा है।

* जिसमें कहीं-कहीं तारागण चमक रहे हैं ऐसे रात्रि के प्रारम्भ काल को। † उदयकालीन अरुणिमा युक्त श्लेषार्थ अनुराग युक्त।

किरणों का कुछ-कुछ प्रकाश डालकर (श्लेषार्थ, अनुरागी नायक ने अपने कोमल हाथों से) तिमिरांशुक अर्थात् अन्धकार रूपी वस्त्र को (श्लेषार्थ सूक्ष्म नील वस्त्र के घूँघट को) अब हटा दिया है। वह रात्रि भी मन्द मन्द हास्य करने लगी है अर्थात् चन्द्रमा की चाँदनी से प्रकाशित होने लगी है (श्लेषार्थ—प्रसन्न होकर हँसने लगी है)। इस उदय-कालीन चन्द्रमा के प्रस्तुत वर्णन द्वारा यहाँ 'तरल-तारका' आदि श्लिष्ट विशेषणों के श्लेषार्थ से नायक और नायिका के अप्रस्तुत व्यवहार का बोध कराया गया है, जैसा कि श्लेषार्थ द्वारा स्पष्ट किया गया है।

यहाँ यह शंका होती है कि 'तिमिरांशुक' पद द्वारा अन्धकार में वस्त्र का आरोप किया गया है अतः यहाँ एकदेशविवर्ति रूपक क्यों नहीं माना जाता है ? इस शंका का समाधान इस प्रकार है—अन्धकार और वस्त्र इन दोनों का सादृश्य (किसी वस्तु को आच्छादन या अदृष्ट कर देने की समानता) अत्यन्त स्पष्ट है—सहज में ज्ञात हो जाता है। अतः यह सादृश्य, जो रूपक माने जाने का कारण है, समासोक्ति को हटा नहीं सकता है। एकदेशविवर्ति रूपक वहीं होता है जहाँ रूप्य (उपमेय) और रूपक (उपमान) का सादृश्य अस्पष्ट होता है—सहज में ज्ञात नहीं हो सकता है वहाँ जिन वाक्यों में शब्द द्वारा आरोप नहीं किया जाता है यदि उनमें आरोप की कल्पना नहीं की जाती है तो एक देश (शब्द) में किया हुआ आरोप असङ्गत हो जाता है, अतएव एकदेशविवर्ति रूपक में जिन वाक्यों में आरोप नहीं किया जाता है, उन वाक्यों में अर्थ के बल से आरोप आक्षिप्त होकर बोध हो जाता है; जैसे—

तेरे कर लखि असि-लता सोभित रन-रनवास,
रस-सन्मुखहू रिपु-अनी झट ह्वै विमुख हतास* ॥ ३२१ ॥

---

* हे राजन् ! रण रूप रणवास (अन्तःपुर) में तेरे हाथ में असि-लता (तरवार रूपी लता) देखकर रसोन्मुख भी (वीर रस पूर्ण भी) शत्रु-सेना तत्काल हताश होकर विमुख हो जाती है—पीछे हट जाती है।

यहाँ कवि ने रणभूमि में राजा के उस रणवास के दृश्य का रूपक किया है जिसमें एक रमणी का हाथ पकड़े हुए नायक को आते देखकर सम्मुख आती हुई अनुरक्ता भी दूसरी रमणी हताश होकर लौट जाती है। यहां असिलता और शत्रुसेना दोनों स्त्री लिङ्ग होने के कारण प्रस्तुत—राजा के वर्णन में अप्रस्तुत रणवास के उक्त व्यवहार की प्रतीत होने पर भी समासोक्ति नहीं, एकदेशविवर्त्ति रूपक ही है। क्योंकि रण और रणवास का सादृश्य अस्पष्ट है अर्थात् प्रसिद्ध न होने के कारण सहज ही बोध नहीं होता है अतः असिलता में नायक के हस्तावलम्बित नायिका के और रिपु-सेना में अन्य रमणी (सपत्नि) के आरोप की कल्पना नहीं की जाती है तो एक देश में किया गया आरोप (रण में रणवास का आरोप) असङ्गत हो जाता है। इसलिये यहां असिलता में नायिका का और रिपु-सेना में सपत्नि-रमणी का आरोप शब्द द्वारा न किये जाने पर भी अर्थ के बल से आक्षिप्त होकर बोध हो जाता है। अतः ऐसे वर्णनों में ही एकदेशविवर्ति रूपक हो सकता है।

उदयाचल-रूढ़ दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगी विकसाने,
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ नलिनी मुख खोल लगी मुसकाने,
अनुरक्त हुए रवि को वह देख स-हास-विलास लगी दिखलाने,
मकरंद प्रलुब्ध स्वभाविक ही मधुपावलि मंजु लगी मँडराने॥३४०

यहाँ प्रसङ्ग गत प्रातःकाल का वर्णन प्रस्तुत है। 'कर'* 'कोमल'† और 'अनुरक्त'‡ आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा नायक और नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है।

श्लेप रहित साधारण विशेषणा समासोक्ति—

सहज सुगंध मदंध अलि करत चहूं दिसि गान,
देखि उदित रवि कमलिनी लगी मुदित मुसकान॥३४१॥

---

* किरण और श्लेपार्थ—हाथ। † मन्द किरण और—श्लेपार्थ कोमल हाथ। ‡ सुरखी और श्लेपार्थ—अनुराग।

यहाँ श्लेष-रहित समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत कमलनी के वर्णन में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है। नायिका के व्यवहार की प्रतीति होने का कारण यहाँ केवल स्त्री में ही रहने वाले 'मुसकान' रूप धर्म का आरोप है। यदि 'मुसकान' का प्रयोग नहीं हो तो नायिका के व्यवहार की प्रतीति नहीं हो सकती है।

लिङ्ग की समानता द्वारा समासोक्ति—

गंभीरा के जल हृदय से स्वच्छ में भी सु-वेश—
होगी तेरी सु-ललित अहो! स्निग्ध छाया प्रवेश,
डालेगी वो चपल-सफरी - कंज - कांती - कटाक्ष,
होगा तेरे उचित न उन्हें जो करेगा निराश॥३४२

मेघदूत में प्रसंग-गत गम्भीरा नदी का यह वर्णन प्रस्तुत है। नदी स्त्रीलिंग और मेघ पुलिंग के जो विशेषण हैं वे नायिका और नायक के व्यवहार में भी अनुकूल हैं—समान हैं। इसलिए यहाँ लिङ्ग की समानता द्वारा अप्रस्तुत नायिका-नायक का वृत्तान्त भी जाना जाता है। विशेषण श्लिष्ट नहीं है किन्तु गम्भीरा नदी और नायिका दोनों के लिये समान है।

कार्य की समानता द्वारा समासोक्ति—

चंद्रमुखी तरुणी के कंचन-कलश-उरज का वसन बलात्—
दूर हटाकर स्पर्श कर रहा और मृदुल अधरों पर घात,
आलिंगन-सुख सभी अंग का दुर्लभ लेता है वे रोक,
धन्यवाद मलयानिल! तुझको तेरा यह व्यवहार विलोक॥३४३

यहाँ समान कार्यों द्वारा प्रस्तुत मलय-मारुत के वर्णन में अप्रस्तुत हठ-कामुक के व्यवहार का बोध होता है।

आचार्य रुय्यक ने समासोक्ति का औपम्य-गर्भा नाम का भी एक भेद लिखा है। और उसका—

दशनावलि उज्ज्वल कान्ति मई कुसुमावलि मंजु खिली यह है,
अलकावलि जो बिखरी घन हैं मधुपावलि घेर रही यह है,
कर पल्लव कोमल रंजित हैं अनुरक्त बनी रहती यह है,
मनरंजन वेष बना रमणी सबके मन को हरती यह है ॥३४४॥

यह उदाहरण दिया है। उनका कहना है "यहाँ कामिनी का वर्णन प्रस्तुत है। पुष्पों के समान दन्त कान्ति, भ्रमरावली के समान अलकावली और कोमल रक्त पल्लवों के समान हाथ, इन उपमाओं द्वारा प्रस्तुत नायिका के वर्णन में अप्रस्तुत लता के व्यवहार की प्रतीति होती है"। और रुय्यक ने यह भी कहा है "यहाँ रूपक-गर्भा समासोक्ति न मानकर उपमा-गर्भा समासोक्ति मानने का कारण यह है कि 'मन-रंजन वेष बना रमणी' पद उपमा का समर्थक है—सुन्दर वेषभूषा की रचना उपमेय-रमणी में ही सम्भव है, न कि उपमान-लता में। अतः उपमेय-नायिका के धर्म की ही प्रधानता से प्रतीति होने के कारण रूपक नहीं माना जा सकता क्योंकि रूपक में उपमान के धर्म की ही प्रधानता होती है।"

किन्तु पण्डितराज * और विश्वनाथ† का कहना है "औपम्य-गर्भा समासोक्ति नहीं हो सकती है। उपमा में केवल सादृश्य की प्रतीत होती है न कि व्यवहार की। अतः केवल व्यवहार की प्रतीति में होने वाली समासोक्ति के गर्भ में उपमा नहीं हो सकती। इस पद्य में एकदेशविवर्तिनी उपमा है दशन-कान्ति आदि को कुसुमावली आदि की जो उपमाएँ दी गई हैं वे शब्द द्वारा वाचक-लुप्ता उपमा कही गई हैं और नायिका को जो लता की उपमा है वह अर्थ के बल से बोध होती है।"

---

* 'एकदेशविवर्तिन्या उपमैव गतार्थत्वात्समासोक्तेरानर्थक्यादत्राप्रसक्तेः'—रसगङ्गाधर पृ० ३८१।

† 'पर्यालोचनेत्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवांगीकर्तुमुचिता'—साहित्यदर्पण समासोक्ति प्रकरण।

इसी प्रकार—

सुर-चाप नखक्षत से जिसके यह अंकित पांडु पयोधर हैं,
सखि ! जोकि प्रभावित हो उससे शरदेंदु प्रसिद्ध हुआ फिर है,
यह देख शरद् ऋतु का व्यवहार न जो प्रतिकार सका कर है,
रवि के तन ताप बढ़ा इतना वह सह्य नहीं धरणी पर है‡ ॥३४५

यहाँ भी शरद् ऋतु में नायिका के व्यवहार की प्रतीति समझ कर 'समासोक्ति' नहीं मानी जा सकती। समासोक्ति वहीं हो सकती है जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से विशेषण अन्वित होते हों। इस पद्य में—'सुरचाप-नखक्षत' विशेषण केवल शरद् ऋतु के साथ ही सम्बन्ध रखता है, नायिका के साथ नहीं—नायिका के पयोधरों (उरोजों) पर इन्द्र-धनुष का धारण किया जाना सम्भव नहीं है। अतः 'नखक्षत के समान इन्द्र-धनुष अङ्कित पयोधर (मेघ) वाली शरद्' इसप्रकार उपमा ही मानी जा सकती है। और शरद् ऋतु को नायिका की एवं सूर्य को नायक की उपमा अर्थ-बल से आक्षिप्त होती है अतः यहाँ भी एकदेशविवर्तिनी उपमा ही है, न कि समासोक्ति।

समासोक्ति में जिस दूसरे अर्थ की (अप्रस्तुत की) प्रतीति होती है वह व्यंग्यार्थ होता है, किन्तु वह व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं है। समासोक्ति में वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है—वाच्यार्थ में ही अधिक चमत्कार होता है। व्यंग्यार्थ गौण रहता है और ऐसे गौण व्यंग्यार्थ को समासोक्ति का विषय माना गया है—

'व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः,
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।'
(ध्वन्यालोक)

‡ इस वर्णन में शरद् ऋतु में स्वभावतः कान्ति बढ़ जाने वाले चन्द्रमा में नायक की तथा शरद् ऋतु के कारण ताप बढ़ जाने वाले सूर्य में प्रतिनायक की और शरद् ऋतु में नायिका की कल्पना की गई है।

अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ अप्रधान होता है—वाच्यार्थ का शोभाकारक होता है वहाँ निस्सन्देह समासोक्ति आदि अलङ्कार होते हैं।

—※—
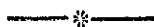
(२८) परिकर अलङ्कार

साभिप्राय विशेषणों द्वारा विशेष्य के कथन किये जाने को परिकर अलङ्कार कहते हैं।

'परिकर' का अर्थ है उपकरण अर्थात् उत्कर्षक वस्तु। जैसे राजाओं के छत्र, चमर आदि* होते हैं। 'परिकर' अलङ्कार में ऐसे अभिप्राय सहित विशेषणों का प्रयोग किया जाता है जो वाक्यार्थ के उत्कर्षक (पोषक) होते हैं।

कलाधार द्विजराज तुम हरत सदा संताप,
मो अबला के गात क्यों जारतु हो अब आप ॥२४६॥

विरहिणी नायिका का चन्द्रमा के प्रति जो उपालम्भ है वह दोहा के उत्तरार्द्ध के अर्थ से सिद्ध हो जाता है। तथापि पूर्वार्द्ध में चन्द्रमा के कलाधर आदि जो विशेषण हैं वे अभिप्राय युक्त हैं† जिनके द्वारा उपालम्भ रूप वाक्यार्थ का अर्थ उत्कर्ष होता है।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि "निष्प्रयोजन विशेषण होना काव्य में 'अपुष्टार्थ' दोष माना गया है। इसलिए साभिप्राय विशेषण

---

* देखिये शब्द कल्पद्रुम।

† इन विशेषणों के प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि हे चन्द्र! तुम कलाधार हो—कला = विद्या या कान्ति वाले हो, द्विजों में श्रेष्ठ हो और ताप-हारक हो ऐसे होकर भी तुम मुझ अबला को ताप देते हो यह तुम्हारे अयोग्य है।

होना उस दोष का अभाव मात्र है, न कि 'परिकर अलङ्कार'। इस पर आचार्य मम्मट का मत है कि 'परिकर' में एक विशेष्य के बहुत से विशेषण होते हैं इस चमत्कार के कारण यह अलङ्कार माना गया है। पण्डितराज का मत यह है कि यद्यपि एक से अधिक विशेषण होने पर व्यंग्य की अधिकता होने के कारण चमत्कार अधिक अवश्य हो सकता है, पर यह नहीं कि जब तक एक से अधिक विशेषण न हों तबतक परिकर अलङ्कार हो ही नहीं सकता हो—एक भी साभिप्राय विशेषण होने पर परिकर अलङ्कार होता है। जैसे—

मीलित* मंत्र रु औषध व्यर्थ समर्थ नहीं सुर-वृन्द हु तारन,
मोहि मुधा† वो सुधा हू भई मनि-गारुडि‡ हू को लगै उपचारन।
कालिय-दौन के पाद-पखारनहार§ तू देवनदी! निज-धारन||,
हौं भव-व्याल-डस्यो जननी! करुना करि तू करु ताप निवारन॥

संसार रूपी सर्प के ताप को दूर करने के लिये यह श्रीगङ्गा से प्रार्थना है। *श्रीगङ्गा भव के ताप को नाश करने वाली प्रसिद्ध है।* अतः जब भव को सर्प रूप कहा गया है तो उसका ताप भी श्रीगङ्गा द्वारा दूर किया जाना अर्थ-सिद्ध है। इसके सिवा संसार को सर्प रूप कहे बिना भी 'स्थास्नुजंगमसंभूतविषहंत्र्यै नमो नमः' इत्यादि पौराणिक प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सर्प के विष के सन्ताप को नाश करना भी श्रीगङ्गा के स्वभाव-सिद्ध है। इस प्रकार वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है अर्थात् संसार रूपी सर्प का ताप दूर करने को गङ्गाजी के लिये फिर कोई विशेषण देने की आवश्यकता नहीं रहती है। यहाँ गङ्गाजी को 'कालिय-दौन के पाद पखारन हार' यह जो विशेषण दिया गया है उसमें 'कालिय

---

* संकुचित। † मुधा=वृथा। ‡ सर्प के विष को उतारने वाली मणि। § कालीय सर्प को दमन करने वाले श्रीकृष्ण के चरणों को प्रक्षालन करने वाली। || जल के प्रवाह से।

दमन' शब्द की सामर्थ्य से विष हारक शक्ति वाले श्री भगवत चरणों के प्रक्षालन से उनके चरण-रेणु द्वारा 'विष-हारक शक्ति श्रीगङ्गा को प्राप्त हुई है' यह अभिप्राय सूचित किया गया है। यहाँ इस एक ही विशेषण द्वारा वाञ्छित चमत्कार हो जाने के कारण परिकर अलङ्कार सिद्ध हो जाता है।

'साभिप्राय विशेषण होना दोष का अभाव है' इस आक्षेप का उत्तर पण्डितराज यह देते हैं "अपुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय और परिकर अलङ्कार का विषय भिन्न-भिन्न है। 'सुन्दरतायुक्त उत्कर्षक विशेषण होना' परिकर का विषय है और चमत्कार के अपकर्ष का अभाव होना अपुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय है। ये पृथक् पृथक् विषय वाले दोनों धर्म (लक्षण) यदि संयोग-वश एक ही स्थान पर आजायँ तो क्या हानि है ? उपधेय (आश्रय) संकर (मिला हुआ) होने पर भी उपाधि (लक्षण) असंकर (भिन्न-भिन्न) है। जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्ख होना दोष है और विद्वान् होना दोषका अभाव और गुण भी है। इसी प्रकार परिकर अलङ्कार में साभिप्राय विशेषण होना अपुष्टार्थ दोष का अभाव भी है और चमत्कारक होने के कारण अलङ्कार भी है। जैसे 'समासोक्ति' अलङ्कार गुणीभूत व्यंग्य होकर भी अलङ्कारों की गणना में है। अथवा जैसे उभय स्थान वासी (ऊपर के मकान पर और जमीन पर के मकान पर—दोनों स्थानों पर रहने वाला मनुष्य) प्रासाद-वासियों की (ऊपर के मकानों में रहने वालों की) गणना में गिना जाने पर भी पृथ्वीतल-वासियों की (जमीन पर रहने वालों की) गणना में भी गिना जाता है। उसी प्रकार परिकर अलङ्कार के मानने में भी कोई दोष नहीं समझना चाहिये।"

परिकर अलङ्कार के विशेषणों में जो अभिप्राय होता है वह गौण व्यंग्यार्थ होता है—विशेषणों का वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है। परिकर में गौण व्यंग्य—गुणीभूत व्यंग्य—दो प्रकार का होता है। कहीं वह

वाच्यार्थ का उत्कर्षक होता है और कहीं वह वाच्य-सिध्यंग* होता है। उपर्युक्त 'मीलित मंत्र रु·········' में वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ उत्कर्षक है—वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ाने वाला है और—

भ्रमि संसार-मरीचिका मन-मृग व्यथित सदाह,
कृपा-तरङ्गाकुल ! चहै अब तोमें अवगाह ।।३४८।।

यहाँ वाच्यसिध्यंग व्यंग्य में परिकर अलङ्कार है। 'तरङ्गाकुल' पद में जो समुद्र रूप अर्थ व्यंग्य है वह अवगाहन—अर्थात् स्नान रूप वाच्यार्थ की सिद्धि करता है, क्योंकि जब तक भगवान् को समुद्र रूप न कहा जाय तबतक स्नान रूप वाच्य अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् स्नान का करना बन नहीं सकता है।

——※——
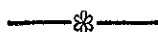
(२९) परिकरांकुर अलङ्कार

साभिप्राय विशेष्य कथन किये जाने को परिकरांकुर अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् ऐसे विशेष्य-पद का प्रयोग किया जाना जिसमें कुछ अभिप्राय हो। पूर्वोक्त 'परिकर' में विशेषण साभिप्राय होते हैं। और इसमें साभिप्राय विशेष्य। अतः वास्तव में यह 'परिकरांकुर' पूर्वोक्त परिकर के अन्तर्गत ही है।

लेखन हैहयनाथ ही कहन समर्थ फनिंद,
देखन को तेरे गुनन नृप समर्थ है इंद्र ।।३४९।।

---

* वाच्यसिध्यंग व्यंग्य में व्यंग्यार्थ होता है वह वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है इसका अधिक स्पष्टीकरण प्रथम भाग में गुणीभूत व्यंग्य के प्रकरण में किया गया है।

यहाँ 'हैहयनाथ' 'फनिन्द' और 'इन्द्र' विशेष्य पद हैं, ये क्रमशः सहस्र हाथ, सहस्र जिह्वा और सहस्र नेत्र के अभिप्राय से कहे गये हैं।

"वामा भामा कामिनी कहि, बोलो प्रानेस!
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत विदेस"॥३५०॥

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका की यह उक्ति है। यहाँ 'वामा' 'भामा' 'प्यारी' इन विशेष्य-पदों में अभिप्राय यह है कि पावस ऋतु में विदेश गमन करते समय आपको मुझे प्यारी न कहना चाहिये। यदि मैं आपको प्यारी ही होती तो ऐसे समय आप विदेश के जाने को क्यों उद्यत होते अतः इस समय मुझे वामा (कुटिला) भामा (कोप करने वाली) कहिये, न कि प्यारी।

"कंस के कहे सौं जदुवंस कौ बताइ उन्हें
तैसे ही प्रसंसि कुबजा पै ललचायौ जो।
कहै 'रतनाकर' न मुष्टिक चनूर आदि
मल्लनि कौ ध्यान आनि हिय कसकायौ जो।
नंद जसुदा की सुखमूरि करि धूरि सबै
गोपी ग्वाल गैय्यनि पै गाज लै गिरायौ जो।
होते कहूँ क्रूर तौ न जानौं करते धौं कहा
एतो क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायौ जो"॥३५१॥

गोपी जनों की इस उक्ति में विशेष्य शब्द 'अक्रूर' में यह अभिप्राय है कि जिसने इतने क्रूर कर्म किये हैं, उसका अक्रूर नाम मिथ्या है।

"जादून को मान मारि किरीटी सुभद्रा लैगो
तुमने निहारयो तैसें मैं तो ना निहोरिहौं।
वैर बांधि करै प्रीति राजनीति की न रीति
सत्रु-सैन्य-नाव सिंधु-आहव में बोरिहौं।

मेरी या गदा तें जमराज-लोक वृद्धि पै है,
भीमादिक सूरन के कंधन कों तोरिहौं।
छोरिहौं न टेक एक, कहिये अनेक मेरो–
नाम रनछोर नांहि कैसैं रन छोरिहौं" ॥३५२॥

पाण्डवों से सन्धि कराने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये तब उनके प्रति दुर्योधन के यह वाक्य हैं। यहाँ 'रनछोर' पद जो विशेष्य है, उसमें यह अभिप्राय है कि 'मेरा नाम रनछोर नहीं आपने ही जरासन्ध के सम्मुख रण को छोड़ दिया था अतः आप ही रण-छोड़ हैं।'

चन्द्रालोक के मत से यह अलङ्कार कुवलयानन्द में लिखा गया है। अन्य आचार्य इसे पूर्वोक्त 'परिकर' के अन्तर्गत मानते हैं।
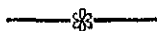
(३०) अर्थ-श्लेष अलङ्कार

स्वाभाविक एकार्थक शब्दों द्वारा अनेक अर्थों का अभिधान होने को अर्थ-श्लेष कहते हैं।

शब्दालङ्कार प्रकरण में जो शब्द-श्लेष लिखा गया है उसमें श्लिष्ट (द्व्यर्थक) शब्दों का प्रयोग होता है। और इस अर्थ-श्लेष में एकार्थक शब्दों द्वारा एक साथ अनेक अर्थों का अभिधान अर्थात् कथन किया जाता है। जहाँ एकार्थक शब्दों द्वारा एक अर्थ हो जाने पर उसके पश्चात् क्रमशः दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है वहाँ अर्थ-शक्ति उद्भव ध्वनि होती है।

रंचहि* सौं ऊँचे† चढ़ैं रंचहि सौं घटि‡ जांहि,
तुला-कोटि खल दुहुँन की यही रीति जग मांहि ॥३५३॥

---

* थोड़े ही से। † तराजू के पक्ष में डंडी ऊँची हो जाना, खल के पक्ष में अभिमान। ‡ तराजू के पक्ष में डंडी नीची हो जाना, खल के पक्ष में दीन हो जाना।

यहाँ 'रंच' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा तुला-कोटि (तराजू की डंडी) की और दुर्जन की समानता कही गई है। 'रंच' शब्द के स्थान पर यदि इसी अर्थ वाले 'अल्प' आदि शब्द बदल दिये जायँ तो भी श्लेष बना रहता है यही अर्थ-श्लेषता है। 'श्लेष' के विषय में अधिक विवेचन शब्द-श्लेष के प्रकरण में पहिले किया गया है।

कोमल विमल रु सरस अति विकसत प्रभा असंद,
है सुवास मय मन हरन तिय-मुख अरु अरविंद ॥३५४॥

यहाँ 'कोमल' और 'विमल' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा मुख और कमल दोनों का वर्णन है। 'कोमल' आदि शब्दों के स्थान पर इनके समानार्थक-पर्याय शब्द रख देने पर भी मुख और कमल दोनों के अनुकूल अर्थ हो सकते हैं अतः अर्थ-श्लेष है।

---
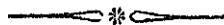
(३१) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार

प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत के वर्णन को अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा का अर्थ है अप्रस्तुत की प्रशंसा। प्रशंसा शब्द का अर्थ यहाँ केवल वर्णन मात्र है न कि स्तुति। केवल अप्रस्तुत का वर्णन चमत्कारक न होने के कारण अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया जाता है।

जिसका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट होता है या जिसका प्रकरण-गत प्रसंग होता है उसको प्रस्तुत या प्राकरणिक कहते हैं। जिसका अप्रधान रूप से वर्णन किया जाता है या जिसका प्रकरण-गत प्रसंग नहीं होता है, उसको अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत के वर्णन के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जाता है

अर्थात् प्रसंगगत बात को न कहकर अप्रासङ्गिक बात के वर्णन द्वारा प्रसंगगत बात का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध किसी सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता है अतः अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के बोध होने में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं—(१) सामान्य-विशेष सम्बन्ध, (२) कार्य-कारण सम्बन्ध और (३) सारूप्य सम्बन्ध। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद इस प्रकार होते हैं—
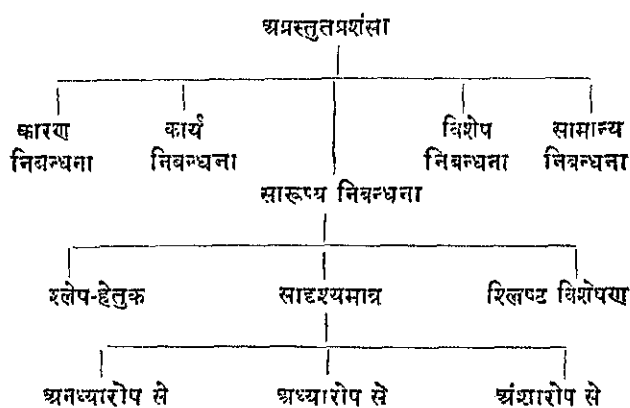
सामान्य-विशेषसम्बन्ध यद्यपि अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में भी होता है पर वहाँ सामान्य और विशेष दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य अथवा विशेष दोनों में से एक ही कथन किया जाता है।*

कारण-निबन्धना

प्रस्तुत (प्राकरणिक) कार्य्य के बोध कराने के लिए अप्रस्तुत कारण का कहा जाना।

---

* देखिये अलङ्कारसर्वस्व अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण का अन्तिम भाग।

अर्थात् अप्रस्तुत कारण के वर्णन द्वारा प्रस्तुत कार्य का बोध कराया जाना ।

रस भीने मनोहर प्रेम भरे मृदु-बैनन मोहि घनो समझायो,
नहिं मान तिन्हैं करि रोष बिदेस को गौन हिये अति ही जु दृढ़ायो,
हठ मेरो विलोकि प्रवीन प्रिया उर मांहि यही सु-विचार उपायो,
नित ही वश आँगुरी-सैन रहै तिहिं खेल-बिलाव* सों गैल रुकायो ।।

विदेश जाने को उद्यत होकर फिर न जाने वाले व्यक्ति ने "क्या आप नहीं गये ?" ऐसा पूछने वाले अपने मित्र के प्रति अपने न जाने का कारण कहा है । यहाँ कार्य प्रस्तुत है अर्थात् मित्र ने जो पूछा था उसका उत्तर तो यही था कि 'मैं न जा सका' पर ऐसा न कहकर न जाने का अप्रस्तुत कारण कहा गया है ।

सरद-सुधाकर-बिंब सों लैकै सार सुधारि,
श्री राधा-मुख कों रच्यो चतुर बिरंचि विचारि ।।३५६।।

श्री राधिकाजी के मुख के सौन्दर्य का वर्णन करना प्रस्तुत है, उसके लिये चन्द्रमा का सार भाग विधाता द्वारा निकाला जाना कहा गया है, जो राधिकाजी के मुख के सौन्दर्य का कारण है ।

कार्य-निबन्धना

प्रस्तुत-कारण के बोध कराने के लिये अप्रस्तुत-कार्य का कहा जाना ।

हाथों में है कमल, अलकैं कुंद से हैं सुहाती,
लोध्री-रेणु† लग वदन की पांडु-कांती विभाती ।

---

* पालतू बिलाव को इशारा करके मार्ग रुका दिया । † एक प्रकार का पुष्प जिसका पराग पूर्वकाल में स्त्रियाँ मुख पर लगाती थीं ।

हैं वेणी में कुरवक* नये, कर्ण में है शिरीष,
कांताओं के विलसित जहां मांग में पुष्प-नीप† ॥३५७॥

अलका में सभी ऋतुओं की सर्वदा स्थिति मेघदूत में कहना अभीष्ट था, पर वह न कहकर सब ऋतुओं के पुष्पों से एक ही काल में वहाँ की रमणियों का शृङ्गार करना कहा गया है, जो कि सब ऋतुओं की सर्वदा स्थिति का कार्य है।

विशेष-निबन्धना

सामान्य‡ प्रस्तुत हो वहाँ अप्रस्तुत विशेष§ का कथन किया जाना।

हरिण अंक में रखकर—
मृगलांछन चंद्र कहलाया,
मृग - गण मार निरंतर
नाम मृगाधिपति सिंह ने पाया$॥३५८॥

शिशुपाल के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के प्रति बलभद्रजी को कहना अभीष्ट था, कि 'नम्रता रखने में दोष है और क्रूरता से गौरव बढ़ता है'। किन्तु यह प्रस्तुत रूप सामान्य न कहकर उन्होंने अप्रस्तुत चन्द्रमा और सिंह का विशेष वृत्तान्त कहा है।

---

* वसन्त में होने वाला एक जाति का फूल। † कदम्ब के पुष्प। ‡ जो बात साधारणतया सब लोगों से सम्बन्ध रखती है उसको 'सामान्य' कहते हैं। § जो बात खास तौर से एक मनुष्य या एक वस्तु से सम्बन्ध रखती है उसको विशेष कहते हैं। $ मृग को गोदी में रखने से चन्द्रमा का 'मृग-लाञ्छन' नाम हो गया और मृगों को रात दिन मारने वाले सिंह ने 'मृगराज' नाम पाकर अपना गौरव बढ़ाया। यह 'विशेष' बात है क्योंकि यह खास चन्द्रमा और सिंह की बात है।

सामान्य-निबन्धना

प्रस्तुत विशेष हो वहाँ अप्रस्तुत-सामान्य का कथन किया जाना ।

अपमान को कर सहन रहते मौन जो—
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं,
चरण का आघात सहती है न जो—
शीश पर चढ़ बैठती है तुरत ही* ॥३५६॥

यह भी शिशुपाल के प्रसङ्ग में बलभद्रजी का श्रीकृष्ण के प्रति वाक्य है, उनको यह विशेष कहना अभीष्ट था कि 'हम से धूलि भी अच्छी' यह न कहकर सामान्य बात कही है ।

किहिंको न समौ इकसो रहि है न रह्यो यह जानि निभाइबे में,
निज गौरवता समुझैं इक हैं अपने बिगरे की बनाइबे में,
नर अन्य कितेक वहो जग जो विपदागत-बंधु सताइबे में,
निज-स्वारथ साधिबो चाहतु हैं धिक हाय दबेकों दबाइबे में॥३६०

जो न समुझि करतव्य निज कीन्ह न कछू सहाय,
पै निज बिगरे बंधु की लैबो भलो न हाय ॥३६१॥

विपद-ग्रस्त किसी व्यक्ति विशेष का वृत्तान्त न कहकर यहाँ सामान्य वृत्तान्त कहा है ।

सारूप्य-निबन्धना

प्रस्तुत को न कहकर उसके समान दशा वाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाना ।

---

* यह कथन सर्व साधारण से सम्बन्ध रखता है अतः सामान्य है ।

इसके तीन भेद है—श्लेष-हेतुक, श्लिष्ट विशेषण और सादृश्यमात्र।

(१) श्लेषहेतुक । विशेषण और विशेष्य दोनों का श्लिष्ट होना।

(२) श्लिष्ट-विशेषण । केवल विशेषण श्लिष्ट होना।

(३) सादृश्य मात्र। श्लिष्ट शब्द के प्रयोग बिना अप्रस्तुत का ऐसा वर्णन होना जो प्रस्तुत के वर्णन से समानता रखता हो।

श्लेष-हेतुक—

यूथप ! तेरे मान सम थान न इतै लखाहि,
क्यों हू काट निदाघ-दिन दीरघ कित इत छाँहि ॥३६२॥

यूथप (हाथी) के प्रति जो कवि का यह कथन है वह अप्रस्तुत है, क्योंकि पशु जाति हाथी को कहना अभीष्ट नहीं, किन्तु अप्रस्तुत हाथी के वृत्तान्त द्वारा हाथी की परिस्थिति के समान उच्च कुलोत्पन्न किसी सज्जन के प्रति कहना अभीष्ट है अतएव वही प्रस्तुत है। यहाँ हाथी के लिये कहा हुआ 'यूथप' पद विशेष्य और उसके 'मान' आदि विशेषण भी श्लिष्ट हैं—विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट हैं—अतः श्लेष-हेतुक है। पर यहां श्लेष प्रधान नहीं—अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के कथन ही में चमत्कार है अतः श्लेष का बाधक होकर अप्रस्तुतप्रशंसा ही प्रधान है।

श्लिष्ट-विशेषण—

धिक तेली जो चक्र-धर स्नेहिन करत बिहाल,
पारथिवन विचलित करत चक्री धन्य कुलाल* ॥३६३॥

---

* चक्र धारण करने वाले अर्थात् कोल्हू को घुमाने वाले तेली को धिक्कार है, जोकि स्नेहियों को (जिनमें स्नेह है ऐसे तिलों को या दूसरे

यहाँ तेली और कुलाल (कुम्हार) के विषय में जो कथन है वह अप्रस्तुत है। वास्तव में इस अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा श्लिष्ट-विशेषणों से राज-वृत्तान्त का वर्णन है। कहना यह अभीष्ट है कि वीर-पुरुषों का प्रशंसनीय कार्य वही है जिससे समान बल वाले प्रबल राजाओं के हृदय में खलबलाहट उत्पन्न हो जाय न कि अपने स्नेहीजनों को पीड़ित करना। यहाँ विशेष्य पद तेली और कुलाल दोनों अश्लिष्ट हैं केवल 'चक्र-धर' 'स्नेही' आदि विशेषण ही श्लिष्ट हैं (जैसे कि समासोक्ति में होते हैं) किन्तु यहाँ 'समासोक्ति' अलङ्कार नहीं है क्योंकि उसमें प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति होती है और इसमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का वर्णन है।

इस श्लिष्ट-विशेषण अप्रस्तुतप्रशंसा का नाम काव्यप्रकाश में समासोक्ति-हेतुक अप्रस्तुत-प्रशंसा लिखा है किन्तु पण्डितराज का कहना है कि इसमें जो अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वृत्तान्त प्रतीत होता है (जैसे उक्त उदाहरण में तेली और कुलाल के वृत्तान्त में जो राज-वृत्तान्त प्रतीत होता है) उसे यदि प्रस्तुत माना जाय तो 'समासोक्ति' नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें 'समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत का कथन' होता है और यदि उस राज वृत्तान्त को अप्रस्तुत माना जाय तो 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नहीं कही जा सकती क्योंकि इसमें 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वर्णन' होता है। अतः इस भेद को 'श्लिष्ट-विशेषण' कहना ही उचित है, न कि समासोक्ति-हेतुक।

पक्ष में अपने स्नेहीजनों को) पीड़ित करता है (दूसरे पक्ष में दुःख देता है) किन्तु कुलाल (कुम्हार) को धन्य है जो चक्र धारण करके (चाक फिराकर) पार्थिवों को (मिट्टी के पिंडों को दूसरे पक्ष में पार्थिव अर्थात् राजाओं को विचलित (चलायमान) करता है।

सादृश्य-मात्र निबन्धना । इसके तीन भेद हैं—

(१) वाच्यार्थ में अर्थ के अनध्यारोप से अर्थात् आरोप किये बिना वर्णन किया जाना ।

(२) वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप से अर्थात् आरोप पूर्वक वर्णन किया जाना ।

(३) वाच्यार्थ में अर्थ के अंशारोप से अर्थात् किसी वाच्यार्थ में आरोप होना और किसी में आरोप न होना ।

अनध्यारोप का उदाहरण—

पय निर्मल मान सरोवर का कर पान सुगंधित नित्य महा,
जिसका सब काल व्यतीत हुआ सुखसे, विकसे कलकंज वहाँ,
विधि के वश राज-मराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा !
बिखरे जल जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक* अनेक जहां।।३६४

अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त द्वारा यहाँ उसी के समान अवस्था वाले किसी सम्पत्ति-भ्रष्ट पुरुष की दशा का वर्णन किया गया है। हंस का मानसरोवर से अलग होकर दूसरे तालों पर दुःखित होना संभव है अतः यहाँ कुछ आरोप नहीं किया जाने से अनध्यारोप है ।

सुमनावलि-गंध-प्रलुब्ध, लिये हरिणी मन मोद रहा भर है,
अनुरक्त हुआ मधुपावलि-गान हरे तृण तुच्छ रहा चर है,
वृक† सम्मुख लुब्धक‡ पृष्ठ खड़ा जिसको शर-लक्ष्य§ रहा कर है,
फिर भी यह दौड़ रहा मृग मूढ़ उसी पथ में न रहा डर है।।३६५

यहाँ अप्रस्तुत मृग के वृत्तान्त के वर्णन द्वारा उसी दशा वाले प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य की अवस्था का वर्णन है । यहाँ भी आरोप नहीं है—मृग और विषयासक्त मनुष्य दोनों की ठीक यही दशा है ।

---

*मेंढक । †भेड़िया । ‡व्याध—बहेलिया । § निसाना बना रहा है।

"कली मुकताहल कमल जहाँ कुंदन के,
पन्ना ही की पैरी पैज जाके चहूँधा करी।
विहरत सुर मुनि उच्चरत वेद-धुनि,
सुख को समाज रास विधिना तहां करी।
वासी ऐसे सर को उदासी भयो बिछुरे ते,
'कासीराम' तोऊ कहूँ ऐसी आस नाँ करी।
पड़ौ कोऊ काल ताते तक्यो एक तुच्छ ताल
लख्यो है मराल पै चुगै कहा कांकरी" ॥३६६॥

यहाँ अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त द्वारा उसी दशा वाले सम्पत्ति-भ्रष्ट सज्जन पुरुष का वर्णन है।

रितु निदाघ दुःसह समय मरु-मग पथिक अनेक,
मेटे ताप कितन को यह मारग-तरु एक ॥३६७॥

यहाँ अप्रस्तुत मरुस्थल के मार्ग में स्थित वृक्ष के वृत्तान्त द्वारा उसी दशा वाले किसी मध्यश्रेणी के दाता की अवस्था का वर्णन है। यहाँ भी आरोप नहीं है क्योंकि मरुस्थल के वृक्ष की छाया और मध्यश्रेणी के दाता दोनों की यही समानदशा होती है।

आरोप द्वारा—

इस पंकज के विकसे वन में न यहाँ भ्रम तू मधु-मत्त-अली!
सुख-लेश नहीं अति क्लेशमयी यह नाशक हैं सब रंगरली,
मतिमूढ़! अरे इस कानन का वह भक्षक है गजराज बली,
उड़ जा अविलम्ब, विनाश न हो जबलौं रुक के इस कंज-कली।३६८

यहाँ अप्रस्तुत भृङ्ग को सम्बोधन करके प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य के प्रति कहा गया है। भृङ्ग पक्षी के प्रति उपदेश किया जाना असङ्गत है अतः यहाँ विषयासक्त मनुष्य में भृङ्ग का आरोप किया गया है।

पाके ग्रीषम-घोर चातक हुआ जो दग्ध संताप से—
तेरा ही रख ध्यान नित्य दिन वे काटे बड़े ताप से,
दैवाधीन अदीन* दर्शन उसे तेरे हुए आज हैं,
डालै जो करिका† पयोद! अब तू एरे तुझे क्या कहें ।३६९

यहाँ किसी आशा-बद्ध व्यक्ति को निराश करने वाले धनवान को उपालम्भ देना प्रस्तुत है। वह उपालम्भ उसी के समान अविचारी अप्रस्तुत मेघ के प्रति दिया गया है। यहाँ जड़ मेघ के प्रति कहा गया है अतः आरोप है।

रे कोकिल ! तू काटि कित, नीरस काल-कराल,
जौलौं अलि-कुल-कलित नहिं, फूलै ललित रसाल ॥३७०॥

यहाँ अप्रस्तुत कोकिल के वृत्तान्त द्वारा किसी विपद्ग्रस्त सज्जन को धैर्य रखने का उपदेश है। यहाँ पक्षी जाति कोकिल के प्रति उप-देश होने के कारण आरोप है।

आते ही ऋतुराज चारु जिसके फूली घनी मंजरी,
रे तूने अति गुंज मंजुल जहाँ सानन्द लीला करी,
हा !दुर्दैव !कठोर काल-वश वो माकन्द‡ है सूखता,
छोड़े जो अब भृङ्ग ! तू विनय तो तेरी बड़ी नीचता ।।३७१

जिसके द्वारा अत्यन्त सुख मिला था उस उपकारी के उन उपकारों को भूल कर उपकार करने वाले की गिरती हुई दशा में जो उसकी कुछ सेवा नहीं करता है, उस कृतघ्न के प्रति कहना अभीष्ट है। वह उसके प्रति न कहकर आम्र के विषय में भौंरे को कहा गया है। यहाँ पक्षी-जाति भृङ्ग के प्रति उपालम्भ है अतः आरोप है।

"बड़ेन के मोंह तेरे सुजस सुनि आयो सदा,
पुनि निज मारग में मोकों जिन भोकों रे।

---

* उदार। † पत्थर के टूक—ओले। ‡ आम का वृक्ष।

चलत चलत तो दरसन ते राजी भयो,
अब जिय जानी मिटि जैहैं सब धोखो रे।
भने 'दयानिधि' जो पै घर की बिसारी आस,
एते पै धराऊ जल कहाँ लगि रोकों रे।
एरे रतनाकर ! जो पै रतन न देय तो पै,
मेरी नाव बोरिबो सलाह नहिं तोकों रे"॥३७२

यहाँ अप्रस्तुत समुद्र को सम्बोधन करके आशाबद्ध व्यक्ति पर कुछ उपकार न करके अपकार करने वाले प्रस्तुत अन्यायी धनाढ्य के प्रति कहा गया है। जड़ समुद्र के प्रति कहा जाने से आरोप है।

आरोप और अनारोप द्वारा—

कर्न-चपल* कर-सून्य† पुनि, रसना विधि प्रतिकूल‡,
अस-मदंध गज को भ्रमर ! क्यों सेवत हठि सूलि॥३७३॥

यह किसी कृपण और दुर्जन मनुष्य की सेवा करने वाले प्रस्तुत मनुष्य के प्रति कहना अभीष्ट है। उसे न कहकर अप्रस्तुत भ्रमर के प्रति कहा गया है। यहाँ भ्रमर को हाथी की सेवा करने में रसना (जीभ) का प्रतिकूल होना और शून्य-कर होना (सूंड का थोथा होना) प्रतिकूल नहीं—इनके होने से भ्रमर को कुछ कष्ट नहीं होता है किन्तु यहाँ इन को भी हाथी की सेवा करने के प्रतिकूल कहा गया है, अतः यह आरोप है। कर्ण की चपलता वस्तुतः भ्रमर को हाथी के असेवन में कारण है

---

*हाथी के पक्ष में कानों की चपलता और कृपण पक्ष में कानों का कच्चा अर्थात् चुगली सुन कर विश्वास कर लेना। † हाथी के पक्ष में सूंड का थोथा होना और कृपण के पक्ष में कुछ न देने वाला। ‡हाथी के पक्ष में जीभ का उलटा होना और दुर्जन के पक्ष में असभ्य शब्द कहने वाला।

क्योंकि हाथी के कर्ण की चपलता के कारण भ्रमर को कष्ट होता है अतः यह अनारोप है। और मदांध गज कहा है पर मद के लोभ से तो भौंरे हाथी के पास जाते ही हैं अतः मद तो हाथी को सेवन करने में भ्रमरों के लिये कारण ही हैं पर वह भी असेवन करने का ही कारण बताया गया है अतः यहाँ आरोप और अनारोप दोनों हैं।

सारूप्य-निबन्धना के इस सादृश्य-मात्र भेद को 'अन्योक्ति' अलङ्कार भी कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा वैधर्म्य में भी होती है—

धन-अंधन के मुख को न लखै करि चाटुता झूठ न बोलतु है,
न सुनै अति गर्व-गिरा उनकी करि आस भज्यो नहिं डोलतु है,
मृदु-खाय समै पै हरे तृन औ जब नींद लगे सुख सोवतु है,
धन रे मृग मित्र ! बताय हमें तप कीन्हों कहा जिहिं भोगतु है।२७४

यहाँ मृग के प्रति कथन अप्रस्तुत है। इस अप्रस्तुत द्वारा पराधीन वृत्ति वाले सेवक के प्रति कहना अभीष्ट है। 'स्वतन्त्र-मृग' धन्य है। और पराधीन वृत्ति 'अधन्य' यह वैधर्म्य है।

अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत का वर्णन वाच्यार्थ होता है और अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा जो सारूप्य आदि सम्बन्धों से प्रस्तुत का बोध होता है वह शब्द द्वारा स्पष्ट न कहा जाने के कारण वाच्यार्थ नहीं होता है—व्यंग्यार्थ होता है। किन्तु वह व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होता अतः गुणीभूतव्यंग होता है—न कि ध्वनि। क्योंकि ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान रहता है। ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ के ज्ञान के समय वाच्यार्थ का ध्यान नहीं रहता है कहा है—

'स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थंप्रथयन्नपि,
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।

तद्वत्सचेतसां सोर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्,
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।'

—ध्वन्यालोक १—११—१२

अर्थात् काव्य में पहिले पदों के पृथक् पृथक् अर्थों का ज्ञान होता है पीछे जब सारे पदों के समूह के अर्थ का ज्ञान होता है उस समय पदों के पृथक् पृथक् अर्थ का ध्यान जिस प्रकार नहीं रहता है उसी प्रकार ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ के ज्ञान के समय वाच्यार्थ का ध्यान नहीं रहता है। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत रूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने पर भी साधर्म्य-विवक्षा से अर्थात् प्रस्तुत के समान अप्रस्तुत का वर्णन चमत्कारक होने के कारण बुद्धि फिर शीघ्र ही अप्रस्तुत वृत्तान्त रूप वाच्यार्थ का भी ध्यान कर लेती है। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत वाच्यार्थ और अप्रस्तुत व्यंग्यार्थ दोनों में समान चमत्कार होने के कारण समप्रधान गौण व्यंग्य रहता है।*

कुवलयानन्द में प्रस्तुत के द्वारा किसी दूसरे वाञ्छित प्रस्तुत के वर्णन में 'प्रस्तुतांकुर' नामक अलङ्कार माना है। दीक्षितजी का मत है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वर्णन है और इसमें प्रस्तुत द्वारा ही प्रस्तुत का वर्णन होता है। जैसे—

मनमोहक मंजुल मालति है फिर भी अलि ! क्यों भटका फिरता,
पहुँचा उड़ जा इस केतकि पै पर देख वहाँ रहना डरता,
बस मान कहा अनुरक्त न हो लख ऊपर की यह सुंदरता,
छिद जायगा कंटक से, मधु की अभिलाष वृथा करता-करता।३७५

अपने प्रियतम के साथ पुष्पवाटिका में टहलती हुई किसी नायिका की यह भ्रमर के प्रति उक्ति है। कुवलयानन्द में इसकी स्पष्टता करते

* 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि·············अभिधेय प्रतीयमानयोः सममेवप्राधान्यम्'। —ध्वन्यालोक पृ० ४२।

हुए लिखा है "अप्रस्तुतप्रशंसा में भृङ्गादि के प्रति प्रत्यक्ष कथन नहीं होता है, अतः वे अप्रस्तुत होते हैं। यहाँ वाटिका में भृङ्ग को मालती लता पर से केतकी पर गया हुआ देखकर भृङ्ग के प्रति नायिका द्वारा प्रत्यक्ष उपालम्भ दिया गया है अतः प्राकरणिक होने से प्रस्तुत है। भृङ्ग के प्रति उपालम्भ रूप इस वाच्यार्थ में, वक्ता जो सौन्दर्याभिमानिनी कुल-वधू है उसके द्वारा, सर्वस्व को हरण करने वाली सकंटका केतकी के समान वेश्या में आसक्त रहने वाले निज प्रियतम के प्रति जो उपालम्भ सूचन किया गया है वह भी वाञ्छित है अतः प्रस्तुत है। ऐसा न समझना चाहिये कि भ्रमर को सम्बोधन असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ अप्रस्तुत है, क्योंकि लोक में भृङ्गादि पक्षियों और जड़ वृक्ष आदि को प्रत्यक्ष सम्बोधन देखा जाता है। जैसे—

को है तू ?, हौं विधि-हतक, तरु शाखोटक नाम,
पथि-थितहू की आतु नहिं, मो छाया किहि काम*॥३७६॥

यहाँ चेतन अचेतनों का प्रश्नोत्तर है। और—

यह धारैं सखी ! नलिनी युग-कंज के कोस मराल की चोंच चुँथाये,
नर-कोकिल-दंसित आम्रलता नव पल्लव क्यों न लखै ? मनभाये,
सखियांन की ये बतियाँ सुनिकै तट-वापिका पै नव बाल लजायें,
अरुनाधर पानि-सरोज ढक्यो रु उरोज दुहूँ पट सों दुबकायें†

---

* यह शाखोटक वृक्ष के साथ किसी की उक्ति प्रतिउक्ति है। शाखोटक एक वृक्ष विशेष का नाम है जो श्मशान में होता है और जिसके श्मशान की अग्नि-ज्वाला लगती रहती है—'शाखोटकोहि श्मशानाग्निज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः'

—ध्वन्यालोकलोचन पृ० २१६

† हे सखी ? देख तो यह नलिनी (बावड़ी) हँस की चोंच के चूँथे हुए दो कोश (कमल की कली) धारण किये हैं और यह

यहाँ 'तट वापिका पै' और 'यह नलिनी' इन पदों द्वारा वाच्यार्थ अत्यन्त प्रस्तुत है—प्रसंगगत है। और चौथे चरण में दूसरे प्रस्तुत को कवि ने स्वयं सूचन किया है।''

पण्डितराज का कहना है कि ''उपर्युक्त 'को है तू विधि-हतक'", में तो ध्वनिकार ने (ध्वन्यालोक पृष्ठ २११ में) अप्रस्तुत प्रशंसा माना है न कि प्रस्तुतांकुर। और 'यह धार रही नलिनी'.......", में भी सखी जनों की उक्ति में कमलिनी और हंस के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा अप्रस्तुत नायिका के वृत्तान्त का कथन किया गया है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में मुख्य तात्पर्य के अतिरिक्त जो कुछ भी वर्णन होता है, उसके लिए अप्रस्तुत शब्द का प्रयोग है, वह कहीं अत्यन्त अप्राकारणिक होता है और कहीं प्राकरणिक होता है अतः अप्रस्तुतांकुर पृथक् अलङ्कार नहीं—अप्रस्तुतप्रशंसा में ही गतार्थ है।

———:※:———

(३२) पर्यायोक्ति अलङ्कार

अभीष्ट अर्थ का भंग्यन्तर से कथन किये जाने को पर्यायोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

पर्यायोक्ति का अर्थ है पर्याय (दूसरे प्रकार) से कहना। अर्थात् अपने अभीष्ट अर्थ को सीधे तरह से न कह कर घुमाकर दूसरी तरह से कहना।

नर-कोकिल के चबाये हुए आम की लता के नवीन पत्ते कैसे मनोहर हैं। यह बात बावड़ी के तट पर अपनी सखियों के मुंह से सुनकर नायिका ने यह समझ कर कि मेरे अंग के नख–क्षत आदि चिह्नों के विषय में ये व्यंग से कह रही हैं, लज्जित होकर अधर को हाथ से और उरोजों को वस्त्र से छिपा लिए।

गरब-विनासक तियन को लखि तोको रन मांहि,
किहिँ अरि-नृप की राज-श्रिय तजत पतिव्रत नांहि ॥३७८॥

किसी राजा की प्रशंसा में कहना तो यह अभीष्ट है कि 'सब शत्रुओं पर युद्ध में तुम विजय प्राप्त करते हो' इस बात को इसी प्रकार न कह कर 'संग्राम में तुम्हें देखकर किस शत्रु की राज्य-लक्ष्मी पतिव्रत को नहीं छोड़ देती है' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा है।

यहाँ 'सब शत्रुओं पर तुम विजय प्राप्त करते हो' यह बात यद्यपि स्पष्ट नहीं कही जाने से वाच्यार्थ नहीं है—व्यंग्यार्थ है। पर व्यंग्यार्थ जैसे अवाच्य होता है अर्थात् ध्वनित होता है, वैसे यह अवाच्य नहीं है क्योंकि यह शब्द द्वारा भंग्यन्तर से कहा गया है अतएव ध्वनि नहीं है। ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे ध्वनि के—

नलिनी-दल बैठे अचल यह बक जुगुल निहारु,
मरकत-भाजन में धरे संख-सीप जिमि चारु ॥३७९॥

इस उदाहरण में वाच्यार्थ में कमल-दल पर निश्चल बैठे हुए बगुले के जोड़े का वर्णन है। और व्यंग्यार्थ में उस स्थान का एकान्त होना सूचन किया गया है। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु पर्यायोक्ति में वाच्यार्थ ही रूपान्तर से कहा जाता है जैसे—'सब शत्रुओं पर तुम विजय करते हो' यही बात 'गर्व विनासक तियन को' इस उदाहरण में 'संग्राम में तुमको देखकर किस शत्रु की राज्य-लक्ष्मी पतिव्रत नहीं छोड़ती है'—इस वाच्यार्थ में रूपान्तर से कही गई है। अर्थात् सीधे तरह से न कहकर घुमा फिराकर कहा गया है। भंग्यन्तर से कथन में और वाच्यार्थ में वैसा ही अन्तर है जैसा कि जावक, मेहँदी, जपा और कसूम आदि के पुष्प सभी रक्त होते हैं पर जाति-भेद के कारण उनमें एक दूसरे की रक्तता में अन्तर होता है।

इसी प्रकार भंग्यन्तर का कथन भी एक प्रकार का वाच्यार्थ ही होता है। वास्तव में भंग्यन्तर द्वारा कहना वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का मध्य-वर्ती अर्थ है अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य है कहा भी है—

"समासोक्तिआक्षेपपर्यायोक्त्यादिषु तु गम्यमानांशाविना-भावेनैव तत्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यंग्यता निर्विवादैव।"

ध्वन्यालोक ३। ३ पृ० २०६

अलङ्कारसर्वस्व कार रुय्यक का मत है कि पर्यायोक्ति में कारण रूप वाच्यार्थ का कार्य द्वारा कथन किया जाता है। जैसे यहाँ शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने रूप कारण का शत्रु-राजाओं की राज्यलक्ष्मी का पातिव्रत्य छोड़ना कार्य कहा गया है (यद्यपि कार्य-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी कारण रूप मुख्यार्थ, कार्य रूप द्वारा कहा जाता है किन्तु वहाँ कारण प्रस्तुत और कार्य अप्रस्तुत होता है और यहाँ कारण और कार्य दोनों ही प्राकरणिक होने के कारण प्रस्तुत होते हैं।

रुय्यक ने अपने इसी मत के अनुसार महाराजा भोज और आचार्य मम्मट की आलोचना भी की है। सरस्वतीकण्ठाभरण में महाराज भोज ने और काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने कार्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में—

राज सुता न पढ़ाती मुझे ? नृप! देवियां मौन दिखाती हैं क्यों ?
डालती क्यों न चुगा कुबजे! न कुमार भी आज खिलाती हैं क्यों?
शून्य हुए अरि-मंदिर में अब पिंजर से छुट जाती हैं जो—
जाके वहाँ प्रति चित्र समीप वे सारिका वाक्य सुनाती हैं यों*॥३८०

* राजा के प्रति कवि की उक्ति है—तुम्हारे भय से भगे हुए शत्रु-राजाओं के सूने भवनों की यह दशा हो गई है कि पिंजरों में से पथिकों द्वारा निकाली हुई मैनाएं वहाँ दीवारों पर लिखे हुए राजा, राणी,

यह पद्य (जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है वह) लिखकर कहा है कि "इसमें किसी राजा की प्रशंसा में कवि को यह कहना अभीष्ट था कि 'अपने ऊपर चढ़ाई करने के लिए तुम्हें उद्यत समझ कर आपके शत्रु भाग गये' इस प्रस्तुत (प्रसङ्गगत) कारण को न कहकर अप्रस्तुत कार्य—'शत्रु राजाओं के भवनों का शून्य हो जाना' कहा है।" रुय्यक इसकी आलोचना में कहता है—"यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है, पर्यायोक्ति अलङ्कार है। क्योंकि यहाँ शत्रुओं के भवन शून्य हो जाने का वर्णन अप्रस्तुत (अप्रासिङ्गिक) नहीं किन्तु वर्णनीय है। अतः यह बात सीधी तरह न कह कर भंग्यन्तर से कही गई है।" इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि *पर्यायोक्ति और कार्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा* का प्रथक्करण बहुत ही कठिन है।

चौरासी गिन लक्ष रूप नट ज्यों लाया बना के नये,
बारंबार कृपाभिलाष कर मैं ये आप ही के लिये,
हूए जोकि प्रसन्न देख उनको, मांगूं वही दो हरे!
आये जो न पसंद, नाथ! कहिये ये स्वांग लाना न रे! ३८१

यहाँ भगवान् से मोक्ष की प्रार्थना अभीष्ट है, उसे भंग्यन्तर से कही गई है।

"हम दर्द बंद मुश्ताक रहे तुम बिन उर दूजा दुरा नहीं,
तीखी चितवन का जख्म लगा दिल में सो अब तक पुरा नहीं,
तुझ हुस्न वलख में अय दिलवर! कुछ हम लोगों का कुरा नहीं।
बिहँसन के बीच बिकाते हैं 'शीतल' इन मोलों बुरा नहीं"॥३८२

राजकुमारी, और दासियों के चित्रों के समीप जाकर उनसे कहती हैं कि हे राजन्! राजकुमारी हमको क्यों नहीं पढ़ाती हैं। राखियाँ क्यों मौन हैं, कुब्जे! तू हमें चुगा क्यों नहीं डालती, और आज राजकुमारी को क्यों नहीं खिलाती है?

यहाँ वक्ता को भगवान् से कहना यह अभीष्ट है कि 'आपके मन्द-स्मित मुख के दर्शन चाहते हैं' इस वक्तव्य को उसने 'विहँसन के बीच बिकाते हैं इन मोलों बुरा नहीं' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा है।

"जाउँ जम-गाउँ जो समेत अघओघनि के
तोपै तिहिं ठाउँ ना समाउं उबरयो रहौं।
कहै 'रतनाकर' पठावौ अघ-नासि जु पै
तोपै तहाँ जाइबे की जोगता हरयो रहौं।
सुकृत बिना तो सुरपुर में प्रवेस नांहि,
पर तिनतैं तो नित दूर ही टरयो रहौं।
तातैं नयो जोलौं ना निवास निरमान होइ,
तोलौं तव द्वार पै अमानत परयो रहौं"॥३८३॥

यहाँ 'आपकी शरण में रखिये' इस अभीष्ट को वाच्यार्थ में भंग्यन्तर से कहा गया है।

पावन हुआ स्थल यह जहाँ पद आपके अर्पित हुए,
रूप-छवि की माधुरी से नेत्र आप्यायित हुए,
मधुर श्रवणामृत रसायन-वचन का कर दान क्या—
सम्मान्य! इस जन के श्रवण अब सफल करियेगा न क्या॥

'आप अपने यहाँ आने का अपना अभीष्ट कहिये' इस बात को यहाँ इस पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रकारान्तर से कही गई है।

दूसरा पर्यायोक्ति अलङ्कार

अपने इष्ट-अर्थ को साक्षात् (स्पष्ट) न कह कर उस (इष्ट) की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर (दूसरे प्रकार) से कथन किए जाने को द्वितीय पर्यायोक्ति कहते हैं।

इसका लक्षण चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'व्याज (बहाने) से इष्ट साधन किया जाना' लिखा है। किन्तु इस लक्षण द्वारा 'पर्याय-उक्ति' अर्थात् प्रकारान्तर से कहा जाना' जो इस अलङ्कार में विशेष चमत्कार है वह स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः यहाँ आचार्य दण्डी के मतानुसार लक्षण लिखा गया है।

उदाहरण—

वसन छिपाई चोर क्यों न देतु है गेंद यह,
अस कहि नंदकिसोर परस्यो गोपी उर चतुर ॥३८५॥

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उरु-स्थल स्पर्श करने के इष्टार्थ (वांछितार्थ) को स्पष्ट न कह कर पूर्वार्द्ध में गोपाङ्गना को प्रकारान्तर से कहा है।

—:※:—

(३३) व्याजस्तुति अलङ्कार

निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति और स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा करने को व्याजस्तुति अलङ्कार कहते हैं।*

व्याजस्तुति का अर्थ है व्याज अर्थात् बहाने से स्तुति। व्याजस्तुति में स्तुति के बहाने से निन्दा और निन्दा के बहाने से स्तुति की जाती है।

निन्दा में स्तुति—

सुर-लोक से आप गिरीं जननी ! अवनी-तल-दुःख-निवारण को,
दिक-अंबर भी शिव ने तुमको ली जटा में छिपा, कर धारण सो,

* यह अलङ्कार विपरीत लक्षणा द्वारा होता है विपरीत लक्षणा की स्पष्टता प्रथम स्तवक के लक्षणा प्रकरण में की गई है।

निरलोभियों के मन लुब्ध बना करती तुम क्या न प्रतारण* हो,
गुण-राशि में दोष तुम्हारे यही कहते सब हैं, न अकारण जो॥३८६

यहाँ श्री गङ्गाजी की निन्दा प्रतीत होती है, पर वस्तुतः उनकी स्तुति है।

"दिसि दिसि देखि दीठि चपल चलावै मनि-
भूषन दिखावै मंजु विभव विसाला ज्यों।
सुवरन-सेवी† अभिरूप जन‡ आवै तिन्हें
आसु° अपनावै मिलि लावै गरै माला ज्यों।
कोटिन$ पै कोटिन कुमावै अर्थ कामिन तैं
सदन न सूनो राखै राग इकताला ज्यों§।
निलज निसर्ग नृप राम की समृद्धि सांची
चित्ताकार वृद्धन बुलावै बरबाला¶ ज्यों"॥३८७॥

यहाँ बूंदी नरेश रामसिंह की समृद्धि को वेश्या के समान निर्लज्ज कह कर निन्दा के व्याज से राजा की स्तुति की गई है। यह श्लेष-मूलक व्याजस्तुति है।

स्तुति में निन्दा—

तरु सेमर का जगतीतल में यह भाग्य कहो कम है किससे?
अरुण-प्रभ पुष्प खिले जिसके लख लज्जित हों सरसीरुह से,
समझें जलजात मराल तथा मकरंद-प्रलोभित भृंग जिसे,
करके फल-आश विहंगम हैं अनुरक्त सदा रहते जिससे॥३८८॥

---

*ठगाई। † राजा पक्ष में साक्षर विद्वानों की सेवा करने वाली, वेश्या के पक्ष में सुवर्ण-धन। ‡ राजा पक्ष में पण्डित, वेश्या पक्ष में अच्छे रूप वाले। °शीघ्र। $ राजा पक्ष में कोटि अर्थात् शास्त्रीय निर्णय, वेश्या पक्ष में करोड़ों रुपये। § इकताला राग जिसमें स्थान रिक्त (खाली) नहीं रहता है। ¶ वेश्या।

जिसके फूलों की सुन्दरता पर मुग्ध होके आये हुए आशाबद्ध पक्षी-गण निराश हो जाते हैं, उस सेमर के वृक्ष की यहाँ स्तुति की गई है किन्तु वास्तव में निन्दा है। यहाँ सेमर का वृत्तान्त अप्रस्तुत है वस्तुतः बहिराडम्बर वाले कृपण व्यक्ति के प्रति कहा गया है अतः यह अप्रस्तुत प्रशंसा से मिश्रित व्याजस्तुति है।

वालि ने काँख में दाबि कियो अपमान तऊ न भये प्रतिकारी,
नाक रु कान कटी भगिनी लखि हू न कछू रिस चित्त विचारी,
पूत को मारि जराइ दी लंक पै मारुती हू पै दया उरधारी,
रावन! हौं जग में न लखौं क्षमता में करै समता जु तिहारी॥३८६

रावण के प्रति अंगद के इन वाक्यों में स्तुति के बहाने निन्दा की गई है। यह शुद्ध व्याजस्तुति है।

तव कलत्र यह मेदिनी है भुजंग संसक्त,
कापै करत गुमान नृप! ह्वै तापै अनुरक्त॥३९०॥

यहाँ 'भुजंग' शब्द श्लिष्ट है, इसके जार पुरुष और सर्प दो अर्थ हैं और 'संसक्त' के भी दो अर्थ हैं आसक्त और व्याप्त। यह श्लेष मिश्रित है।

———:※:———

(३४) आक्षेप अलङ्कार

'आक्षेप' शब्द अनेकार्थी है। यहाँ आक्षेप का अर्थ निषेध है। निषेधात्मक चमत्कार की प्रधानता के कारण इस अलङ्कार का नाम आक्षेप है।

आक्षेप में कहीं निषेध का और कहीं विधि का आभास होता है। अतः आक्षेप अलङ्कार तीन प्रकार का होता है।

प्रथम आक्षेप

विवक्षित* अर्थ का निषेध जैसा किये जाने को प्रथम आक्षेप अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् वास्तव में निषेध न होकर निषेध का आभास होना।

इसके तीन भेद हैं—

(१) विवक्षित अर्थ का वक्ष्यमाण (आगे को कहे जाने वाले) विषय में, अवक्तव्यता (नहीं कहने योग्य) रूप विशेष† कहने की इच्छा से निषेध का आभास होना। इसमें भी कहीं तो सामान्य रूप से सूचित की हुई सारी बात का निषेधाभास होता है और कहीं एक अंश कहकर दूसरे अंश का निषेधाभास होता है।

(२) विवक्षित अर्थ का उक्त-विषय में (कही हुई बात में) अति प्रसिद्धता रूप विशेष कहने की इच्छा से निषेधाभास होना। इसमें कहीं वस्तु के स्वरूप का और कहीं कही हुई बात का निषेधाभास होता है।

वक्ष्यमाण-निषेधाभास—

रे खल ! तेरे चरित ये कहि हौं सबहिं सुनाय,
अथवा कहिबो हत-कथा उचित न मोहि जनाय ॥३६१॥

यहाँ नीच का चरित्र जो कहना अभीष्ट है वह वक्ष्यमाण है—कहा नहीं गया है, 'कहि हौं' पद से भावि कथनीय है। उसका चौथे चरण में जो निषेध है वह 'खल-चरित्र का कहना भी पाप है' इस विशेष-कथन की इच्छा से है, अतः निषेध का आभासमात्र है। यहाँ सूचित की हुई बात का निषेध है।

---

* जो बात कहने के लिये अभीष्ट हो उसको विवक्षित अर्थ कहते हैं।

† किसी खास बात को सूचित करने के लिये।

खिली देखि नव-मालती विरह-विकल वह बाल,
अथवा कहिबे में कथा कहा लाभ इहि काल ॥३६२॥

विरह-निवेदना-दूति की नायक के प्रति उक्ति है। 'वह तुम्हारे वियोग में मर जायगी' यह कहना अभीष्ट है, किन्तु यह वाक्यांश कहा नहीं है, उत्तरार्द्ध में जो निषेध है वह नायिका की इस वर्णनातीत-अवस्था का सूचन करने के लिये निषेध का आभास है।

उक्त-विषय में स्वरूप का निषेधाभास—

लाल! हौं न दूती कबौं करतु जु हौं यह काम,
तोहि वृथा लगि है अजस मरिजै है वह वाम ॥३६३॥

नायक के प्रति दूती की इस उक्ति में उक्त-विषय में निषेध का आभास है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के वाक्य में नायिका की विरहावस्था का सूचन करने का दूत-कार्य करती हुई भी वह अपने दूतीपने के स्वरूप का पूर्वार्द्ध में निषेध करती है। और यह निषेध नायिका के दुःख की अधिकता कहने की इच्छा से किया है

उक्त-विषय में कही हुई बात का निषेधाभास—

चन्द्रन चन्द्रक चन्द्रिका चन्द-साल मनि-हार,
हौं न कहौं सब हौंय ये ताको दाहन-हार ॥३६४॥

विरह-ताप-सूचन करना, विवक्षित है, जिसका चौथे पाद में कथन करके भी 'हौं न कहौं' पद से जो निषेध है वह निषेधाभास है। यह निषेध, ताप की अधिकता रूप विशेष कथन के लिये, किया गया है।

द्वितीय आक्षेप

पक्षान्तर ग्रहण करके कथित अर्थ का निषेध किये जाने को द्वितीय आक्षेप कहते है।

कुरु-वृद्ध कों युद्ध के धर्म विरुद्ध हते न सिखिंडि हि कै समुहानी,
गुरु द्रौन हू मौन ह्वै सस्त्र तजे सुत-धर्म अहो! जब झूठ बखानी,
छल ही सों हत्यो न कहा? अब मोहि कहै दुरजोधन ये जग जानी,
तुम केसव! तथ्य कहौ? न कहौ, चलि है न कहा यह सत्य कहानी॥३६५

गदा के प्रहार से भूमि में गिरे हुए दुर्योधन की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति है। दुर्योधन ने 'चलि है न कहा जग सत्य कहानी' यह पक्षान्तर ग्रहण करके 'न कहौ' पद से निषेध किया है।

"छोड़-छोड़ फूल मत तोड़ आली! देख मेरा-
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हिलाये हैं।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में है,
दुःखिनी लता के लाल आंसुओं से छाये हैं।
किंतु नहीं चुनले खिले-खिले फूल सब,
रूप गुण गंध से जो तेरे मन भाये हैं।
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिये;
गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं"॥३६६॥

उर्मिला ने पूर्वार्द्ध में फूल तोड़ने का निषेध करके उत्तरार्द्ध में पक्षान्तर ग्रहण करके तोड़ने को कहा है।

आक्षेप के इस दूसरे भेद में वस्तुतः निषेध है। आक्षेप का यह भेद कुवलयानन्द में लिखा है। किन्तु अग्निपुराण के अनुसार ध्वनिकार, भामह, उद्भट, मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ ने निषेध के आभास में ही आक्षेप अलङ्कार माना है—वास्तव निषेध में नहीं। सर्वस्वकार ने * वास्तव निषेध में आक्षेप अलङ्कार का खण्डन भी किया है। पण्डितराज का मत है कि वास्तव निषेध में भी आक्षेप अलङ्कार माना जाने में कोई आपत्ति नहीं †।

---

* देखिये अलङ्कारसर्वस्व विमर्शनी पृ० ११८।

† देखिये रसगङ्गाधर पृ० ४२९।

तृतीय आक्षेप

विशेष कथन की इच्छा से अनिष्ट में सम्मति का आभास होने को तृतीय आक्षेप अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् विधि का आभास होना।

"जाहु जाहु परदेस पिय! मोहि न कछु दुख भीर,
लहहुँ ईस ते विनय करि मैं हू तहां सरीर"॥३६७॥

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका की इस उक्ति में 'जाहु जाहु' पद से विदेश-गमन रूप अनिष्ट की जो सम्मति है वह सम्मति का आभास मात्र है क्योंकि 'आपके वियोग में मैं न जी सकूँगी' यह विशेष-अर्थ उत्तरार्द्ध में सूचित किया गया है। आक्षेप का यह भेद काव्यादर्श में 'अनुज्ञाक्षेप' नाम से कहा गया है।

"मानु करत बरजति न हौं उलटि दिवावत सौंह,
करी रिसौंही जायगी? सहज हँसौंही भौंह"॥३६८॥

मानिनी नायिका को मान करने के लिये पूर्वार्द्ध में सखी कह रही है, वह आभासमात्र है। क्योंकि सखी के—'क्या तुमसे अपनी हँसोंही भौंहैं रिसोंही' की जा सकेंगी?' इस कथन के द्वारा मान का निषेध ही सूचित होता है।

---

(३५) विरोध या विरोधाभास अलङ्कार

वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध के आभास के वर्णन को 'विरोध' अलङ्कार कहते हैं।

वास्तव विरोधात्मक वर्णन में दोष होने के कारण विरोध अलङ्कार में विरोध का आभास होता है, अर्थात् विरोध न होने पर भी विरोध जैसा प्रतीत होना। इसके जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ परस्पर एक दूसरे का विरोधाभास होने में निम्नलिखित दश भेद होते हैं—
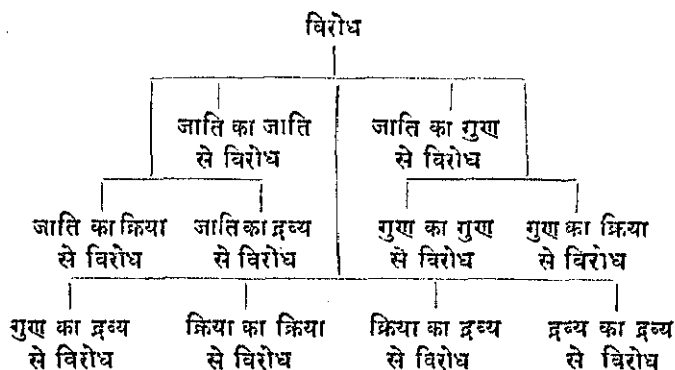
इनके कुछ उदाहरण—

दव सम नव-किसलय लगत अब ह्वै लगत मृनाल,
लाल ! भयो या बाल को विरह-विकल यह हाल ॥३६६॥

शीतल स्वभाव वाले मृनाल आदि पुष्प जाति को अग्नि के समान ताप-कारक कहने में विरोध प्रतीत होता है, पर वियोग में वे दाहक ही होते हैं, अतः विरोध का आभास है। यहाँ पुष्प जाति से ताप जाति का विरोध है।

सरद की रैन दैन आनँद के साज सबै,
सोभित सु मंदिर सो स्वच्छ अवरेख्यो आज।
तामें गिरिराज कुञ्ज-गली हू इकोर बनी,
तहां रास-मण्डल सिंगार सित लेख्यो आज।

कुंडल के ऊपर ते श्री-मुख विलोकबे कों,
ढरक्यो स-नाल कौल क्रीट तरैं पैख्यो आज।
झांकी द्वारकेश की निहारि के अचेतन भे,
चेतन अचेतन हू चेतन भो देख्यो आज*॥४००॥

यहाँ चेतन मनुष्य जाति का अचेतन क्रिया के साथ और अचेतन कमल जाति का चेतन क्रिया के साथ विरोध है, श्रीप्रभु की महिमा से उसका परिहार है।

"मोरपखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई,
मोहन की मुसकान मनोहर कुंडल डोलनि में छबि छाई,
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई,
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥४०१

यहाँ 'लुनाई' गुण का मधुर गुण के साथ विरोध का आभास है।

"या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ,
ज्यों ज्यों बूडै स्याम रँग त्यों त्यों उज्वल होइ"॥४०२॥

यहाँ श्याम-रंग 'गुण' द्वारा उज्वल-रंग 'गुण' के उत्पन्न होने में विरोध है, किन्तु श्लेष द्वारा श्याम का अर्थ श्याम रंग के श्रीकृष्ण, हो जाने पर विरोध हट जाता है। यहाँ गुण का गुण के साथ विरोधाभास है।

मृदुल मधुर हू खल-वचन दाहक होतु विसेस,
जदपि कठिन तउ सुख-करन सज्जन बचन हमेस॥४०३॥

---

* मथुरा में विराजमान महाराज द्वारिकाधीश के शरदोत्सव के समय कुण्डल के ऊपर श्रृङ्गाररूप में शोभित कमल, मुकुट के आगे स्वतः ही आ गया था, उसी अनुपम दृश्य का वर्णन मेरे मित्र स्वर्गीय राजा सेठ लक्ष्मणदासजी के प्रेमावरोध से इसमें किया गया है।

यहाँ 'मृदुल'-गुण का 'दाह'-क्रिया के साथ और 'कठिन'-गुण का 'सुख करन' क्रिया के साथ विरोधाभास है।

"आये एक बार प्रिय बोले—'एक बात कहूँ,
विषय परंतु गोपनीय सुनो कान में'।
मैंने कहा—'कौन यहां?' बोले—'प्रिये! चित्र तो हैं
सुनते हैं वेभी राजनीति के विधान में'।
लाल किये कर्णमूल होठों से उन्होंने कहा—,
'क्या कहूँ सगद्गद् हूँ मैं भी छद-दान में;
कहते नहीं हैं करते हैं कृती' सजनी! मैं
खीज के भी रीझ उठी उस मुसकान में"॥४०४॥

सखी के प्रति उर्मिला की इस उक्ति के चतुर्थ चरण में खीजने की क्रिया का रीझने के क्रिया के साथ विरोधाभास है।

"बातें सरोस कबौं कहिकै हित सों कबहू समुझाइबो तेरो,
मेरे घने अपराधन कों बहु ब्योंत बनाइ दुराइबो तेरो,
कोह किये कपटी 'हरिऔध' के रंचक हू न रिसाइबो तेरो,
मारिबो पी को न सालत है पर सालत सौत! बचाइबो तेरो"।४०५

यहाँ, चौथे चरण में 'मारिबो' क्रिया का 'न सालत' क्रिया के साथ और 'बचाइबो' क्रिया का 'सालत' क्रिया के साथ विरोधाभास है।

जाते ऊपर को अहो! उतर के नीचे जहां से कृती,
है पैडी हरि की अलौकिक जहां ऐसी विचित्राकृती,
देखो! भू-गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किये,
स्वर्गारोहण मार्ग जो कि इनके क्या हैं अनोखे नये॥४०६॥

हरिद्वार की हरि की पैडियों का वर्णन है। नीचे उतरने की क्रिया से ऊपर चढ़ने की (स्वर्गलोक प्राप्ति की) क्रिया के साथ विरोध है पर

यहाँ हरि की पैड़ियों द्वारा नीचे उतर कर श्रीगंगा-स्नान करने का तात्पर्य होने के कारण वास्तव में विरोध नहीं रहता है।

उर्दू के कवियों ने भी इस अलङ्कार का प्रयोग किया है—

"इससे तो और आग वह बेदर्द हो गया,
अब आह आतशीं से भी दिल सर्द हो गया" ॥४०७॥

यहाँ आग द्वारा हृदय का शीतल हो जाना कहा गया है।

विरोधाभास अलङ्कार की ध्वनि—

जहाँ 'अपि' 'तऊ' आदि विरोध-वाचक शब्दों के प्रयोग बिना विरोध का आभास होता है वहाँ विरोध की ध्वनि होती है—

"बंदौं मुनि-पद-कंजु* रामायन जिन निरमयऊ,
सखर† स-कोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित‡ ॥४०८॥

श्री रामायणी कथा को 'सखर' 'सकोमल' और 'दोष-रहित' 'दूषण सहित' कहने में विरोध के आभास की ध्वनि निकलती है। विरोध-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं है।

'कविप्रिया' में विरोध और विरोधाभास दो अलङ्कार लिखे हैं। किन्तु महाकवि केशव स्वयं इन दोनों ही की पृथक्‌ता नहीं दिखा सके हैं। उन्होंने विरोध का लक्षण अस्पष्ट लिखकर काव्यादर्श से अनुवादित—

"ऐरी मेरी सखी! तेरी कैसे कै प्रतीत कीजै।
कृसनानुसारी दृग करनानुसारी है" ॥४०९॥

---

* महर्षि वाल्मीकिजी के चरण।

† कठोरतायुक्त, अथवा खर राक्षस की कथायुक्त।

‡ दूषण राक्षस की कथायुक्त।

यह उदाहरण दिया है। इसमें कृष्ण और कर्ण इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग द्वारा जो विरोध प्रदर्शित होता है पर कृष्ण का श्याम रंग और कर्ण का श्रवण (कान) श्लेषार्थ हो जाने पर विरोध का आभास रह जाता है अतः इसमें विरोधाभास ही है वास्तव विरोध नहीं। और—

"आपु सितासित रूप चितै चित स्याम सरीर रँगै रंग रातें,
'केसव' कानन-हीन सुनै सु कहै रस की रसना बिन बातें,
नैन किधौं कोउ अंतरजामी री! जानति नांहिन बूझति यातें,
दूर लौं दौरत हैं बिन पांयन दूर दुरी दरसैं मति जातें"॥४१०॥

इस दूसरे उदाहरण में भी प्रथम-चरण में कारण के गुण से कार्य का गुण विरुद्ध होने के कारण तीसरा विषम और शेष तीनों चरणों में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने के कारण प्रथम विभावना है, न कि विरोध।

(३६) विभावना अलङ्कार

विभावना का अर्थ है—'विभावयन्तिकारणान्तरमस्यामिति विभावना'। अर्थात् विभावना अलङ्कार में कारणान्तर की कल्पना की जाती है। इसके छः भेद हैं:—

प्रथम विभावना

प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पन्न होने के वर्णन को प्रथम विभावना कहते हैं।

यह दो प्रकार की होती है—उक्त-निमित्ता और अनुक्त-निमित्ता।

उक्त-निमित्ता—

"जेते एंडदार दरबार सरदार सब—
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो।

'मतिराम' कहै तरवार के कसैया केते,
गाडर से मूंड़े जग हाँसी को प्रसंग भो।
सरजन-सुत रन लाज रखवारो एक,
भोज ही तैं साह को हुकुम-पन भंग भो।
मूछन सों राव-मुख लाल रंग देखि, मुख
औरन को मूछन बिना ही स्याम रंग भो" ॥४११॥

मूछों के होने से मुख पर श्यामता दीख पड़ती है। यहाँ मुगल बादशाह के हुक्म से मूंछ मुड़वा डालने वाले अन्य राजाओं के मुखों का मूंछों के मुंड़ा लेने पर मूंछों के बिना ही (लज्जा के कारण) श्याम होना कहा गया है। और उन राजाओं के काले मुख होने का कारण—निमित्त—बूंदी-नरेश भोजराज के मुख पर मूंछों का होना कारणान्तर कल्पना करके कहा गया है अतः उक्त-निमित्ता है। यह श्लेष-गर्भित भी होती है—

"रहति सदाई हरियाई हिय-धायनि में,
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै,
चित में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल में;
ऊधों! नित बसति बहार बरसा की है" ॥४१२॥

यहाँ घनश्याम (मेघ रूप कारण के) बिना ही बरसा रूप कार्य होना कहा गया है। 'घनस्याम' शब्द श्लिष्ट है—इसके मेघ और श्रीकृष्ण दो अर्थ हैं। ब्रज में नित्य बरसा के होने का कारण ऊपर के तीनों चरणों में कारणान्तर कल्पना करके कहा गया है। अतः उक्त निमित्ता है।

इस विभावना का प्रयोग उर्दू कवियों के काव्य में भी मिलता है—

"उफंगो तीर तो जाहिर न था कुछ पास कातिल के,
इलाही फिर जो दिल पर तान के मारा तो क्या मारा"॥४१३

अनुक्त-निमित्ता—

पीती स्वयं है न किसे पिलाती,
प्रमत्त हो तू ध्वनि ही सुनाती।
तथापि उन्मत्त अहो ! बनाती,
विचित्रता कोकिल ! तू दिखाती ॥४१४॥

उन्मत्त बनाने में मादक-वस्तु का सेवन प्रधान कारण होता है, किन्तु इस कारण के अभाव में भी यहाँ उन्मत्तता रूप कार्य का होना कहा गया है। यहाँ उन्मत्त बना देने का कारण नहीं कहा गया है इस-लिये अनुक्त-निमित्ता है। यह भी श्लेष-गर्भित होती है—

"ओठ सुरंग अनूपम सोहैं सुभाव ही बीरिओ बाल न खाई,
भूषन हू बिन भूषित देह सुअंजन हू बिन नैन निकाई,
रूप की रासि विलास मई इक गोपकुमारि बनी छबिछाई,
जावक दीन्हें बिना हू अली ! झलके यह पाइन में अरुनाई"४१५

अधर के रक्त होने का कारण पान का खाना और शरीर के भूषित होने आदि के कारण भूषण धारण करना आदि होते हैं। यहाँ इन कारणों के बिना ही रक्त होना आदि कार्य कहे गये हैं। और इसका निमत्त नहीं कहा गया है अतः अनुक्तनिमित्ता है। यहाँ अधरादिकों में स्वाभाविक अरुणता आदि का वर्णन होने के कारण यह स्वाभाविक विभावना है।

सहजहिं हारी हैं सदा भूपित बिन हू हार,
किहिं के उर अचरज न ह्वै तेरे उरज निहार ॥४१६॥

यहाँ 'हार' के बिना ही उरोजों को हारी (हार वाले) कहे गये हैं। यहाँ 'हारी' शब्द श्लिष्ट है इसके हार धारण किये हुए और मनो-हारी दो अर्थ हैं।

काव्यप्रकाश आदि में यही एक भेद विभावना का है। अप्पय्य दीक्षित ने विभावना के और भी पाँच भेद कुवलयानन्द में लिखे हैं। वास्तव में यह पाँचों भेद भी प्रथम विभावना के अन्तर्गत ही हैं*। वे पाँचों भेद इस प्रकार हैं—

द्वितीय विभावना

कारण के असमग्र (अपूर्ण) होने पर भी कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को द्वितीय विभावना कहते हैं।

"तिय ! कत कमनैती† सिखी बिन जिह‡ भौंह कमान,
चल-चित बेधत चुकत नहिं बक-बिलोकन बान" ॥४१७॥

धनुष को डोर से खैंच कर सीधे बाणों से निशाना मारा जाता है अतः धनुष में डोरी का न होना और बाणों में टेढ़ापन होना अपूर्णता है। यहाँ डोरी-रहित भृकुटी रूप धनुष और कटाक्ष रूपी टेढ़े बाण इन दोनों अपूर्ण कारणों से ही चंचल-चित्त के बेधन करने का कार्य होना कहा गया है।

"दीन न हो गोपे ! सुनो, हीन नहीं नारी कभी
भूत-दया-मूर्ति यह मन से शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष तब
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से।
आया जब मार° मुझे मारने को बार बार
अप्सरा अनीकिनी सजाये हेम-तीर से।

* देखिये काव्यादर्श २ । १९९-२०१ । और रसगङ्गाधर विभावना प्रकरण।

† धनुष-विद्या। ‡ धनुष की प्रत्यंचा। ° कामदेव।

तुम तो यहाँ थी, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंचशार* वीर से" ॥४१८॥

यशोधरा के प्रति बुद्धदेव की इस युक्ति में यशोधरा के ध्यान मात्र अपूर्ण कारण द्वारा कामदेव को विजय करने का कार्य होना कहा गया है।

तीसरी विभावना

प्रतिबन्धक होने पर भी कार्य की उत्पत्ति कथन करने को तीसरी विभावना कहते हैं।

अर्थात् कार्य का बाधक† होने पर भी कार्य का उत्पन्न होना।

तेरे प्रताप रवि का नृप! तेज जो कि—
लोकातिरिक्त सुविचित्र चरित्र, क्योंकि—
जो हैं अछत्र उनको यह ताप-हारी,
हैं छत्र-धारित उन्हें अति ताप-कारी ॥४१९॥

छाते से सूर्य का ताप रुक जाता है। यहाँ राजा के प्रताप रूपी सूर्य द्वारा छत्र को धारण करने वालों को (छत्रधारी शत्रु राजाओं को) छाते रूप बाधक-कारण होने पर भी सन्तापित होना कहा गया है।

"तुव बैनी-ब्याली रहै बांधी गुनन्ह बनाइ,
तऊ वाम ब्रज-चंद कों बदाबदी डसिजाइ" ॥४२०॥

वेणी रूप सर्पिणी का गुणों (श्लेषार्थ-डोरों) से बँधी हुई होना डंक मारने का प्रतिबन्धक है। फिर भी उसके द्वारा डसने रूप कार्य का किया जाना कहा गया है।

चौथी विभावना

अकारण से कार्य उत्पन्न होने के वर्णन को चौथी विभावना कहते हैं।

---

* कामदेव। † रोकने वाला।

अर्थात् जिस कारण से कार्य उत्पन्न होना चाहिये उस कारण के बिना दूसरे कारण द्वारा कार्य होना।

आवतु है तिल-फूल तें मलय-सुगंध-समीर,
इंदीवर-दल जुगल तें निकरतु तीच्छन तीर ॥४२१॥

न तो मलय सुगन्धित वायु के आने का (उत्पन्न होने का) कारण तिलका पुष्प हो सकता है और न बाणों के निकलने का (उत्पन्न होने का) कारण कमलदल ही। किन्तु यहाँ इन दोनों अकारणों द्वारा इन दोनों कार्यों का उत्पन्न होना कहा गया है*।

पंचम विभावना

विरुद्ध कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति होने के वर्णन को पाँचवी विभावना कहते हैं।

"पाहन पाहन तें कढ़ै पावक केहूँ कहूँ यह बात फबैसी,
काठहु काठ सों भूठो न पाठ प्रतीत परै जग जाहिर जैसी,
मोहन-पानिप केसरसे रस रंग की राधे तरंगिनि ऐसी,
'दास' दुहूँ की लगालगी में उपजी यह दारुन आगि अनैसी" ॥४२२

यहाँ पानी से अग्नि लगना विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति है।

करहुं हतन जग को भलौ अविवेकी कुच-द्वंद,
श्रुति-संगी इन दृगन कों उचित न करन निकंद ॥४२३॥

श्रुति के समीप रहने वाले (कानों के समीप श्लेषार्थ—वेद की श्रुतियों के साथ रहने वाले) नेत्रों द्वारा दूसरों को पीड़ा देने का कार्य विरुद्ध है क्योंकि श्रुति का संग करने वाले को दूसरे का हित करना उचित है, न कि पीड़ा। यहाँ श्लेष मिश्रित है।

---

* यहाँ कवि का तात्पर्य तिलफूल कहने का नायिका की नासिका से और कमल दल कहने का नायिका के नेत्रों से है।

छठी विभावना

कार्य द्वारा कारण उत्पन्न होने के वर्णन को छठी विभावना कहते हैं।

ललन-चलन की वात सुनि दहक दहक हिय जात,
दग-सरोज से निकसि अलि ! सलिल-प्रवाह वहात ॥४२४॥

जल से उत्पन्न होने से कमल का कारण जल है, किन्तु यहाँ दग सरोजों से जल के प्रवाह का उत्पन्न होना अर्थात् कार्य से कारण का उत्पन्न होना कहा गया है।

भारतीभूषण में विभावना का सामान्य लक्षण यह लिखा है कि "जहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध का किसी विचित्रता से वर्णन हो।" पृ० २२२। किन्तु इस लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष है क्योंकि कारणातिशयोक्ति और असंगति और विशेषोक्ति आदि में भी कारण और कार्य्य का विचित्र सम्बन्ध वर्णन होता है।

(३७) विशेषोक्ति अलङ्कार

अखण्ड-कारण के होते हुए भी कार्य न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

'विशेषोक्ति' पद 'वि' 'शेष' और 'उक्ति' से बना है। 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'गत' है और 'शेष' का अर्थ यहाँ 'कार्य' है। न्याय-सूत्र के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन ने 'शेषवत्' ऐसा अनुमान का प्रभेद कहकर कार्य से कारण का उदाहरण दिया है। अतः विशेषोक्ति का शब्दार्थ यह है कि गत हो गया है कार्य जिसका ऐसे कारण की उक्ति अर्थात् कारण होते हुए कार्य का न होना कहा जाना। उद्योतकार ने विशेषोक्ति का अर्थ यह किया है कि कुछ विशेष (खास) बात के प्रतिपादन के लिये उक्ति होना—'किञ्चित् विशेषप्रतिपादयितुमुक्तिः।'

'विभावना' में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है और इसमें कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता है। अतः यह 'विशेषोक्ति' अलङ्कार विभावना के विपरीत है। इसके तीन भेद हैं—

(१) अनुक्त निमित्ता। अर्थात् कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त न कहा जाना।

(२) उक्त-निमित्ता। अर्थात् कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त कहा जाना।

(३) अचिन्त्य-निमित्ता। अर्थात् कार्य उत्पन्न न होने का निमित्त अचिन्त्य होना।

अनुक्त-निमित्ता—

रसीली मीठी है सुमधुर सुधा के रस मिली,
नसीली भी देखो प्रमुदित हमारी मति छली,
रुची से पी भी ली तदपि न पिपाशा शमन हो,
तुम्हारी कैसी ये सरस-कविता है नव अहो!॥३२५

तृषा मिटाने का कारण तृप्ति-पूर्वक पान करना है। यहाँ रुचि-पूर्वक पीलेने पर भी तृषा का शान्त न होना कहा गया है।

"नाभि सरोवर औ त्रिवली की तरंगिन पैरति ही दिन राति है,
बूड़ी रहै तन पानिप ही में नहीं वनमालहु तें बिलगाति है,
'दासजू' प्यासी नई अँखियाँ घनस्याम बिलोकत ही अकुलाति है,
पीबो करै अधरामृत हू कों तऊ इनकी सखि! प्यास न जाति है।"

यहाँ प्यास मिटने का कारण अधरामृत का पान किये जाने पर भी प्यास न मिटना कहा गया है और उसका निमित्त नहीं किया गया है अतः अनुक्त निमित्ता है।

उक्त *निमित्ता*—

देख रहा है प्रतिपल
अगणित जन प्रत्यक्ष मृत्यु-मुख-गत भी,
रागांध-चित्त फिर भी
होता नहीं है यह विषय-विमुख कभी ॥४२७॥

'सर्वदा जगत को मृत्यु-मुख में प्रवेश करते हुए देखना' विषयों से विरक्त होने का कारण होने पर भी विरक्ति न होना कहा है। उसका निमित्त चित्त का रागान्ध होना कहा गया है।

"अली! मान-अहि के डसैं हरि-कर झारयो नेह,
तऊ क्रोध-विष ना छुट्यो अब छूटत हैं देह" ॥४२८॥

कलहान्तरिता नायिका की सखी के प्रति उक्ति है। श्रीकृष्ण द्वारा प्रेम रूप झाड़े से झाड़ने पर भी मान रूप सर्प का विष न उतरना कहा गया है।

है वापी* भी मरकत-मयी† रत्न-सोपान‡ वाली,
छाये हेमोत्पल° कल§ जहां नाल वैदूर्य§ शाली।
पानी भी है विमल उसमें हंस हैं हर्ष-पाते,
वर्षा में भी अति-निकट के मानसी को न जाते ॥४२९॥

वर्षाकाल में अन्यत्र के जल में गदलापन आजाने के कारण सारे हंस मानसरोवर को चले जाते हैं अतएव हंसों के मानसरोवर जाने का वर्षा-काल कारण है। यहाँ मेघदूत में यक्ष ने अपनी गृह वापिका के हंसों का वर्षा-काल में भी मानसरोवर को न जाना कहा है। और न जाने का निमित्त उस बावड़ी के जल का निर्मल होना कहा गया है अतः उक्त निमित्ता है।

---

* जल की बावड़ी। † पन्नों के मणियों की। ‡ सीढ़ी—जीना। ° सुवर्ण कान्ति के कमल। § मनोहर। § एक प्रकार का लहसुनिया रत्न।

अचिन्त्य-निमित्ता—

कदन कियो हर मदन-तन तउ न कियो बल छीन,
इकलो ही कुसुमन-सरन त्रिभुवन करत अधीन* ॥४३०॥

यहाँ कामदेव के शरीर का नाश होने रूप कारण के होने पर भी उसके बल का नाश न होना कहा गया है। और इस बल-नाश के नहीं किये जाने का कारण अज्ञात होने से अचिन्त्य है।

यद्यपि अनुक्त-निमित्ता और अचिन्त्य-निमित्ता 'विशेषोक्ति' में कार्य के अभाव का निमित्त कहा नहीं जाता है—व्यंग्य रहता है। पर इसमें उस व्यंग्यार्थ के ज्ञान से चमत्कार नहीं, किन्तु कारण द्वारा कार्य के उत्पन्न न होने के वाच्यार्थ ही में चमत्कार है अर्थात् वाच्यार्थ ही प्रधान है, अतः 'ध्वनि' नहीं।
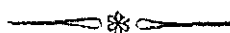
(३८) असम्भव अलङ्कार

किसी अर्थ की सिद्धि की असम्भवता वर्णन की जाने को 'असम्भव' अलङ्कार कहते हैं।

गोपों से अपमान जान अपना क्रोधान्ध होके तभी—
की वर्षा व्रज इन्द्र ने सलिल से चाहा डुबाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहो!॥४३१॥

गिरिराज के उठाये जाने रूप कार्य की सिद्धि की भगवान् श्रीकृष्ण

* वियोगिनी की उक्ति है, महादेवजी ने कामदेव को भस्म भी कर दिया, तो भी उसका बल नष्ट न किया यह एक ही तीनों लोक को अपने वश में करता है।

को 'गोप-शिशु' कहकर 'जाना था किसने' इस कथन से असम्भवता कथन की गई है।

चन्द्रालोक में असम्भव नाम से यह अलङ्कार स्वतन्त्र लिखा है। काव्यप्रकाश और सर्वस्व में ऐसे उदाहरण 'विरोध' के अन्तरगत दिखाये गये हैं।

"केसरि त्यों नल नील सुकंठ पहारहिँ ख्याल में खोदि वहे हैं,
अंगद औ हनुमान सुखेन सही 'लछिराम' धुजा फहरै हैं,
वानर भालु कुलाहल में जल-जीव तरंग सबै दबि जै हैं,
जानै को आज महीपति राम सबै दल वारिधि बांधिके ऐहैं"॥४३२

समुद्र पर सेतु बांधने के कार्य की यहाँ 'जाने को आज.........' इस कथन द्वारा असम्भवता कही गई है।

---

(३६) असङ्गति अलङ्कार

असङ्गति का अर्थ है सङ्गति न होना अर्थात् स्वाभाविक सङ्गति का त्याग। असङ्गति अलङ्कार में कारण और कार्य की अथवा कार्य की स्वाभाविक (नियत) सङ्गति का त्याग वर्णन किया जाता है। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम असङ्गति

विरोध के आभास सहित कार्य और कारण के एक ही काल में वैयधिकरण्य* वर्णन को प्रथम असङ्गति अलङ्कार कहते हैं।

---

* अधिकरण का अर्थ है आश्रय-आधार और वैयधिकरण्य का अर्थ है पृथक्-पृथक् आश्रय अर्थात् पृथक्-पृथक् स्थान पर होना।

कारण और कार्य एक ही स्थान पर हुआ करते हैं, जैसे—धूँआ होता है वहाँ अग्नि होती है। किन्तु प्रथम असङ्गति में इस नियत सङ्गति को त्याग कर कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र वर्णन किया जाता है। लक्षण में विरोध के आभास सहित इसलिये कहा गया है कि जहाँ विरोध के आभास बिना कार्य और कारण का वैयधिकरण्य होता है वहाँ अलङ्कार नहीं होता है। जैसे—

जौलौं यह टेढो करतु भौंह-चाप कमनीय,
तौलौं बान-कटाक्ष सों बिंधि जावतु मो हीय ॥४३३॥

यहाँ हृदय-बेधन रूप कार्य और चाप-आकर्षण रूप कारण का वैयधिकरण्य होने पर भी विरोध नहीं क्योंकि धनुष का आकर्षण अन्यत्र और बाण का लगना अन्यत्र, यह वास्तविक वैयधिकरण्य है। अतः ऐसे वर्णनों में यह अलङ्कार नहीं होता है।

उदाहरण—

हरत कुसुम-छबि कामिनी निज अंगन सुकुमार,
पै बेधत यह कुसुमसर युवकन हिय सर मार ॥४३४॥

पुष्प काम के बाण हैं। उनकी शोभा अपने अंग की शोभा द्वारा हरण करने का कामदेव का अपराध नायिका करती है। अतः दण्ड का कारण जो अपराध है वह नायिका में है और इस अपराध का दण्ड—कामदेव द्वारा बाण मारने का कार्य—युवा पुरुषों में कहा गया है।

रमणी यह धार रही कुच-भार असह्य परंतु सताता हमें,
जघनस्थल पीन तथा इसके, गति मंद तथापि बनाता हमें,
पद-कंज अलक्त* लगा इसके, मन रक्त हमारा लखाता हमें,
स्मर-कौतुक मित्र! विचित्र जहां नहीं लौकिक नेम दिखाता हमें॥४३५॥

---

* रक्त-रंग जिसको स्त्रीजन पैरों में लगाया करती हैं।

यहाँ मद-राग आदि कारण कामिनी में और मत्त होना आदि कार्य वक्ता (युवा पुरुष) में कहे गये हैं।

"कत अवनी में जाइ अटत अठान ठानि,
परत न जान कौन कौतुक विचारे हैं।
कहै 'रतनाकर' कमल-दल हू सों मंजु,
मृदुल अनूपम चरन रतनारे हैं।
धारे उर अंतर निरंतर लड़ावें हम,
गावें गुन विविध विनोद मोद भारे हैं।
लागत जो कंटक तिहारे पांय प्यारे! हाय,
आइ पहिले ही हिय बेधत हमारे हैं"॥४३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गोपीजनों की इस उक्ति में कांटा लगने रूप कारण भगवान् के चरण में और बेधन रूप कार्य गोपीजनों के हृदय में होना कहा गया है।

यहाँ 'पहिले' के प्रयोग द्वारा कारण के प्रथम कार्य होना समझकर पूर्वोक्त 'कारणातिशयोक्ति' का भ्रम न करना चाहिये। क्योंकि यहाँ कांटा लगने रूप कारण के प्रथम बेधन रूप कार्य का होना नहीं कहा गया है। किन्तु कांटा लगने से भगवान् के चरण-बेधन के प्रथम गोपीजनों का हृदय-बेधन होना कहा गया है। चरण-बेधन और हृदय-बेधन में परस्पर कारण-कार्य भाव नहीं—दोनों ही कार्य रूप हैं।

विषयी नृपति कुसंग सों पथ्य-विमुख ह्वै आपु,
करत लोक-अपवाद-जुर* चढ़ि सचिवन संतापु॥४३७॥

यहाँ 'पथ्य के विमुख होना (नीतिमार्ग को छोड़ना), यह कारण विषयी राजाओं के और 'लोक-निन्दा रूप ज्वर का ताप' यह कार्य मंत्रियों के होना कहा गया है। इसमें 'पथ्य' और 'जुर' शब्द श्लिष्ट हैं। अतः श्लेष मिश्रित है।

---

* ज्वर अथवा दुःख।

असङ्गति का विरोधाभास से पृथकरण—

'असङ्गति' में एकाधिकरण्य वालोंका (एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) वैयधिकरण्य होता है। और 'विरोध' में वैयधिकरण्य वालों का (भिन्न-भिन्न स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) एकाधिकरण्य होता है।

'असंगति' के लक्षण में जो 'कार्य-कारण' पद है उसे एकाधिकरण्य मात्र का उपलक्षण* समझना चाहिये। अतएव—

दृग वाके अञ्जन रहित लखि सूनो मम हीय

यहाँ अंजन के अभाव में और शून्यता में उत्पाद्य-उत्पादक (कार्य-कारण) भाव नहीं है—केवल एकाधिकरण्य वालोंके वैयधिकरण्य में ही असंगति है। यह भी विरोध और 'असंगति' में स्पष्ट भेद है। अन्ततः 'विरोध' अलङ्कार के सिवा शुद्ध-विरोध का अंश तो विरोध-मूलक 'विभावना' आदि सभी अलङ्कारों में मिला ही रहता है। किन्तु 'असंगति' के विषय को छोड़ कर अन्यत्र विरोध के आभास में 'विरोधाभास' अलङ्कार माना जाता है। क्योंकि अपवाद विषय को छोड़ कर उत्सर्ग की (सामान्य की) अन्यत्र स्थिति हुआ करती है।

कविप्रिया में असंगति को व्यधिकरणोक्ति नाम से लिखा है। प्राचीन ग्रन्थों में असंगति का यही एक भेद है। कुवलयानन्द में इसके और भी दो भेद लिखे हैं—

द्वितीय असङ्गति

अन्यत्र कर्त्तव्य कार्य को अन्यत्र किये जाने को द्वितीय असङ्गति अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् जो कार्य जिस उचित स्थान पर करने के योग्य हो उसे वहाँ न किया जाकर दूसरे स्थान पर किया जाना।

---

* एक बात के कहनेसे उस प्रकार की सारी बातों का बोध कराया जाय उसे उपलक्षण समझना चाहिये।

नृप ! तुव अरि-रमनीन के चरित विचित्र लखाहिं,
नयनन ढिंग कंकन लगे तिलक लगे कर माँहि* ।४३७

तिलक माथे पर लगाया जाता है और कङ्कण हाथ में धारण किया जाता है, यहाँ कंकण को नेत्रों पर और तिलक को हाथ पर लगाना कहा है।

"सांझ समै आजु नन्दजू के नव मन्दिर में,
सजनी ! प्रकास लख्यो कौतुक रसाल मैं।
रगमगे अंबर संवारि अंग भावती ने,
प्रेम सरसायो मनि भूषन विसाल मैं।
'सोमनाथ' मोहन सुजान दरसाने त्योंही,
रीझि अलबेली उरझानी और हाल मैं।
मोरवारी बेसरि लै श्रवन सुजान चारु,
साजे पुनि भूलि कै करन फूल भाल मैं"॥४३८॥

यहाँ नासिका के भूषण बेसर का श्रवण पर और कर्ण फूल का ललाट में धारण करना कहा है जो उचित स्थान से अन्यत्र है।

तृतीय असङ्गति

जिस कार्य को करने को प्रवृत्त हो उसके विरुद्ध कार्य किये जाने को तृतीय असङ्गति अलङ्कार कहते हैं।

मोह मिटावन हेत प्रभु ! लीन्हों तुम अवतार,
उलटो मोहन रूप धरि मोहीं सब ब्रज-नार ॥४३९॥

---

* कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि तेरे शत्रुओं की रमणियों के पति मर जाने पर वे रमणियाँ रुदन करती हुई आँसू पोंछती हैं, तब हाथ के कङ्कण नेत्र के समीप हो जाते हैं और सौभाग्य चिन्ह-तिलक पोंछती हैं जब वह तिलक हाथ पर लग जाता है।

यहाँ, विश्व का मोह (अज्ञान) मिटाने के लिए अवतार लेने वाले श्री कृष्ण द्वारा मोह मिटाने रूप कार्य के विरुद्ध व्रजाङ्गनाओं को मोहित किया जाना कहा गया है।

"काज महा रितुराज बली के यहैं बनि आवतु है लखते ही,
जात कह्यो न कहा कहिए 'रघुनाथ' कहैं रसना इक एही,
साल रसाल तमालहि आदि दै जेतिक वृच्छलता बन जे ही,
नौ दल कीबे कों कीन्हों विचार पै कै पतझार दिए पहले ही ॥४४०॥

नवीन पत्रोत्पन्न करने को आए हुए वसन्त द्वारा पतझाड़ किया जाना विरुद्ध कार्य है।

असङ्गति के इस भेद का भाषाभूषण में—

"और काज आरंभिये औरैं करिये दौर।"

यह लक्षण लिखा है। किन्तु असङ्गति के इस भेद में आरम्भ किये गए कार्य से विरुद्ध कार्य किया जाता है, यह बात इस लक्षण द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकती है।

असङ्गति के इस भेद का रामचन्द्रभूषण में और तदनुसार भारतीभूषण में—

"वेद विधान विजै वर हेत बड़ी विधि सों द्विजदेव निहोर्‍यो,
औचक वानर को दल आय हुतासन-कुण्ड को बारि सों बोर्‍यो,
क्रोध भर्‍यो 'लछिराम' तहीं जहीं सामुहे मंगल को घट फोर्‍यो,
रावन श्री-मख-साधन छोड़ि बली लै गदा हनुमान पै दोर्‍यो।४४१

यह उदाहरण दिया है किन्तु लक्षण के अनुसार इसमें अभीष्ट कार्य के विरुद्ध कार्य नहीं है। यदि रावण द्वारा स्वयं अपने यज्ञ का विध्वंस किया जाना कहा जाता तो असङ्गति अलङ्कार हो सकता था। वानरों द्वारा यज्ञ विध्वंस किये जाने पर क्रोधावेश से रावण का हनुमानजी पर दौड़ना वास्तविक वर्णन है। अतः यहाँ असङ्गति अलङ्कार नहीं है।

पण्डितराज का कहना है कि कुवलयानन्द में मानी हुई दूसरी और तीसरी असङ्गति में विरोधालङ्कार है न कि असङ्गति। क्योंकि इनके उदाहरण—'नृप तव……' में माथे पर लगाने के तिलक और हाथ के भूषण कङ्कण का और 'मोह मिटावन हेत……' में मोह मिटाने और मोह उत्पन्न करने का वैयधिकरण्य प्रसिद्ध है अर्थात् पृथक् पृथक् स्थान पर होने वालों का एक अधिकरण में वर्णन है अतः विरोधाभास है।

(४०) विषम अलङ्कार

विषम का अर्थ है सम न होना अर्थात् विषम घटना का वर्णन। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम विषम

परस्पर में वैधर्म्य वाली वस्तुओं का सम्बन्ध अयोग्य* सूचन किये जाने को प्रथम विषम अलङ्कार कहते हैं।

"कल कंचन सों वह रंग कहाँ औ कहाँ यह मेघन सों तन कारो?
कहँ कौलकली विकसी वह होय कहां तुम सोइ रहो गर डारो?
नित 'दास जू' ल्यावहि ल्याव कहौ कछु आपनो वाको न बीच विचारो
वह कोमल गौरी किसोरी कहां औ कहां गिरिधारन पानि तिहारो"।

यहाँ गोपांगना के गौर तथा कोमल अंग और श्रीकृष्ण के श्याम एवं कर्कश अंग परस्पर विरुद्ध-धर्म वाले हैं, उनका सम्बन्ध यहाँ 'कहाँ-कहाँ' शब्दों द्वारा अयोग्य सूचन कहा गया है।

---

* यथायोग्य न होना अर्थात् श्लाघनीय सम्बन्ध का अभाव होना।

"पथ्थ* धनुवान कौन ? मेरे धनुवान कौन ?
पथ्थ-तौन† मेरे तौन कौन ? क्यों न तोलै तू।
पथ्थ बरदान‡ कौन ? मोर साप-हान§ कौन ?
पथ्थ-जान§ मोर-जान कौन ? कित डोलै तू।
मित्रता पै वज्र परयो, किधौं चित्त प्रेत चरयो
कै विष भरयो है हिय छद्म¶ क्यों न खोलै तू।
हा हा झूठी हा ! हा !! बोलै प्रौढ़ा लौं हजार बेर°
हा हा एक बेर सांची आहा क्यों न बोलै तू" ॥४४३॥

भारत युद्ध में अपने सारथी राजा शल्य के कटु वाक्य सुनकर उसके प्रति कर्ण की इस उक्ति में अर्जुन के गाण्डीव धनुष, अक्षय तूणीर आदि दिव्य सामग्री का और अपने धनुष और तूणीर आदि साधारण सामग्री का सम्बन्ध 'कौन-कौन' पदों द्वारा अनमिल सूचन किया गया है।

"ऊधोजू ! सुधो विचार है धौं जु कछू समुझैं हमहू ब्रजवासी,
मानि हैं जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भखी यह बात प्रकासी,
जोग कहां मुनि लोगन जोग कहां अबला मति है चपला सी,
स्याम कहां अभिराम सरूप कुरूप कहां वह कूबरी दासी?"४४४

यहाँ श्रीकृष्ण और कुब्जा का सम्बन्ध अयोग्य सूचन किया है।

उर्दू काव्य में भी इस अलङ्कार का प्रयोग मिलता है—

"कहाँ तू और कहाँ उस परी का वस्ल 'नजीर',
मियां तू छोड़ ये बातें दिवानापन की सी" ॥४४५॥

---

* पथ्थ—पार्थ अर्थात् अर्जुन। † तूणीर जिसमें बाण रक्खे रहते हैं। ‡ अर्जुन को मिले हुए वरदान। § कर्ण को परशुरामजी आदि के दिये हुये शाप। § रथ। ¶ कपट। ° पति-संगम में जैसे प्रौढ़ा नायिका बारंबार झूठी रति कूजित करती है।

यहाँ 'वस्त्र' और 'तू' का 'कहाँ कहाँ' शब्दों द्वारा अयोग्य सम्बन्ध कहा गया है।

द्वितीय विषम

कर्त्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न होकर जहाँ अनर्थ की प्राप्ति होती है वहाँ द्वितीय विषम अलङ्कार होता है।

"प्रिय-हठ रोकन कामिनी चितई बंक-दृगंत,
चाबुक सो लगि कंत के प्रेरक भयो अतंत" ॥४४६॥

यहाँ कटाक्ष पात द्वारा नायक का हठ (आग्रह) रुक जाने के अपने इष्ट की नायिका को अप्राप्ति ही नहीं किन्तु हठ की अधिकता हो जाने के अनिष्ट की प्राप्ति भी है।

"आई भुजमूल दिये सुघर सहेलिनि पै,
बाग में अजानि जानि प्रान कछू बहरैं।
कहै 'रतनाकर' पै और हू विषाद बढ्यो,
याद परै सुखद सँजोग की दुपहरैं।
धीरज जरयो औ जिय-ज्वाल अधिकानी लखि—
नीरज-निकेत स्वेत-नीर भरी लहरैं।
दंद भई दुसह दुचंद भई दीतल कौं,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं" ॥४४७॥

यहाँ बाग में आकर वियोगिनी को चित्त बहलाने रूप इष्ट की प्राप्ति न होकर वहाँ के उद्दीपन-विभावों द्वारा प्रत्युत सन्ताप होने रूप अनिष्ट प्राप्ति है।

भारतीभूषण में विषम के इस भेद का—

"बिथरयो जावक सौंति-पग निरख हँसी गहि गांस,
स-लज हँसौ ही लखि लियौ आधी हँसी उसास" ॥४४८॥

यह उदाहरण देकर लिखा है "सपत्नि के पैर का फैला हुआ जावक देखकर नायिका को केवल सौत के फूहड़ सिद्ध होने के इष्ट की अप्राप्ति ही नहीं हुई प्रत्युत अपने नायक से सपत्नि का प्रेम ज्ञात होने का अनिष्ट भी प्राप्त हुआ।" किन्तु इस विषम में कर्ता को ही इष्ट की अप्राप्ति पूर्वक अनिष्ट की प्राप्ति होती है पर यहाँ सपत्नि के जावक लगाने की क्रिया की नायिका कर्ता नहीं—दर्शक है, कर्ता तो स्वयं सपत्नि है, जिसे न इष्ट की अप्राप्ति है और न अनिष्ट की प्राप्ति है। अतः ऐसे उदाहरण 'विषम' के नहीं हो सकते।

"जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गई,
न चितौनि चलाइ सकी उनही की चितौनि के भाय अघाय गई,
वृषभानलली की दसा यह 'दासजू' देत ठगौरी ठगाय गई,
बरसाने गई दधि बेचन को तहँ आपुही आपु बिकाइ गई"॥४४९॥

यहाँ श्रीकृष्ण को मोहने के कार्य का विनाश होकर स्वयं मोहित हो जाने के अनिष्ट की प्राप्ति है।

उर्दू काव्य में भी इस अलङ्कार का प्रयोग देखा जाता है—

"समझकर रहमे दिल तुमको दिया था हमने दिल अपना,
मगर तुम तो बला निकले गजब निकले सितम निकले"॥४५०॥

यहाँ प्रेमपात्र होने के लिये हृदय देने पर प्रेम प्राप्त न होकर प्रत्युत दुःख प्राप्त होना कहा गया है।

केवल इष्ट की अप्राप्ति में भी पण्डितराज ने यह अलङ्कार माना है जैसे—

लोक-कलंक मिटाने को मृग-अंक यहां नभ से आकर,
तेरा विमल वदन हुआ था निष्कलङ्कता दिखला कर,

मृग-मद-तिलक-रेख मिस फिर भी कल्पित होने लगा वही,
निज आश्रित को सदा कलङ्कित करती हैं प्रमदा सचही*॥४५१

यहाँ चन्द्रमा को अपना कलङ्क दूर करने की अप्राप्ति है। इसमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार मिश्रित है—चौथे चरण में पहिले तीन चरणों के वाक्यार्थ का समर्थन किया गया है।

इष्ट की प्राप्ति पूर्वक अनिष्ट की प्राप्ति में भी यही अलङ्कार होता है। जैसे—

मद-मीलित-दृग द्विरद ने विष-तरु† कीन्ह खुजाल,
खुजली-सुख तें हू अधिक बढ़ी जलन ततकाल ॥४५२॥

खुजली करना चाहने वाले हाथी को विष-वृक्ष से खुजली के सुख रूप इष्ट की प्राप्ति होने पर भी विष-वृक्ष के स्पर्श से उसके अंग में जलन उत्पन्न होजाने के कारण अनिष्ट की प्राप्ति भी है।

"रहै उघारे मूंड बारहू तापर नांही,
तप्यो जेठ की घाम बील की पकरी छांहीं,
तहां बील-फल एक सीस पै परयो सु आकै,
फूटि गयो सु कपाल पीर बाढ़ी तन ताकै।
सुख-ठौर जानि विरम्यो सु वह तहां इते दुख कों सहत,
निरभाग पुरुष जित जात तित बैर विपल अगनित लहत"॥४५३

यहाँ ग्रीष्म-ताप-सन्तापित गंजे व्यक्ति को बेल-वृक्ष की छाया में जाकर छाया सुख की प्राप्ति होने पर भी वहाँ बेल के फल के गिरने से मस्तक फूट जाने का अनिष्ट प्राप्त होना कहा गया है।

---

* चन्द्रमा अपना कलङ्क मिटाने के लिए पृथ्वी पर आकर कामिनी का मुख हुआ था पर यहाँ भी कस्तूरी के बिन्दु के तिलक—चिह्न के बहाने से कलङ्क बना ही रहा। † जिसके छू जाने से शरीर में जलन हो जाती है ऐसे कौंच आदि के वृक्ष।

तृतीय विषम

कारण के गुण-क्रियाओं से कार्य के गुण-क्रियाएँ क्रमशः विरुद्ध वर्णन करने को विषम का तीसरा भेद कहते हैं।

गुण-विरोध—

अन्तर्निर्मल मिष्ट शीतल सदा सु-स्वादु गम्भीर भी,
पाती है गुण की कहीं न समता श्रीजाह्नवी-नीर की।
है वो यद्यपि श्वेत, दूर करता मालिन्य भी सर्वथा,
देता है पर कृष्ण-रूप उसकी है ये अनोखी प्रथा ॥४५४॥

श्री गङ्गा के निर्मल और श्वेत रंग के जल के स्नान और पान के द्वारा श्याम रूप हो जाना (श्लेषार्थ श्रीकृष्ण-रूप प्राप्त हो जाना) विरुद्ध है।

क्रिया-विरोध—

प्रान-प्रिये ! तू निकट में आनँद देत अपार,
पर तेरे ही विरह की ताप करत तन छार ॥४५५॥

यहाँ नायिका कारण है, आनन्द देना उसकी क्रिया है, उसके द्वारा तापदान की क्रिया का विरोध है—जो सुख देता है उसके द्वारा दुःख दिया जाना विपरीत है।

असङ्गति अलङ्कार में कार्य-कारण का वैयधिकरण्य होता है। और विरोध अलङ्कार में वैयधिकरण्य वालों का एकाधिकरण होता है और (विषम के इस तीसरे भेद) में कार्य कारण के विजातीय गुण और क्रिया का योग चमत्कारक होता है।

—:※:—

(४१) सम अलङ्कार

'सम' का अर्थ यथायोग्य है। यह अलङ्कार 'विषम' के विपरीत है। इसके तीन भेद होते हैं—

प्रथम सम

यथायोग्य सम्बन्ध वर्णन किये जाने को 'सम' अलङ्कार कहते हैं।

यथायोग्य सम्बन्ध कहीं उत्तम पदार्थों का और कहीं निकृष्ट पदार्थों का होता है अतः यह दो प्रकार का होता है—

(१) 'सद्योग में' अर्थात् उत्तमों का श्लाघनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

(२) 'असद्योग में' अर्थात् असद् वस्तुओं का निन्दनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

सद्योग में—

भागीरथी ! बिगरी गति मैं अरु तू बिगरी गति की है सुधारक,
रोगी हौं मैं भव-भोगी डर्यो अरु याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक,
मैं तृषना अति व्याकुल हौं तू सुधा-रस-आकुल ताप-निवारक,
मैं जननी ! सरनागत हौं अरु तू करुनारत है जगतारक ॥४५६॥

'मैं बिगरी गति' और 'तू बिगरी गति की सुधारक' इत्यादि यहाँ श्लाघनीय योग्य सम्बन्ध वर्णन किये गये हैं।

श्री रूपा मिथिलेशनंदिनी श्याम राम नारायण रूप,
योग रमा से रमा-रमण का दर्शनीय है यह अनुरूप,
है सुवर्ण में सौरभ का यह मणि-कांचन का मिला सुयोग,
तृषित सुधा-सर पाके प्रमुदित कहने लगे यही सब लोग ॥४५७॥

यहाँ श्री राम और जानकी जी का योग्य सम्बन्ध श्लाघनीय कहा गया है।

असद्योग में—

उचित हि है बानर-सभा आसन मृदु तरु-साख,
नख-रद-छत आतिथ वहां करत चिकार सुभाय ॥४५८॥

बानरों की सभा में वृक्षों की शाखाओं के आसन और दाँत तथा नखों के क्षतों (घावों) का आतिथ्य आदि उसके अनुरूप ही कहे गये हैं। यहाँ असत् योग है।

द्वितीय सम

कारण के अनुरूप कार्य वर्णन किये जाने को द्वितीय सम अलङ्कार कहते हैं।

यह तीसरे 'विषम' अलङ्कार के विपरीत है। वहाँ कारण के प्रतिकूल और यहाँ कारण के अनुकूल कार्य वर्णन किया जाता है।

बडवानल, विष, व्याल सँग रह्यो जो जलनिधि मांहि,
अबलन कों दुख देत ससि यामें अचरज काहि ॥४५६॥

यहाँ बाडवाग्नि आदि के संग में रहने वाले चन्द्रमा द्वारा सन्ताप करने रूप कार्य उसके अनुरूप कहा है।

तृतीय सम

बिना अनिष्ट के कार्य की सिद्धि होने के वर्णन को तृतीय सम अलङ्कार कहते हैं।

यह द्वितीय विषम अलङ्कार के विपरीत है। इसमें कार्य की सिद्धि मात्र का वर्णन होता है और जहाँ उत्कट इष्ट की प्राप्ति होती है वहाँ प्रहर्षण अलङ्कार होता है।

जल बसि नलिनी तप कियो ताको फल वह पाय,
तो पद ह्वै या जनम में सु-गति लही इत आय*॥४६०॥

यहाँ सुगति (उत्तम लोक प्राप्त होने की गति) मिलने के लिये तप करने के उद्यम से कमलिनी को सु-गति रूप कार्य की प्राप्ति कथन की गई है। यहाँ श्लेष मिश्रित 'सम' है—'सुगति' द्व्यर्थक शब्द है।

कहीं अनिष्ट प्राप्ति में भी श्लेष के चमत्कार से 'सम' होता है—

आयो वारन लैन तू भलो सुयोग विचार,
आवत ही वारन मिल्यो कवि ! तोको नृप-द्वार ॥४६१॥

हाथी मागने की इच्छा से आये हुए किसी कवि के प्रति उक्ति है कि तू वारण (हाथी) मांगने को अच्छे मुहूर्त में आया जो तुझे राजा के द्वार पर ही वारण (निवारण—अन्दर जाने से रोक देना) मिल गया। यद्यपि श्लेष द्वारा निवारण रूप अनिष्ट की प्राप्ति है, पर राजद्वार पर क्षण भर के लिये निवारण किया जाना विषम की भाँति उत्कट अनिष्ट नहीं अतः कुवलयानन्द में यहाँ 'सम' माना है।

(४२) विचित्र अलङ्कार

इच्छा के विपरीत प्रयत्न किये जाने के वर्णन को विचित्र अलङ्कार कहते हैं।

विचित्र का अर्थ है अद्भुत, विस्मय अर्थात् आश्चर्य। विचित्र अलङ्कार में इच्छा के विपरीत प्रयत्न रूप अद्भुतता वर्णन की जाती है।

---

* हे प्रिये, सत्य है कि तप से सुगति मिलती है। कमलिनी ने सुगति प्राप्त करने के लिये जल में रह कर सूर्य की सेवा की थी उस तप के फल से उस (कमलिनी) ने इस जन्म में तुम्हारे चरण रूप होकर सुगति (गमन करने की सुन्दरता) प्राप्त की है।

सुख के अभिलाषित होकर किन्तु निरन्तर दुःख बड़े सहते,
अति इच्छुक उन्नति के फिर भी वह नम्र सदैव बने रहते।
तन-त्राण-समुत्सुक वे, न कभी निज-प्राण-विसर्जन में डरते,
जन सेवक ये निज-इप्सित से सब कार्य विरुद्ध किया करते।

सुख की प्राप्ति के लिये दुःख सहन करना, उन्नत होने के लिये नम्र होना और जीवन-रक्षा के लिये प्राण त्याग करना ये सब इच्छा के विपरीत प्रयत्न कहे गये हैं।

"नमत ऊँचाई काज लाज ही बढाय जिय,
गुरुता के हेत निज लघुता करत हैं।
सुख ही के काज सब सहैं दुख द्वंदन कों,
सत्रुन के जीतिबे कों सांति ही धरतु हैं।
कहै कवि 'निरमल' जो हैं संत बड़भागी,
बातैं कोऊ आन अरौ तासों ना अरतु हैं।
धन पाइबे के हेत धन ही को त्याग करैं,
मान पाइबे के हेत मान ना भरत हैं"॥४६३॥

यहाँ सन्त जनों के लघुता आदि कार्य गुरुता आदि की इच्छाओं के विपरीत है।

"तीरथ न करैं नेम ब्रत कों न धरैं एकौं,
भूलेहूं न परै काहू संगम के संग में।
रात में न जागैं ध्यान ज्योति को न पागैं कहूं,
कैसेहू न लागैं कहैं कोऊ काहू ढंग में।
वेद को न भेद अवगाहती हैं 'रघुनाथ'
निपुन भयो न चाहती हैं जोग अंग में।
करिबे कों उज्वल सुधा सो अभिराम देखो,
मन ब्रजबाम रँगती हैं स्याम रंग में"॥४६४॥

यहाँ उज्वल होने के लिये श्याम रंग (श्लेषार्थ श्रीकृष्ण) में रँगना विपरीत प्रयत्न कहा गया है।

"क्यों न सुर-सरितकों सुमिरि दरसि परसि सुख लेतु,
जाके तट में मरत नर अमर* होन के हेतु" ॥४६५॥

अमर होने रूप इष्ट की इच्छा से 'मरना' विपरीत प्रयत्न है। विषम अलङ्कार के तीसरे भेद में कारण से कार्य के गुण या क्रिया विरुद्ध होते हैं और यहाँ इष्ट-सिद्धि के लिये विपरीत प्रयत्न है।

——:o:——

(४३) अधिक अलङ्कार

बड़े आधेय† और आधारों‡ की अपेक्षा वस्तुतः छोटे भी आधार और आधेय क्रमशः बड़े वर्णन किये जाने को अधिक अलङ्कार कहते हैं।

अधिक का अर्थ स्पष्ट है। अधिक अलङ्कार लक्षण के अनुसार आधाराधेय की अधिकता पर निर्भर है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) आधेय की अपेक्षा वस्तुतः आधार छोटा होने पर भी (आधार की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय।

(२) आधार की अपेक्षा वस्तुतः आधेय छोटा होने पर भी (आधेय की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय।

प्रथम प्रकार—

यह लोक चतुर्दश आदि सभी जिसके प्रतिलोम अवस्थित हैं,
तब क्या गणना भुवि मंडल की यह अल्प विभाग बना मित है,

---

* देवता। † जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु में रक्खी जाती है, उसको आधेय कहते हैं। ‡ जिसमें कोई दूसरी वस्तु रक्खी जाती है, उसको आधार कहते हैं।

विधि शेष सुरेश महेश अहो! जिसकी महिमा-वश मोहित हैं,
उसको निज अंक लिये सुखसे जननी निज-मंदिर शोभित हैं।४६६॥

श्रीकृष्ण आधेय और यशोदाजी आधार हैं। जिनके प्रत्येक रोम में अनेक ब्रह्माण्ड स्थित हैं ऐसे श्रीकृष्ण की अपेक्षा यशोदाजी की गोद वस्तुतः छोटी होने पर भी 'सुख से' और 'प्रमोदित' पदों द्वारा यहाँ बड़ी वर्णन की है।

सिव-प्रचंड-कोदंड कों तानत प्रभु भुजदंड,
भयो खंड वह चंड-रव नहिँ मायो ब्रह्मंड ॥४६७॥

यहाँ बड़े आधार-ब्रह्माण्ड की अपेक्षा आधेय-धनुष-भंग का शब्द वस्तुतः न्यून होने पर भी 'नहि मायो' पद द्वारा बड़ा कथन किया गया है।

"भूमि करयो अंबर,* दिगंबर† तिलक भाल,
विप्र उपवीत करयो यज्ञ के हवन में।
'माथुर' कहत सुरनाथ सुर भोग करयो,
वाहन बनायो विधि‡ आपने गवन में।
विश्व को सिँगार भयो सुखमा अपार धारि,
द्यौस निसि बाढ़ै तऊ छवि की छवन में।
बूँदीनाथ प्रबल प्रतापी रघुवीरसिंह!
तेरो जस मावत न चौदहू भवन में" ॥४६८॥

यहाँ बूँदी-नरेश का यश वस्तुतः चौदह भुवनों की अपेक्षा न्यून होने पर भी बड़ा कहा गया है।

जहाँ आधार और आधेय की कवि-प्रतिभा कल्पित न्यूनाधिकता वर्णन होती है वहाँ अलङ्कार होता है, वस्तुतः न्यूनाधिकता के वर्णन में अलङ्कार नहीं होता है।

---

* वस्त्र। † श्रीशिव। ‡ ब्रह्मा ने।

काव्यादर्श में दण्डी ने इस अलङ्कार को अतिशयोक्ति के अन्तर्गत लिखा है।

(४४) अल्प अलङ्कार

छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किये जाने को अल्प अलङ्कार कहते हैं।

अल्प का अर्थ स्पष्ट है। अल्प अलङ्कार में लक्षण के अनुसार आधाराधेय की अल्पता वर्णन की जाती है।

"सुनहु स्याम व्रज में जगी दसम दसा की जोति,
जहँ मुँदरी अंगुरीन की कर में ढीली होति" ॥४६६॥

यहाँ आधेय मुँदरी (अँगूठी) की अपेक्षा आधार-हाथ वस्तुतः बड़ा होने पर भी 'ढीली होत' पद से छोटा कहा गया है।

"ग्वाल हेत सात दिन धारयो एक कर ही पै,
गिरि गिरिराज ताके कैसें अब श्रम आत।
विश्वभार उदर दिखायो मुख द्वार करि,
निरखे जसोदा कीन्हीं चौंकीसी चकीसी मात।
धारयो ब्रह्म अंडज अनेक रोम-कूप जल,
दीसै जगदीस अब यहैं फैल की-सी बात।
उछरि-उछरि आत गैंद जिमि तो मैं लगि,
मेरो मन अणू आपहू तैं सो न धीरयो जात" ॥४७०॥

यहाँ मन-आधेय की अपेक्षा भगवान् का रूप बड़ा होने पर भी 'आपहूतैं सो न धीरयो जात' इस वाक्य द्वारा छोटा कहा गया है।

कुवलयानन्द में 'अल्प' को स्वतंत्र अलङ्कार लिखा है, अन्य ग्रन्थों में इसको अधिक अलङ्कार के अन्तर्गत माना है।

(४५) अन्योन्य अलङ्कार

एक ही क्रिया द्वारा दो वस्तुओं को परस्पर कारणता होने के वर्णन को 'अन्योन्य' अलङ्कार कहते हैं।

अन्योन्य का अर्थ है परस्पर। अन्योन्य अलङ्कार में दो वस्तुओं को परस्पर एक जाति की क्रियाओं का उत्पादक कहा जाता है।

राजमरालन सों कल ताल* रु तालसों राजमराल† सुहावै,
चंद की चाँदनी सों निसिहू निसि सों छवि चंद की चाँदनी पावै,
राजन सों कविराज बढ़ैं, जस-राजन को कविराज बढ़ावैं,
धरनीतल में लखि लेहु प्रतच्छ परस्पर ये सुखमा बिलसावैं।।४७१

यहाँ राजमराल और ताल आदि को परस्पर में शोभा करने आदि एक जाति की क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं।

छीदी अँगुरिन पथिक ज्यों पीवन लाग्यो वारि,
प्रपापालिका‡ हू करी त्यों-त्यों पतरी धारि।।४७२।।

यहाँ पथिक और प्रपापालिका को परस्पर में साभिलाष निरीक्षण रूप उपकारात्मक एक क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं।

"चंचल चारु सलोनी तिया इक राधिका के ढिंग आइ अजानी,
दै कर कागद एक कह्यो बस रीझिबो मोल है याको सयानी!
चित्त तें दीठि चितेरिनि ओर चितेरिनि तें पुनि चित्र में आनी,
चित्र समेत चितेरिनि मोल लै आपु चितेरिनि-हाथ बिकानी"४७३

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की छद्म-लीला का वर्णन है। चतुर्थ चरण में परस्पर में क्रय-विक्रय रूप एक जाति की क्रियाओं का वर्णन है।

भारतीभूषण में अन्योन्य अलङ्कार के—परस्पर में कारणता, परस्पर उपकार और परस्पर समान व्यवहार में—तीन भेद कहकर

---

* सरोवर। † हंस। ‡ प्याऊ पिलाने वाली।

पृथक्-पृथक् लक्षण लिखे हैं। पर प्राचीनों के निर्दिष्ट—'एक जाति की क्रियाओं का परस्पर में उत्पादक होना' इस लक्षण में सब का समावेश हो जाता है। अतः उपकारात्मक क्रियाओं का होना और समान व्यवहारात्मक क्रियाओं का होना उदाहरणान्तर मात्र है, नकि पृथक्-पृथक् भेद।

—:❀:—

(४६) विशेष अलङ्कार

विशेष का अर्थ है अ-सामान्य—असाधारण अर्थात् विलक्षण। विशेष अलङ्कार में आधार के बिना आधेय की स्थिति होना इत्यादि विलक्षण वर्णन किया जाता है इसके तीन भेद हैं—

प्रथम विशेष

प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति वर्णन किये जाने को प्रथम विशेष अलङ्कार कहते हैं।

वंदनीय किहिंके नहीं वे कविन्द मतिमान,
स्वरग गये हू स्थित यहाँ जिनकी गिरा महान ॥४७४॥

यहाँ कवि रूप आधार के बिना ही उनकी वाणी (काव्यात्मक-सूक्ति) रूप आधेय की स्थिति कही गई है।

"सूरवीर दाता सुकवि सेतु करावन हार,
बिना देह हू 'दास' ये जीवतु इहिँ संसार"॥४७५॥

यहाँ शूरवीर आदिकों की देह के विना संसार में स्थिति कही गई है।

"जब क्षितिज के गर्भ में छिप भास्कर-प्रतिभा गई,
तब प्रतीची व्योम में, आकर अरुणिमा छा गई।

देखकर उसकी प्रभा को यों उठी जी में तरंग,
छोड़ जाते हैं बड़े जन अंत यश अपना अभंग"॥४७६॥

यहाँ सूर्य-आधार के बिना अरुणिमा रूपी यश-आधेय की स्थिति कही है। उर्दू काव्य में भी यह अलङ्कार मिलता है—

"हम आप जल बुझे मगर इस दिल की आग को,
सीने में हमने 'जौक' न पाया बुझा हुआ"॥४७७॥

यहाँ स्वयं जल जाने पर भी—आधार के अभाव में भी सीने में (हृदय में) अग्नि की स्थिति कही है।

द्वितीय विशेष

किसी वस्तु की एक ही स्वभाव से एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थिति के वर्णन को द्वितीय विशेष अलङ्कार कहते हैं।

कवि-वचनों में और रमणियों के नयनों में,
जनकनंदिनी-हृदय प्रेम-पूरित लहरों में,
रघुनन्दन स्थित हुए साथ ही एक समय में
करके शिव-धनु-भंग उसी क्षण रंगालय में॥४७८॥

धनुष-भङ्ग के समय श्रीरघुनाथजी की एक ही रूप से और एक ही काल में कवि-वचन आदि अनेक स्थानों पर स्थिति वर्णन की गई है।

विशेषालङ्कार के इस भेद का 'भाषाभूषण' में लिखा हुआ—

"वस्तु एक को कीजिए बरणन ठौर अनेक।"

यह लक्षण और 'ललितललाम' में मतिरामजी का लिखा हुआ—

"जहाँ अनेक थल में कछू बात बखानत एक।"

यह लक्षण, दोनों ही पर्याय अलङ्कार में मिल जाते हैं—पर्याय में भी एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति कही जाती है। किन्तु 'पर्याय' और 'विशेष' में यह भेद है कि पर्याय में एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति क्रमशः—एक के बाद दूसरे में कही जाती है और विशेष में एक ही काल में। अतः विशेष के लक्षण में—एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति एक ही काल में होने का उल्लेख करना आवश्यक है।

'रसिक मोहन' में दिए गये द्वितीय 'विशेष' के—

"जातिहौं जो जमुना में अन्हान तो है जमुना ही में मो सँग लागे,
आवति हौं घर कों 'रघुनाथ' तो आवतु है घर में बने वागे,
जो मुख मूँदि के सोइ रहौं तो वे सोवतु हैं मन में सुखपागे,
खोलिके आँखि जो देखौं सखी! तो वे ठाड़े हैं आइके आँखिन आगे"

इस उदाहरण में विशेष अलङ्कार नहीं है क्योंकि इसमें यमुना-स्नान और घर आदि में पृथक्-पृथक् काल में नायक की स्थिति वर्णन की गई है न कि एक काल में।

और देखिये—

"कूलन में केलिन कछारन में कुञ्जन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै 'पदमाकर' परागहू में पौनहू में,
पातन में पिकन पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
वीथिनमें ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरयो बसंत है" ॥४८०॥

यहाँ एक काल में वसन्त की अनेक आधारों में स्थिति का वर्णन मानकर कुछ विद्वान् इस पद्य में द्वितीय 'विशेष' अलङ्कार बतलाते हैं।

किन्तु विशेष अलङ्कार वहीं होता है जहाँ एक काल में एक ही स्वभाव से किसी आधेय की अनेक आधारों में स्थिति वर्णन की जाती है। कहा है–

"एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा।"

—काव्यप्रकाश

"एकस्य वस्तुनः युगपत् एककाले या एकात्मा एक आत्मा स्वभावो यस्यां सा अनेकगोचरा अनेकविषयावृत्तिर्वर्तनं स्थितिः स द्वितीयो विशेषः।"

—वामनाचार्य व्याख्या

किन्तु इस वर्णन में एक ही स्वभाव से वसन्त की अनेक आधारों में स्थिति नहीं—'बागन में' 'परागहू में' और 'पौनहू में' इत्यादि में सौरभ की विलक्षणता के कारण, एवं 'पातन में' आदि में नवीन अङ्कुरोत्पादन के कारण, तथा 'नवेलिन में' कामोद्दीपकता के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाव द्वारा वसन्त की स्थिति का वर्णन है। अतः यहाँ शुद्ध विशेष अलङ्कार भी नहीं कहा जा सकता।

तृतीय विशेष

किसी कार्य को करते हुए कोई दूसरा अशक्य कार्य भी किये जाने के वर्णन को तृतीय विशेष अलङ्कार कहते हैं।

सुकृत कर्म श्रुति-विहित सभी शुभ, रहे न उसको करने शेष,
त्रिभुवन-श्रिय-वैभव भी उसने अपने वश कर लिये अशेष,
भोग-विलास देव-दुर्लभ भी भोग लिये आनंद समेत,
किया तुम्हारा अर्चन कुछ भी जिसने, शंकर! कृपानिकेत!४८१

यहाँ आशुतोष भगवान् शंकर के किञ्चित अर्चन रूप कार्य करने वाले कर्ता द्वारा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति रूप अशक्य कार्य किया जाना कहा गया है।

"उर प्रेम की जोति जगाय रही गति कों बिनु यास घुमाय रही,
रस की बरषा बरसाय रही हिय-पाहन को पिघलाय रही,
हरियाले बनाय के सूखे हिये उतसाह की पैंगें झुलाय रही,
इकराग अलाप के भाव भरी खट-राग-प्रभाव दिखाय रही" ।४८२

किसी कामिनी द्वारा एक रागिनी का गान करते हुए, 'दीपक' राग से दीपक जलाना, 'भैरव' से कोल्हू घुमाना, 'मेघ' से वर्षा को बरसाना, 'मालकोश' से पाषाण को पिघलाना, 'श्री' से सूखे वृक्षों को हरा करना और हिंडोल से झूले की पैंज बढ़ाना, इन छहों रागनियों के प्रभाव का दिखलाना—अशक्य कार्य किया जाना—कहा गया है।

गृहिनी सचिव रु प्रिय सखी थी मम-जीवन हाय,
तुहि छीनत विधिने अहो! का नहिं लियो छिनाय ॥४८३॥

इन्दुमति के संहार करने रूप एक ही यत्न से विधाता द्वारा राजा अज के सभी सुखों के नाश करने रूप अशक्य कार्यों का किया जाना कहा गया है। यह संहार का उदाहरण है।

कुवलयानंद में तृतीय विशेष का—

"कलपवृक्ष देख्यो सही तोकों देखत नैन।"

यह (जिसका अनुवाद है, वह संस्कृत पद्य) उदाहरण दिया है, किन्तु पण्डितराज के मतानुसार इसमें वाक्यार्थ-निदर्शना है—न कि विशेष। क्योंकि इसमें 'तुमको दृष्टि पथ करना' इस वाक्य द्वारा 'कलप-वृक्ष के दर्शन के समान है' इस उपमा की कल्पना की जाती है।

'कविप्रिया' में विशेष अलङ्कार का—

"साधक कारन विकल जहँ होय साध्य की सिद्धि।"

यह लक्षण लिखा है। अर्थात् विकल (अपूर्ण) कारण द्वारा कार्य की सिद्धि में विशेष अलङ्कार लिखा है। पर यह तो द्वितीय विभावना का लक्षण है, नकि 'विशेष' का।

——:※:——

(४७) व्याघात अलङ्कार

जिस उपाय से किसी व्यक्ति द्वारा कुछ कार्य सिद्ध किया जाय, उसी उपाय से (उसी प्रकार के उपाय से) दूसरे किसी व्यक्ति द्वारा वह कार्य अन्यथा (विपरीत) किये जाने को 'व्याघात' अलङ्कार कहते हैं।

'व्याघात' में 'वि' और 'आघात' दो अंश हैं। 'वि' का अर्थ है विशेष और आघात का अर्थ है प्रहार या धक्का। अर्थात् विशेष प्रकार का प्रहार! व्याघात अलङ्कार में अन्य व्यक्ति द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को अन्य द्वारा प्रहार करके अन्यथा किया जाता है। कहा है— 'साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वात् व्याघातः'—काव्यप्रकाश वृत्ति।

दीन जनन को कहि वचन दुर्जन जग दुख देत,
तिनही सों हरषित करहिं सज्जन कृपानिकेत ॥४८४॥

दुष्टों द्वारा जिस वचन कहने रूप उपाय से दीन जनों को दुःख देने का कार्य किया जाता है, उसी वचन रूप उपाय से सज्जनों द्वारा वह दुःख-रूप कार्य अन्यथा किया जाना अर्थात् सुख दिया जाना कहा गया है।

"जो पिय जानतु हो हमको अबला तो हमें कबहू मति छोड़ो।"

बन को जाते हुए श्रीरघुनाथजी ने बन को न चलने और घर पर

रहने के लिये जानकीजी की, स्वाभाविक सुकुमारता और भीरुता आदि सूचक 'अबला' होने रूप जो कारण कहा था उसी 'अबला' होने रूप कारण को प्रत्युत जानकीजी ने साथ ले चलने का कारण सिद्ध किया है।

"नाम धरो सिगरो ब्रज, को अब कौनसी बात को सोच रहा है,
त्यों 'हरिचंदजू' और हू लोगन मान्यो बुरो अरी ! सोऊ सहा है,
होनी हुती सोतो होय चुकी इन बातन में अब लाभ कहा है,
लागे कलंकहु अंक लगै नहिं तो सखि! भूल हमारी महा है"४८५

सखी ने नायिका को जिस कलङ्क लगने के कारण नायक के अङ्क न लगने के लिए कहा है, नायिका ने उसी कलङ्क लगने के कारण नायक के अङ्क लगने की पुष्टि की है।

इस प्रकार के उदाहरणों को अलङ्कारसर्वस्व आदि में व्याघात का दूसरा भेद माना है, पर इन दोनों उदाहरणों में साधित वस्तु का व्याहनन (नाश) है, इसीलिये काव्यप्रकाश में दो भेद न मानकर एक ही भेद माना है।

काव्यप्रकाश में व्याघात का—

काम को दृग-भंगि से था दग्ध शंकर ने किया,
कर रहीं दृग-भंगि से ही जोकि जीवित हैं उसे,
रमणियों को लोग कहते हैं अतः हर-विजयिनी,
किन्तु हमतो मानते हैं कल्पना कवि की इसे॥४८६॥

यह उदाहरण है इसमें श्रीशंकर द्वारा जिस दृष्टि-पात से कामदेव को दग्ध करने का कार्य किया गया, उसी दृष्टि-पात से कामिनियों द्वारा कामदेव को जीवित (उत्तेजित) किया जाना कहा गया है।

इस उदाहरण में अलङ्कारसर्वस्वकार व्यतिरेक मूलक व्याघात बतलाता है। क्योंकि जिसप्रकार व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ श्रीशंकर की अपेक्षा

कामिनियों का उत्कर्ष कहा गया है जो कि 'हर विजयिनी' के प्रयोग द्वारा भी स्पष्ट है। पण्डितराज इसमें व्यतिरेक अलङ्कार ही मानते हैं न कि व्याघात। किन्तु यह पण्डितराज का दुराग्रह मात्र है। क्योंकि व्यतिरेक में उपमेय का केवल उत्कर्ष मात्र कथन किया जाता है और यहाँ 'दृगभंगि' रूप एक ही उपाय द्वारा विरुद्ध कार्य सिद्ध किया गया है। अतः यह विशेष चमत्कार व्याघात का विषय होने के कारण हमारे विचार में यहाँ अवश्य ही व्याघात की स्थिति है।

(४८) कारणमाला अलङ्कार

पूर्व पूर्व कहे हुए पदार्थ, जहाँ उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के कारण कहे जाते हैं, वहाँ कारणमाला अलङ्कार होता है।

कारणमाला अर्थात् कारणों की माला। यहाँ उत्तरोत्तर कथित अनेक पदार्थों के—माला की भांति—शृंखलाबद्ध पूर्व पूर्व कथित अनेक पदार्थ कारण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त मालादीपक में भी उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के पूर्व पूर्व कथित पदार्थ कारण भाव से कहे जाते हैं, पर वहाँ उन सब का एक क्रिया में अन्वय होता है, यहाँ एक क्रिया में अन्वय नहीं होता है।

विषयान के ध्यावन सों तिनमें रति ह्वै अभिलाष बढ़ावतु है,
अभिलाष न पूरन होय तबै चित क्रोध घनो भरि आवतु है,
नर क्रोधित ह्वै पुनि मोहित ह्वै स्मृति कों भ्रम हू उपजावतु है,
स्मृति भ्रष्ट भये मति नष्ट बनै मति-नष्ट भये विनसावतु है ॥४८७॥

यहाँ पहिले कहा हुआ विषयों का ध्यान उसके पश्चात् कहे हुए विषयों की अभिलाषा का कारण कहा गया है। फिर 'अभिलाषा का पूर्ण न होना' क्रोध का कारण कहा गया है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर

कथित पदार्थों के यहाँ पूर्व पूर्व कथित पदार्थ कारण कहे गये हैं, अतः कारणों की माला है।

जहाँ पूर्व पूर्व कथित पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण कहे जाते हैं वहाँ भी कारणमाला होता है। जैसे—

"मूल करनी को धरनी पै नर-देह लैबो,
देहन को मूल एक पालन सु नीको है।
देह पालिबे को मूल भोजन सु पूरन है,
भोजन को मूल होनो बरषा घनी को है।
'ग्वाल' कवि मूल बरषा को है जजन जप,
जजन जु मूल वेद-भेद बहु नीको है।
वेदन को मूल ज्ञान, ज्ञान मूल तत्त्वो त्यों,
तत्त्व को मूल नाम भानु-नंदिनी को है" ॥४८८॥

यहाँ 'नर-देह लैबो' आदि जो उत्तरोत्तर कथित है वे पूर्व पूर्व कथित करनी आदि के कारण कहे गये हैं।

(४६) एकावली अलङ्कार

पूर्व पूर्व में कही हुई वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर कथित वस्तु विशेषण भाव से स्थापन अथवा निषेध की जाने को 'एकावली' अलङ्कार कहते हैं।

'एकावली' एक लड़ वाले हार को कहते हैं। हार में पहिले वाले मोती के साथ उसके बाद का मोती स्थापित किया जाता है—गूँथा जाता है। उसी प्रकार इस अलङ्कार में पूर्व कथित पदार्थ के साथ उत्तर कथित पदार्थ का स्थापन किया जाता है।

विशेषण-भाव से स्थापन—

सुमति वही निज-हित लखै हित वह जित उपकार,
उपकृति वह जहँ साधुता साधुन हरि-आधार ॥४८९॥

यहाँ पूर्व कथित 'सुमति' का इसके उत्तर-कथित 'निज हित लखै' विशेषण है। फिर 'हित' का 'उपकार' विशेषण है, इस प्रकार उत्तरोत्तर कथित वस्तु का विशेषण भाव से स्थापन किया गया है।

विशेषण-भाव से निषेध—

"सोहत सो न सभा जहँ वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नांहीं,
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न दिखे जिन मांहीं,
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही,
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसै छल छाँहीं" ४९०

यहाँ सभा आदि के उत्तरोत्तर कथित वृद्धादिक विशेषण हैं, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषण भाव से निषेध किया गया है।

भारतीभूषण में एकावली का—

"सोहत सर्वसहा सिव सैल तें सैलहु कामलतान उमंग तें,
कामलता विलसै जगदंब तें अंबहु संकर के अरधंग तें,
संकर अंगहु उत्तम अङ्ग तें उत्तम अङ्गहु चन्द प्रसंग तें,
चन्द जटान के जूटन राजत जूट-जटान के गंग-तरंग तें" ४९१

यह उदाहरण दिया है। इसमें एकावली नहीं किन्तु कारणमाला अलङ्कार है। क्योंकि शिव-शैल आदि उत्तरोत्तर कथित पदार्थ सर्वसहा (पृथ्वी) आदि पूर्व-कथित पदार्थों की 'सोहत' आदि क्रियाओं के कारण कहे गये हैं, न कि विशेषण। कारणमाला और एकावली में यही तो अन्तर है। स्वयं ग्रन्थकार ने सार अलङ्कार के प्रकरण में अपने भारतीभूषण में लिखा है— "पूर्वोक्त 'कारणमाला' 'एकावली' और 'सार' में शृङ्खला-विधान तो समान

होता है, किन्तु 'कारणमाला' में कार्य-कारण का, 'एकावली' में विशेष्य विशेषण का और यहां (सार में) उत्कर्ष का सम्बन्ध होता है।"

—:*:—

(५०) सार अथवा उदार अलङ्कार

पूर्व पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का धारा प्रवाह रूप से अन्त तक अधिकाधिक उत्कर्ष वर्णन करने को सार अलङ्कार कहते हैं।

'सार' का अर्थ है उत्कर्ष। सार अलङ्कार में स्वरूप, धर्म इत्यादि अनेक प्रकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया जाता है।

सारोत्कर्ष—

जग में जीवन सार है तासों संपति सार,
संपति सों गुन सार है गुन सों पर उपकार ॥४६२॥

यहां जीवन आदि से उत्तरोत्तर वस्तु का 'सार' पद द्वारा उत्कर्ष कहा गया है।

धर्मोत्कर्ष—

"सिला कठोरी काठ ते ताते लोह कठोर,
ताहू ते कीन्हों कठिन मन तुम नंदकिसोर!" ॥४६३॥

यहां 'कठोर' धर्म द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उत्कर्ष कहा गया है।

स्वरूपोत्कर्ष—

उन्नत अति गिरि गिरिन सों हरि-पद है विख्यातु,
ताहू सों ऊँचो घनो संत-हृदय दरसातु ॥४६४॥

यहां गिरि आदि के उत्तरोत्तर कही हुई वस्तु का स्वरूपोत्कर्ष है।

केवल श्लाघ्य पदार्थों के उत्कर्ष में नहीं किन्तु अश्लाघ्य पदार्थों के उत्कर्ष में भी अर्थात् उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी 'सार' अलङ्कार माना गया है जैसे—

"तृन ते तूल रु तूल ते हरवो जाचक जान,
मांगन सकुच न पौन हू जाहि लियो सँग ठान"*॥४६५॥

और—

"रहिमन वे नर मर चुके जे कहुं मांगन जांय,
उनते पहिले वे मरे जिन मुख निकसत नांय" ॥४६६॥

यहाँ उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णन है।

ऊपर के सब उदाहरण अनेक वस्तुओं के उत्तरोत्तर उत्कर्ष या अपकर्ष के हैं। 'सार' अलङ्कार एक ही वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष में भी होता है। एक वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष में अवस्था-भेद रहता है—अवस्था-भेद के बिना कोई भी वस्तु स्वयं अपनी अपेक्षा न्यूनाधिक नहीं हो सकती—

सैसव† हरि भजि भक्ति अरु लीन्ह तात सों मान,
तरुनाई पितु-राज्य पुनि ध्रुव-पद लिय अवसान‡॥४६७॥

यहाँ ध्रुवजी का पूर्व पूर्व अवस्था की अपेक्षा उत्तरोत्तर अवस्था में उत्कर्ष कहा गया है। इस उदाहरण में यद्यपि ध्रुवजी रूप एक आधार में अनेक अवस्था रूप अनेक आधेयों की स्थिति होने के कारण पर्याय अलङ्कार की स्थिति भी है, किन्तु पर्याय की स्थिति होने पर भी इसमें

---

* तृण से रुई हलकी है—तुच्छ है—और रुई से भी याचक हलका है—तुच्छ है। क्योंकि तृण और रुई को तो पवन उड़ा कर अपने साथ ले जाता है पर याचक को पवन भी अपने साथ नहीं लेता इसलिए कि कहीं यह मुझ से कुछ याचना न कर ले। † बाल्यावस्था। ‡ अन्त काल में।

उत्तरोत्तर उत्कर्ष का चमत्कार प्रधान है, अतएव सार अलङ्कार माना गया है* ।

—:※:—

(५१) यथासंख्य अलङ्कार

क्रमशः कहे हुए अर्थों का जहाँ क्रमशः अन्वय (यथाक्रम सम्बन्ध) होता है वहाँ 'यथासंख्य' अलङ्कार होता है ।

इसको 'क्रम' अलङ्कार भी कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है—

(१) शाब्द । अर्थात् समास न होकर क्रमशः अन्वय होना ।

(२) आर्थ । अर्थात् समास में क्रमशः अन्वय होना ।

शाब्द यथासंख्य—

यौवन-वय सों संकित ह्वै सरमाय,
सील-सौर्य-बल-दुति सों अति ललचाय ,
रामहिं लखि सिय-लोचन-नलिन सुहाहिँ,
सकुचत बिकसत छिन छिन धनु-मख माहिँ †॥४६८॥

यहाँ प्रथम पाद का चौथे पाद के 'सकुचत' के साथ और दूसरे पाद का चौथे पाद के 'विकसत' के साथ क्रमशः अन्वय है अर्थात् यथाक्रम सम्बन्ध है ।

आर्थ यथासंख्य—

वृन्दा पितृ वन विचरैं,
कुसुमायुध-जनन हनन शक्ति-धरैं ,

---

* देखिए रसगङ्गाधर 'सार' प्रकरण ।

† स्वयम्बर के समय जानकीजी के नेत्र श्रीरघुनाथजी की यौवन अवस्था को देखकर संकुचित और उनके शौर्यादि गुणों को देखकर विकसित हुए ।

अरि शूल धारण करैं,
हरि हर मेरे सब दुख हरैं ॥४९९॥

यहाँ वृन्दावन, कुसुमायुध-जनन* और अरि† इन तीनों का 'श्रीहरि' के साथ और पितृ-वन‡, कुसुमायुध-हनन$ और शूल इन तीनों का श्रीहर के साथ क्रमशः समास में अन्वय है।

"चख-सर-छत अदभुत जतन बधिक-वैद निज-ह्थ्थ,
उर, उरोज, भुज, अधर-रस, सेक पिंड पट पथ्थ"§॥५००॥

यहाँ 'उर' आदिक चारों का सम्बन्ध क्रमशः 'सेक' आदिक चारों के साथ है।

———:*:———

(५२) पर्याय अलङ्कार

एक वस्तु की क्रमशः अनेकों में स्वतः स्थिति हो अथवा दूसरे द्वारा की जाय उसे पर्याय अलङ्कार कहते हैं।

पर्याय का अर्थ है अनुक्रम—'पर्यायोऽवसरेक्रमे।'—अमरकोश। पर्याय अलङ्कार में एक वस्तु की अर्थात् एक ही आधेय की क्रमशः अर्थात् काल-भेद से—एक के पीछे दूसरे में (न कि एक ही साथ)—अनेक आधारों में स्वतः स्थिति होती है अथवा किसी दूसरे द्वारा की जाती है। विशेष अलङ्कार से पृथकता करने के लिये यहाँ 'क्रमशः' कहा गया है, क्योंकि 'विशेष' में एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थिति होती है।

---

* प्रद्युम्न को उत्पन्न करने वाले श्रीकृष्ण। † सुदर्शनचक्र। ‡ श्मशान। $ कामदेव को मारने वाले श्रीमहादेव। § कटाक्ष रूपी बाण के घाव का उपचार वधिक (मारने वाली—नायिका) के ही आधीन है। उस घाव के लिये उसीके उर, उरोज, भुजा और अधर-रस क्रमशः सेक, पुलटिस, पट्टी और पथ्य हैं।

'ललितललाम' में मतिरामजी का कहा हुआ पर्याय का—

"कै अनेक हैं एक में कै अनेक में एक,
रहत जहाँ पर्याय सो हैं पर्याय विवेक"॥५०१॥

यह लक्षण द्वितीय विशेष अलङ्कार के लक्षण में मिल जाता है। क्योंकि इस लक्षण में—एक में अनेक की स्थिति का क्रमशः होना नहीं कहा गया है, जोकि पर्याय में विशेषता है।

स्वतः सिद्ध अनेक आधार—

हालाहल! तुहि नित नये किन सिखये ये ऐन,
हिय-अम्बुधि हर-गर लग्यो बसत अबैं खल-बैन ॥५०२॥

यहाँ एक ही हालाहल (विष) के समुद्र का हृदय, श्रीशिवजी का कण्ठ और दुर्जनों के वचन रूप अनेक आधार क्रमशः कहे गये हैं और ये आधार स्वतः सिद्ध हैं।

अन्य द्वारा अनेक आधार—

सब भुवि रह्यो हिमंत अरु तरुअन छांह वसंत,
अब ग्रीषम या सीत को कीन्ह चहतु है अंत ॥५०३॥

यहाँ एक ही शीत के हेमन्त में सारी भूमि और वसन्त में वृक्षों की छाया रूप दो स्थान कहे गये हैं और वे ऋतुओं द्वारा किये गए हैं अतः अन्य द्वारा है। यहाँ शीत का संकोच वर्णन है अतः संकोच पर्याय है।

"मेष वृष मिथुन तचायन के त्रासन तें
सीतलाई सद तहखानन में ढली है।
तजि तहखाने गई सर, सर तजि कंज,
कंज तजि चंदन कपूर पूर मिली है।
'ग्वाल' कवि ह्वांते चंद में ह्वै चांदनी में गई,
चांदनी तें चलि सोरा जल मांहि रली है।

सोरा-जल हू तें धसी ओरा फिर ओरा तजि
बोराबोर है करि हिमाचल में गली है" ॥५०४॥

यहाँ शीतलता के तहखाने आदि अनेक आश्रय मेख, वृप आदि संक्रांतियों द्वारा किये गये हैं।

पर्याय अलङ्कार वहीं होता है जहाँ एक आधार का सम्बन्ध नष्ट होकर दूसरे आधार में स्थिति होती है। अतः—

बिंबाधर ही में प्रथम राग जु रह्यो सुहाय,
अब तेरे हिय मांहि हू मृगलोचनि! दरसाय ॥५०५॥

इसमें एक ही काल में राग की स्थिति अधर और हृदय में कहीं जाने के कारण यह पर्याय अलङ्कार का शुद्ध उदाहरण नहीं माना जा सकता। जिसका यह अनुवाद है वह संस्कृत पद्य यद्यपि काव्यप्रकाश में पर्याय के उदाहरण में लिखा गया है और इसके समाधान में टीकाकारों ने इसमें यह क्रम बतलाया है कि 'पहिले एक अधर में ही राग था अब हृदय में भी है'। पर आचार्य मम्मट ने भी इस उदाहरण को सन्तोष-प्रद न समझ कर दूसरा उदाहरण लिखा है।

द्वितीय पर्याय

अनेक वस्तुओं की एक आधार में क्रमशः स्वतः स्थिति हो अथवा दूसरे किसी द्वारा की जाय, उसे द्वितीय पर्याय अलङ्कार कहते हैं।

यहाँ 'क्रमशः' पद से द्वितीय समुच्चय अलङ्कार से पृथक्ता बताई गई है क्योंकि द्वितीय समुच्चय में अनेक वस्तुओं की एक आधार में स्थिति एक ही काल में कही जाती है न कि क्रमशः।

अमृत भरे दरसैं प्रथम मधुर लखन के बैन,
दुखकारक पीछै बनै अंतर विष दुख-ऐन ॥५०६॥

यहाँ अमृत और विष दोनों वस्तु खल के वचन रूप एक ही आधार में कही गई है, यह स्वतः सिद्ध आधार है।

अन्य द्वारा—

वो नैसर्ग-मयी सु-दृश्य तटका जो पूर्व-कालीन था,
आता सम्प्रति है न दृष्टि-पथ सो है शेष उसकी कथा,
घाटों की अवली बनी अब घनी शोभा-मयी है वहां,
भक्तों की करतीं तथापि वह हैं प्राकट्य भक्ती महा॥५०७

यहाँ हरिद्वार के गङ्गा-तट रूपी एक ही आधार में पूर्व-कालीन और साम्प्रतिक दृश्य दो आधेय कहे गये हैं। और यह साम्प्रतिक दृश्य भक्त-जनों द्वारा किया गया है, अतः अन्य द्वारा है।

"कवच की ठाहर पै कंचुकी कसी है देखु,
तलत्रान* ठाहर पै चूरिन को वृंद है।
कृपा-कोप-पुंज के निवास दोऊ नैनन में,
कजरा भरानो ऐसो महा सोक फंद है।
सिरत्रान† तहां सीस-फूल दोनों हाथन ते,
गांडीव की घोष‡ ना मृदंगन के छंद है।
कौन देस कौन काल कौन दुख कापै कहूँ,
कैसे निद्रा लगै मोहि कौनसो अनंद है" ॥५०८॥

पाण्डवों के अज्ञात-वास के समय भीमसेन के प्रति सैरंध्री के वेश में द्रौपदी द्वारा यह अर्जुन की शोचनीय दशा का वर्णन है। कवच और

---

* धनुष की प्रत्यञ्चा के घात से बचाने के लिये गोह के चमड़े का बना हुआ एक प्रकार का हस्त-बन्धन। † माथे को ढकने का शूरवीरों का टोप। ‡ गाण्डीव धनुष का शब्द।

कंचुकी, तलत्रान और चूड़ी इत्यादि का क्रमशः एक आधार में होना कहा गया है। यह कौरवों से लक्ष्य हो जाने के भय से अर्जुन द्वारा ऐसा किया गया है, अतः अन्य द्वारा है।

'परिवृत्ति' अलङ्कार में एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उससे दूसरी वस्तु ली जाती है, यहाँ यह बात नहीं है।

(५३) परिवृत्ति अलङ्कार

पदार्थों का सम और असम के साथ विनिमय होने के वर्णन को 'परिवृत्ति' अलङ्कार कहते हैं।

परिवृत्ति का अर्थ है परिवर्तन अर्थात् विनिमय करना। एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उसके पास से दूसरी वस्तु ली जाती है उसे विनिमय कहते हैं। परिवृत्ति दो प्रकार की होती है। सम और विषम—

१—'सम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु लिया जाना।

२—'विषम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर उत्तम गुणवाली लिया जाना।

सम परिवृत्ति उत्तम विनिमय—

दर्शनीय अति रम्य मनोहर है कलिंदतनया का तीर,
कल्लोलित है विमल तरंगित मंदमंद श्यामल शुचि नीर,
लतिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर मधुर ले रहा जहाँ पर सुमन-गंध उनका गंभीर।५०६

यहाँ जमुना-तट के वायु द्वारा लताओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर उनसे पुष्पों की मधुर-गन्ध लेना कहा गया है। यहाँ दोनों उत्तम वस्तुओं का विनिमय है।

सम परिवृत्ति न्यून विनिमय—

श्री शंकर की सेवा में रत भक्त अनेक दिखाते हैं,
किन्तु वस्तुतः उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं,
अस्थि-माल-मय अपने तन को अर्पण वे कर देते हैं,
मुंड-मालमय-तन उनसे बस परिवर्तन में लेते हैं॥५१०॥

यहाँ अस्थि-माला वाला शरीर (मनुष्य देह) शिवजी को देकर उनसे मुण्ड-माला वाला शरीर (शिव रूप) लेना कहा गया है। हाड़ों की माला और नर-मुण्डों की माला दोनों न्यून गुण वाली वस्तुओं का विनिमय है। यह व्याजस्तुति मिश्रित परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति उत्तम के साथ न्यून का विनिमय—

"कासों कहिये आपनो यह अयान जदुराय!
मन-मानिक दीन्हों तुमहिं लीन्हीं विरह-बलाय" ॥५११॥

यहाँ मन-माणिक्य रूप उत्तम वस्तु देकर विरह रूप न्यून गुण वाली वस्तु ली गई है, अतः विषम परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति न्यून के साथ उत्तम का विनिमय—

यद्यपि तिर्यक् जाति हीन भी था जटायु वह गीध, तथापि—
हुआ स्वर्ग-गत प्रभु के सन्मुख शोचनीय वह नहीं कदापि,
जिसने जीर्ण-शीर्ण अपना वह राम-कार्य में देकर देह,
लिया चंद्र सम उज्वल यश है धन्य धन्य यह निस्संदेह।५१२

जटायु द्वारा न्यून गुण वाला अपना जीर्ण शरीर श्रीरघुनाथजी के कार्य में अर्पण करके उत्तम गुण वाला निर्मल यश लिया जाना विषम परिवृत्ति है।

"चामीकर-कोप* सस्त्र-वस्त्रन के कोप और-
रत्नन के कोप एक एकते नवीने हैं।
देस देस संभव तुरंग रंग रंग के जे,
पती है विहंग संग प्रेरक अधीने हैं।
और हू अनेक राज-वैभव स-राष्ट्र जेते,
काज-धृतराष्ट्र कर्न सत्रुन ते छीने हैं।
महाबली अर्जुन को अग्रज† विपनकार,‡
गदा के प्रहार एक देस-भार लीने हैं"॥५१३॥

यहाँ भीमसेन द्वारा दुर्योधन को एक गदा का प्रहार रूप न्यून गुण वाली वस्तु देकर उसका सारा राज्य-वैभव रूप उत्तम वस्तु लिया जाना कहा गया है।

"°तोर-पिता, तोर, तोर-पुत्र तोर-पौत्र-मुख—
निज कर धोये ताहि रुधिर धुवायौ तैं।
चंद सु खिलौना देहु रोय रोय मांग्यो तिन्हें,
ज्यों-त्यों तुष्ट कीन्हें सोक-अंसुन रुवायौ तैं।

---

*सुवर्ण के खजाने। †अर्जुन का बड़ा भाई भीमसेन। ‡व्यापारी।
° तेरे पिता का, तेरा, तेरे पुत्र और पौत्रों के मुख जिसने अपने हाथ से धोये थे, उसका मुख तूने रुधिर से धुलवाया है। तुम लोगों द्वारा बाल्यावस्था में चन्द्र खिलौना माँगने पर जिसने तुमको प्रेम से तुष्ट किये थे उसको तूने शोक के अश्रुओं से रुलाया है। तुम लोगों की अनीति पर जिसने स्वप्न में भी क्रोध नहीं किया था उसको तूने नर—अर्जुन के बाणों का निशाना बना दिया है और जिसने तुम लोगों को प्रेम-पूर्वक अपने हृदय पर सुलाया था, उस भीष्म को तूने रण-भूमि की बाण-शय्या पर सुला दिया है।

जिनकी अनीति जान स्वप्न हू में क्रोध आन,
पान न छुवायौ, नर-वानन छुवायौ तैं।
जानै हित-जोर उर-सेज पै सुवायौ भूप!
ताकौं हित-तोर सर-सेज पै सुवायौ तैं"॥५१४॥

भारत-युद्ध में भीष्मजी के पतन पर धृतराष्ट्र के प्रति यह संजय की उक्ति है। भीष्मजी द्वारा प्राप्त अनेक सुखों के बदले में धृतराष्ट्र द्वारा उनको अनेक दुःख दिये जाने का वर्णन है। इस पद्य में लेना और देना शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा गया है, व्यंग्यार्थ से ध्वनित होता है, अतः परिवृत्ति की ध्वनि है।

उर्दू कवियों ने भी इस अलङ्कार का प्रयोग किया है—

"दिल लेके मुफ्त, कहते हैं कुछ काम का नहीं।
उलटी शिकायतें हुईं एहसान तो गया"॥५०८॥

यहाँ हृदय लेकर उरहना देना कहा गया है।

परिवृत्ति अलङ्कार में कवि-कल्पित विनिमय होता है। जहाँ वास्तविक विनिमय होता है, वहाँ अलङ्कार नहीं होता। जैसे—

लेवतु हैं जहँ बालिका मुक्ताफल, दे बेर।

यहाँ अलङ्कार नहीं।

और दूसरे के साथ विनिमय होता है वहीं परिवृत्ति अलङ्कार होता है जहाँ अपनी ही वस्तु का त्याग और ग्रहण होता है, वहाँ भी परिवृत्ति अलङ्कार नहीं होता। जैसे—

मोतिन के वर भूषन तू नव जोबन में तजि कै किहिं कारन,
कोमल गातन माँहि किये यह वृद्धन जोग जु वल्कल धारन,
सोभित है जु प्रदोष समै छवि-चन्दकला अति ही मिलि तारन,
क्यों रमनीय लगै रजनी, रमनी! अरुनोदय है जु अकारन॥५१६॥

तप करती हुई पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी के वेष में गये हुए श्री शङ्कर की उक्ति है। यहाँ पार्वती द्वारा अपने ही आभूषणों का त्याग और

वल्कल वस्त्रों का ग्रहण है। इसमें दूसरे के साथ विनिमय न होने के कारण परिवृत्ति अलङ्कार नहीं, किन्तु पर्याय अलङ्कार है। क्योंकि पार्वती रूप एक आधार में भूषण और वल्कल दोनों की स्थिति कही गई है।*

देवजी ने अपने भाव विलास में परिवृत्ति अलङ्कार का—

"केवली समूढ़ लाज ढूढ़त ढिठाई पैये,
चातुरी अगूढ़ गूढ़ मूढ़ता के खोज हैं।
सोभा सील भरति अरति निकरत सब,
मुहिचले खेल पुरि चले चित्त चोज हैं।
हीन होति कटि तट पीन होति जघन,
सघन सोच लोचन ज्यों नाचत सरोज हैं।
जाति लरिकाई तरुनाई तन आवतु है,
बढ़त मनोज 'देव' उठत उरोज हैं" ॥५१७॥

यह उदाहरण दिया है। यहां भी दूसरे के साथ विनिमय नहीं अतः परिवृत्ति नहीं।†

और देखिये।

"अति सूधो सनेह को मारग है जहां नैंक सयान को बाँक नहीं,
तहां साचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जो निसांक नहीं,
'घनआनद' प्यारे सुजान सुनौ इत एक ही दूसर आँक नहीं,
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला! मन लेत हो देत छटाँक नहीं" ५१८

यहाँ मन (चित्त अथवा श्लेपार्थ—तोल में एक मन—मणभर) लेकर बदले में छटांक भी न देना कहा है। परिवृत्ति में कुछ लेकर बदले में

---

* देखिये रसगङ्गाधर परिवृत्ति प्रकरण। और काव्यप्रकाश उद्योत व्याख्या पृ० ५२५

† रसगङ्गाधर में कहा है—'पूर्वावस्थात्यागपूर्वकउत्तरावस्थाग्रहणस्य वास्तविकत्वेनानलङ्कारत्वात्'।

कुछ दिया जाता है। यहाँ उसके विपरीत है अतः ऐसे वर्णनों में 'अपरि-वृत्ति' अलङ्कार माना जा सकता है। यद्यपि 'अपरिवृत्ति' पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया है। परन्तु इस अपरिवृत्ति में चमत्कार होने के कारण अलङ्कार मानना उचित अवश्य है।

---
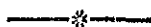
(५४) परिसंख्या अलङ्कार

जहाँ प्रश्न पूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिए हो वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।

परिसंख्या का अर्थ अन्यत्र वर्जन (निषेध) है। परिसंख्या अलङ्कार में अन्य प्रमाणों से जानी हुई जो बात प्रश्न के पश्चात् या बिना ही प्रश्न कही जाती है, वह—दूसरा कुछ प्रयोजन न होने के कारण उसी के समान किसी दूसरी बात के निषेध के लिए कही जाती है। निषेध कहीं तो प्रतीयमान (व्यंग्य) होता है और कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अतः यह चार प्रकार का होता है—

१—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध।

२—प्रश्नपूर्वक वाच्य (शब्द द्वारा) निषेध।

३—प्रश्न रहित प्रतीयमान निषेध।

४—प्रश्न रहित वाच्य निषेध।

प्रश्न-पूर्वक निषेध—

क्या सेव्य ? सदा ? पद युगल नंदनंदन के,
क्या ध्येय ? चरित्र पवित्र कंसकंदन के।

कर्तव्य ? सविधि उपचार जगत-वंदन के,
श्रोतव्य ? चरित श्री सूत-पार्थ-स्यंदन के * ॥५१६॥

'सेव्य क्या है' आदि प्रश्नों के श्री 'नन्दनन्दन' आदि उत्तर दिये गये हैं। ये सब उत्तर अन्य प्रमाणों से सिद्ध है अतः ये उत्तर यहाँ 'विषय भोग सेवन करने के योग्य नहीं हैं' आदि निषेध करने के लिए हैं। यहां विषय भोग आदि का निषेध शब्द द्वारा नहीं किया गया है, अतः निषेध व्यंग्य से ध्वनित होता है।

प्रश्न-पूर्वक वाच्य-निषेध—

है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण,
क्या कार्य ? आर्य-शुभ चरित, नहीं है दूषण,
क्या नेत्र ? विमल-मति, नहीं चक्षु-गोलक यह,
है मित्र कौन ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह ॥५२०॥

'भूषण क्या है ?' आदि प्रश्न हैं। 'यश' आदि उत्तर हैं। ये उत्तर रत्न आदि के बने हुए भूषणों के निषेध के लिये कहे गये हैं। शब्दों द्वारा निषेध किया गया है अतः निषेध वाच्य है।

प्रश्न-रहित व्यंग्य-निषेध —

इतनो ही स्वारथ बड़ो लहि नरतन जग मांहि
भक्ति अनन्य गुविंद-पद लखहि चराचर ताहि ॥५२१॥

दैत्य-बालकों के प्रति प्रह्लादजी के इस उपदेश में श्रीगोविन्द के चरणों में एकान्त-भक्ति होना मनुष्य-जन्म का जो परम स्वार्थ कहा गया है। वह 'विषय भोगादि को मनुष्य-जन्म का स्वार्थ न समझो' इस

---

* पार्थ अर्थात् अर्जुन के स्यन्दन (रथ) के सूत (सारथी) भगवान् श्रीकृष्ण के।

बात के निषेध करने के लिये कहा है। यहाँ शब्द द्वारा 'निषेध' नहीं, अतः व्यंग्य से ध्वनित होता है।

कर्तव्य दीन-जन दुःख-हरण करना ही,
चातुर्य सदा हरि नाम-स्मरण करना ही।
है द्वैत सेव्य का सेवक हो रहना ही,
अद्वैत एक हरि-चरण-शरण गहना ही ॥५२२॥

दीन जनों का दुःख हरण करना मनुष्य के कर्तव्य आदि जो प्रश्न रहित यहाँ कहे गये हैं, वे अन्य कर्तव्य आदि के निषेध के लिये कहे गये हैं। निषेध व्यंग्य से ध्वनित होता है।

सेवा में यदि साभिलाप, करता गोविंद-सेवा न क्यों,
चिंता में यदि है स्पृहा कर सदा श्रीकृष्ण के ध्यान को,
जो तेरी रुचि गान में हरि कथा गाता न क्यों स्वस्थ हो,
सोना तू यदि चाहता, तब न क्यों प्यारे! समाधिस्थ हो॥५२३

यहाँ विषयभोगादि का निषेध व्यंग्य से ध्वनित होता है।

"मन है तो भली थिर ह्वै रहि तू हरि के पद पंकज में गिरि तू,
कवि 'सुन्दर' जो न सुभाव तजै फिरिबो ही चहै तो वहां फिर तू,
मुरली पर मोरपखा पर ह्वै लकुटी पर ह्वै भृकुटी भ्रमि तू,
इन कुंडल लोल कपोलन में घन से तम में घिरि कै रहि तू"॥५२४॥

यहाँ मन को अन्यत्र विषयों में भ्रमण का निषेध व्यंग्य है।

"भरिबो चहै तो सील नैनन भराइ लै रे
ढरिबो चहै तो लोभ ढारि फिर वाको ढपि।
हरिबो चहै तो चित्त हरि लै सुजानन के,
धरिबो चहै तो ध्यान धरि फिर जाको छपि।
'ग्वाल' कवि टरिबो चहै तो टरि क्रूरन तैं
डरिबो चहै तो डरि पर-धन ताको थपि।

लरिबो चहै तो तू लरै न क्यों कुढंगन तैं
तरिबो चहै तो तू दिनेसतनया को जपि" ॥५२५॥

यहाँ नेत्रों में शील आदि का भरना, क्रोध आदि के निषेध के लिये कहा गया है।

परिसंख्या के श्लेष-मिश्रित उदाहरण बड़े मनोरञ्जक होते हैं—

"दंड यतिन कर, भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज,
सबके मन बस सुनिय अस रामचन्द्र के राज" ॥५२६॥

यहाँ 'दंड' और 'भेद' पद श्लिष्ट हैं।

"उदर विदारत* अवनि, स्याम-आनन गुंजाफल†
कला घटन ससिकर्म‡, कटन-घिघटन-विधि कसमल°
सहत लोह संताप ब्रह्मचारी तिय बर्जित,
निहकिंचन संन्यस्त§ नर्म§ होरिन अह अर्जित,
कृपनत्व भूमि-अरि-बस करन□, सर्प वक्रगति अनुहरत,
गो-पय निचोर बच्छहि करत¶ राज्य रामनृप आचरत"

यहाँ भी श्लेष मिश्रित परि संख्या है।

प्रश्न-रहित वाच्य निषेध—

आनंदाश्र बिन घन! जहाँ अन्य अश्रु कहीं न,
संयोगांती-स्मर-रुज बिना ताप है दूसरी न,

---

* उदर (पेट) पृथ्वी का ही हल द्वारा चीरा जाता है, कठोर वाक्यों द्वारा किसी मनुष्य का नहीं। † काला मुख चिरमिठी का ही रहता है, अनुचित कार्य न करने के कारण किसी मनुष्य का नहीं। ‡ कला चन्द्रमा की ही घटती है। ° कटने और घिसने की क्रिया मूर्छा में ही। § निष्कञ्चन अर्थात् धनहीन संन्यासी ही हैं। § नर्म अर्थात् हँसी होली में ही होती है। □ शत्रुओं की भूमि लेने में ही केवल लोभ है। ¶ बछड़ों द्वारा गऊओं के स्तनों को ही निचोड़ा जाता है।

क्रीड़ा ही की कलह तज वे दूर होते कभी न,
है यक्षों के वयस न कभी अन्य तारुण्य-हीन*॥५२८॥

अलका के वर्णन में आनन्द के अश्रुपात आदि कहे गये हैं। शोक आदि के अन्य अश्रुओं का निषेध शब्द द्वारा कहा गया है अतः निषेध-वाच्य है।

भारतीभूषण में परिसंख्या का लक्षण—

'जहाँ किसी वस्तु को उसके योग्य स्थान से हटाकर किसी अन्य स्थान पर स्थापित की जाय वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।' यह लिखा है। किन्तु यह लक्षण 'अपन्हुति' के लक्षण में मिल जाता है। परिसंख्या का यह लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि परिसंख्या में किसी वस्तु को योग्य स्थान से हटाकर अन्यत्र स्थापित नहीं की जाती है, किन्तु प्रमाणान्तर से सिद्ध कथित-वस्तु का अन्यत्र निषेध किया जाता है।

—:※:—

(५५) विकल्प अलङ्कार

तुल्य बल वाली परस्पर विरोधी वस्तुओं की जहाँ एक ही काल में एकत्र स्थिति में विरोध होता है वहाँ विकल्प अलङ्कार होता है।

---

* अलका में यक्षों के केवल आनन्द-जनित अश्रुपात ही छुटते हैं—किसी दुःख के कारण नहीं, ताप भी उनको केवल काम-जनित होती है, जो अपने प्रेमपात्र के संयोग होने पर दूर हो जाती है—अन्य ताप नहीं, कलह भी वहाँ काम क्रीड़ा में दम्पतियों के ही होता है—अन्य कारण से नहीं, और उनकी अवस्था भी सर्वथा तरुण ही रहती है—वे वृद्ध कभी नहीं होते हैं।

विकल्प का अर्थ है 'यह या वह'। कहा है—'अनेन वान्येनवेति विकल्पः।'—कौटिल्य अर्थशास्त्र। विकल्प अलङ्कार में तुल्य बल वालों की एकत्र स्थिति में विरोध होने के कारण सादृश्य-गर्भित विकल्प कहा जाता है अर्थात् 'यह या वह' इस प्रकार का वर्णन होता है।

"पांडु-व्यूह-वीरन प्रसिद्ध रनधीरन कों,
तीरन विदीरन कै धीरज छुटैहों मैं।
पारथ के सस्त्र औ अस्त्रन अकारथ करि,
सारथि हू तथा रथ हांकन भुलैहों मैं।
कीन्हीं हौं भीषम महाभीषम प्रतिज्ञा ताहि,
गाजि कहौं आजि करि पूरन दिखैहौं मैं।
कै तो हरि-हाथन मैं सस्त्र पकरैहौं आज,
कै लै कबौं पान धनु-बान न उठैहौं मैं॥५२६॥

यहाँ भीष्मजी की प्रतिज्ञा में श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण कराना और धनुष-बाण को फिर कभी न उठाना यह दोनों तुल्य बल हैं। यह दोनों बात एक काल में नहीं हो सकतीं अतः विरोध है। क्योंकि श्रीकृष्ण के शस्त्र धारण कर लेने पर भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग सम्भव नहीं और भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग भी तभी सम्भव है जब श्रीकृष्ण द्वारा शस्त्रों का ग्रहण न किया जाय। इसीलिये यहाँ चतुर्थ चरण में 'कै' के प्रयोग द्वारा विकल्प कहा गया है। भीष्मजी की प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में श्रीकृष्ण का शस्त्र-धारण करना और भीष्मजी का धनुष-बाण न उठाना यह दोनों समान होने के कारण इन दोनों में सादृश्य गर्भित है।

"गमन समय पटुका गह्यो छांड़हु कह्यो सुजान,
प्रान पियारे! प्रथम हौं पटुका तजौं कि प्रान"?॥५३०॥

नायिका द्वारा, पकड़े हुए पति के वस्त्र को त्यागने में और प्राणों के त्यागने में विकल्प है।

"पटकूँ मूँछां पाण, कै पटकूँ निज-तन-करद,
दीजै लिख दीवाण ! इण दो महली बात इक"*॥५२१॥

यहाँ मूँछों पर ताव देना और शरीर पर तलवार देना तुल्यबल हैं—यह दोनों बात एक काल में सम्भव नहीं अतः विकल्प हैं।

"वीर अभिमन्यु ! मन्यु मन में न हूज्यौ मानि,
जानि अब रन को विधान किमि पैहौं मैं।
पायौ पैठि संग हूँ न रंग-भूमि हूँ मैं अब,
जैहे तहां को तब जहां अब सिधैहौं मैं।
कालिह चंद्र-व्यूह पैठिवे के पहिलैं ही तुम्हें,
हाल रन-भूमि को उताल पहुँचैहौं मैं।
कै तो तव विजय जयद्रथ सुनैहे जाय,
कै तो लै पराजय-प्रलाप आप ऐहौं मैं"॥५२२॥

मृत अभिमन्यु के प्रति अर्जुन की इस उक्ति में चतुर्थ पाद में विकल्प अलङ्कार हैं। जहाँ सादृश्य के चमत्कार के बिना केवल विकल्प होता है वहाँ अलङ्कार नहीं होता है। जैसे—

---

* महाराणा प्रताप, अकबर को बादशाह नहीं कहते थे—तुरक कहा करते थे। अकबर को खबर मिली कि महाराणा भी हमको बादशाह कहने लगे हैं। जिस पर बीकानेर के राजा के भाई पृथ्वीराज ने अकबर से कहा कि यह खबर मिथ्या है। इस खबर के सत्यासत्य का निर्णय करने को पृथ्वीराज ने महाराणा को यह दोहा लिखकर भेजा था कि मैं अपनी मूँछों पर पाण दूँ (ताव दूँ) अथवा अपने शरीर पर करद (तलवार) दूँ। इन दोनों में एक बात लिखकर भेजिये। अर्थात् आपने अकबर को बादशाह न कहा हो तो मैं गर्व के साथ अकबर के समक्ष उपस्थित रहूँगा और आपने अकबर को यदि बादशाह कहा हो तो मैं किसी को मूँ न दिखाऊँगा।

"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिंता युक्त मेरा जल रहा सब गात है,
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिये,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये"॥५३३

अपने वध की अर्जुन द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर जयद्रथ ने दुर्योधन के प्रति कहे हुए—'या तो आप मेरी रक्षा कीजिये या अन्यत्र जाने दीजिये' इस वाक्य में केवल विकल्प है—अलङ्कार नहीं।

अलङ्कारआशय और भारतीभूषण में विकल्प अलकार का—

"एती सुवास कहां अनतें बहकी इन भांतिन को वरछै है,
आवत है वह रोज समीर लिये री सुगंधन को जु दलै है,
देखि अली! इन भांतिन की अलि-भीरन और सु कौन नह्वै है,
कै उत फूलन को बन ह्वोइगो, कै उन कुंजन राधिका ह्वै है॥५३४॥

यह उदाहरण दिया है। इसमें भी केवल विकल्प है—अलङ्कार नहीं। विकल्प अलङ्कार वहीं होता है जहां परस्पर विरोधी दो वस्तुओं की एकत्र स्थिति असम्भव होने पर विरोध होता है। इस पद्य में वायु के सुगन्धित करने और भृङ्गावली के होने में राधिकाजी का वहाँ होना या फूलों के बाग का वहाँ होना समान बल मात्र है—इनकी एकत्र स्थिति असम्भव न होने के कारण विरोध नहीं—दोनों के एकत्र होने पर भी वायु का सुगन्धित होना और भृङ्गावली का वहाँ होना सम्भव है।

———:※:———

(५६) समुच्चय अलङ्कार

किसी कार्य के करने के लिए एक साधक होते हुए साधकान्तर (दूसरा साधक) भी कथन हो वहाँ 'समुच्चय अलङ्कार होता है।

समुच्चय का अर्थ है एक साथ इकट्ठा होना। समुच्चय अलङ्कार में किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए एक कर्त्ता के होते हुए दूसरे कर्ता अहमहमिकया अर्थात् परस्पर स्पर्द्धा युक्त होकर उस कार्य को सिद्ध करने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं।

यह पूर्वोक्त विकल्प अलङ्कार के विपरीत है—विकल्प में समान बल वालों की एक ही काल में एकत्र स्थिति का होना असम्भव है और समुच्चय में समान बल वालों की एक काल में एकत्र स्थिति होती है।

यह तीन प्रकार का होता है—

(१) सद्योग, अर्थात् उत्तम-साधकों का योग होना।

(२) असद्योग, अर्थात् असत्-साधकों का योग होना।

(३) सद् असद् योग, अर्थात् सत् और असत् दोनों का योग होना।

सद्योग—

रमारमण के चरण-कमल से जन्म तुम्हारा है रमणीय,
उमारमण के जटा-जूट में है निवास भी आदरणीय,
पतितों के पावन करने का व्यसन एक ही है अ-समान,
भागीरथी! क्यों न तेरा फिर हो त्रिभुवन उत्कर्ष महान॥५२८॥

श्री भगवत्चरण से उत्पत्ति, श्री शिव के मस्तक का निवास और पतित-जनों को उद्धार करने का व्यसन, इनमें एक साधक से भी श्री गङ्गा का उत्कर्ष सिद्ध है, पर यहाँ ये सारे साधक उसी उत्कर्ष के लिए स्पर्धा से इकट्ठे आ पड़े हैं अतः इनका समुच्चय है। यहाँ सब उत्तम साधक हैं।

"तात-वचन पुनि मातु-हित भाइ भरत अस राउ,
मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु! सब मम पुन्य प्रभाउ"॥५२९॥

पिता-दशरथ की आज्ञा, माता कैकई की इच्छा, भरत जैसे भाई को राज्य प्राप्ति और मुनिजनों के दर्शन इन चारों में श्रीरामचन्द्रजी

के बन जाने के लिए एक साधक ही पर्याप्त था जिस पर यहाँ इन चारों का समुच्चय हो गया है।

असद्योग—

कुसुमायुध-बान-कृसानु* बढ़ी मलयानिल† हू धधकाय रह्यो,
ढिग कंत न हंत! वसंत समौ पिक कूक दिगंत सुनाय रह्यो,
फिर हौं सु-कुला नव हौं नवला अबलापन धीर छुटाय रह्यो,
सखि हू न प्रवीन समीप अहो! विरहानल क्यों अब जाय सह्यो

विरहणी को तापकारक होने के कारण यहाँ वसन्त-काल, और नव-यौवन इन सारे असतों का समुच्चय है।

"धन, जोबन, बल, अज्ञता मोह-मूल इक एक,
'दास' मिलैं चारयों जहाँ पैये कहां विवेक" ॥५३८॥

धन और यौवन आदि चारों में एक का होना ही उचित अनुचित के विचार न रहने के लिए पर्याप्त है जिस पर यहां इन चारों असतों का समुच्चय होना कहा गया है।

सद्असद्योग—

दिन को द्युति-मंद सु चंद, सरोवर जो अरविंद विहीन लखावै,
गत जोवन की रमनी अरु जो रमनीय हु ह्वै न प्रवीनता पावै,
धनवान परायन ह्वै धन में जन-सज्जन जाहि दरिद्र दबावै,
खल राज-सभा-गत सातहु ये लखि कंटक लौं हिय में चुभि जावै॥

यहाँ द्युति-मन्द चन्द्र आदि सात कण्टकों का समुच्चय है। एक मत है कि इन सातों में चन्द्र आदि शोभन और मूर्ख आदि अशोभनों का सत्-असत् योग है। किन्तु इस मत के अनुसार चन्द्र आदि का शोभन और मूर्ख आदि अशोभन का योग माना जाय तो सातों कण्टक नहीं कहे जा

---

* कामदेव के वाणों की ज्वाला। † मलय मारुत।

सकते। अतएव दूसरा मत यह है कि चन्द्र आदि स्वयं शोभन हैं और उनमें द्युतिमन्द आदि धर्म अशोभन होने के कारण सातों में प्रत्येक में शोभन और अशोभन का योग है। यही मत उचित है।

समुच्चय के इस भेद में और पूर्वोक्त 'सम' अलङ्कार में यह भिन्नता है कि 'सम' अलङ्कार में अनेक पदार्थों का यथायोग्य सम्बन्ध कहा जाता है। समुच्चय में किसी कार्य के करने के लिए समान-बल वाले अनेक पदार्थों का समुच्चय (इकट्ठा हो जाना) होता है। जैसे 'रमारमण के चरण कमल ·· ······' (सं० ४३५) में लक्ष्मीनाथ के चरण से उत्पत्ति, श्री शिव के जटा-कलाप में निवास और पतितोद्धारक व्यसन इनका श्लाघनीय सम्बन्ध वर्णन करना अभीष्ट नहीं है किन्तु श्री गङ्गाजी के उत्कर्ष करने में तीनों का समुच्चय कथन करना अभीष्ट है।

द्वितीय समुच्चय

गुण या क्रिया अथवा गुण-क्रिया दोनों एक ही काल में वर्णन किये जाने को द्वितीय समुच्चय कहते हैं।

अर्थात् एक से अधिक गुण (निर्मलता आदि) या एक से अधिक क्रियाओं का अथवा गुण और क्रिया दोनों का एक ही काल में एक साथ वर्णन होना।

गुण-समुच्चय—

पावस के आवत भये स्याम-मलिन नभ-थान,
रक्त भये पथिकन हृदय पीत कपोल तियान ॥५४०॥

यहाँ पावस के आगमन समय में—एक ही काल में—श्याम, रक्त आदि गुणों का समुच्चय है।

क्रिया-समुच्चय—

"जब तै कुमर कान्ह ! रावरी कला निधान,
वाके कान परी कछु सुजस कहानी सी ।
तब ही तैं 'देव' देखो देवता सी हँसति सी,
खीजत सी रीझत सी रूसत रिसानी सी ।
छौहीसी छलीसी छीन लीनी सी छकी सी छीन,
जकी सी टकी सी लागी थकी थहरानी सी ।
विधि सी बधी सी विष-बूड़त विमोहत सी
बैठी वह बकत विलोकत विकानी सी"॥५४१

यहाँ रीझत, खीजत आदि अनेक क्रियाओं का समुच्चय है ।

"दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ
गरिगो गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से ।
कहै 'रतनाकर' न आए सुख दैन नैन-
नीर भरि ल्याये भये सकुचि सिहाने से ।
सूखे से स्रमे से सकवक से सके थके
भूले से भ्रमे से भवरे से भकुवाने से ।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये में हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से"॥५४२॥

यहाँ 'सूखे से रहे' 'स्रमे से रहे' इत्यादि क्रियाओं का समुच्चय है ।

यद्यपि कारकदीपक में भी बहुत सी क्रियाओं का कथन होता है । किन्तु कारकदीपक में एक के बाद दूसरी क्रिया क्रमशः होती हैं और समुच्चय में सब क्रियाएँ एक ही साथ होती हैं ।

गुण और क्रिया समुच्चय—

सित पंकज-दल छबि मयी कोप भरे तुव नैन,
सत्रु-दलन पर परतु हैं और कलुप दुख दैन ॥५४३॥

यहाँ 'कलुष' गुण और 'परतु' क्रिया का एक साथ कथन होने से गुण और क्रिया का समुच्चय है।

——*——

(५७) समाधि अलङ्कार

आकस्मिक कारणान्तर के योग से कर्त्ता को कार्य की अनायास सिद्धि होने को समाधि अलङ्कार कहते हैं।

समाधि का अर्थ है सुखपूर्वक किया जाना—'सम्यक् आधिः आधानं (उत्पादनं) समाधिः।'—काव्यप्रकाश बालबोधिनी पृ० ८७२। समाधि अलङ्कार में काकतालीय न्याय* के अनुसार अकस्मात् दूसरे कारण या अन्य कर्ता की सहायता से प्रधान कर्त्ता द्वारा आरम्भ किया गया कार्य सुखपूर्वक—अनायास सिद्ध हो जाना कहा जाता है।

पूर्वोक्त समुच्चय अलङ्कार में एक कर्ता के होते हुए अन्य कर्ता परस्पर स्पर्धा से इकट्ठे हो जाते हैं। और समाधि अलङ्कार में योग्यता प्राप्त एक ही साधक होता है अन्य साधक अचानक सहायक हो जाता है।

आचार्य दण्डी ने और महाराजा भोज ने इसका समाहित नाम लिखा है।

उदाहरण—

मान मिटावन हित लगे विनय करन घनस्याम,
तौलौं चहुँ दिसि उमड़ि के नभ छाये घनस्याम ॥५४४॥

राधिकाजी का मान दूर करने की चेष्टा घनश्याम—श्रीकृष्ण कर ही रहे थे उसी समय आकाश में अकस्मात् कामोद्दीपक मेघ घटा के हो आने पर मान का सुखपूर्वक छूट जाना कहा गया है।

---

* कौए के ताल वृक्ष पर बैठने से ताल के फल का अचानक पृथ्वी पर गिर जाने जैसी अचानक घटना को काकतालीय न्याय कहते हैं।

यह उदाहरण देवकृत आकस्मिक कारण का है। कहीं देवकृत आकस्मिक कारण के बिना भी समाधि अलङ्कार होता है। जैसे—

जुग पानिप पूरन पीन पयोधर कंचन कुंभ बिभूषित हैं,
दृग चंचल कंज विलोकन मंजुल वंदनवार तनी जित हैं,
स्मित फूलन की वरषा बरसै पिय आगम हेत प्रमोदित है,
रमनी-तन की छबि सौं सहजैं भये मंगल साज सुसोभित हैं।५४५

विदेश से आते हुए अपने पति के सम्मुख दो घट, वंदनवार और पुष्प की वर्षा आदि मङ्गल कार्य नायिका के अङ्गों द्वारा स्वयं सिद्ध हो जाने में यहाँ देवकृत कारणान्तर नहीं किन्तु नायका की अङ्ग शोभा द्वारा स्वतः सिद्ध हुआ है।

———:※:———

(५८) प्रत्यनीक अलङ्कार

साक्षात् शत्रु के जीतने में असमर्थ होने के कारण शत्रु के सम्बन्धी के तिरस्कार किये जाने को प्रत्यनीक अलङ्कार कहते हैं।

'प्रत्यनीक' शब्द 'प्रति' और 'अनीक' से बना है। 'प्रति' का अर्थ यहां प्रतिनिधि है—'प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः।'—अमर-कोश। और 'अनीक' का अर्थ है सैन्य—'अनीकोऽस्त्रीरणेसैन्ये।'—मेदिनी कोश। अतः प्रत्यनीक का अर्थ है सैन्य का प्रतिनिधि। यहां सैन्य का अर्थ लक्षणा द्वारा 'शत्रु' ग्रहण किया गया है अर्थात् शत्रु का प्रतिनिधि। प्रत्यनीक अलङ्कार में लक्षण के अनुसार शत्रु के प्रतिनिधि अर्थात् सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है। प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—

साक्षात् सम्बन्धी। अर्थात् शत्रु के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

परम्परागत सम्बन्धी। अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

साक्षात् सम्बन्धी का तिरस्कार—

अपने रम्य रूप से तुमने विगलित दर्प किया कंदर्प,
रहती है अनुरक्त तुम्हीं में वह रमणी रमणीय स-दर्प,
कुसुमायुध निज सुमन-शरों से सज्जित कर पुष्पों का चाप,
चलता है बश नहीं आप पर अतः दे रहा उसको ताप ॥५४६

नायक के प्रति दूती के वाक्य हैं। अपने से अधिक सौन्दर्यशाली नायक को जीतने में असमर्थ होकर कामदेव द्वारा उस (नायक) में अनुरक्त रहने वाली नायिका को संतप्त करना कहा गया है। यहाँ नायक के साथ नायिका का साक्षात् सम्बन्ध है।

"जहर-सलाह अरु लाखा-गृह-दाह अरु,
द्रोपदी की आह सों कराह जिय जारयो तैं*।
छहों फिर फेर सुत जेर कर मारयो हेर†
बीन‡ सब वैर दाव विहद विचारयो तैं।
मूल-ग्रंथ धारयो कै स-टीक ग्रंथ धारयो धीर!
प्रत्यनीकालंकृति कौं प्रकट पसारयो तैं।
भीम-पन स्मारयो कुरु-भूप कों न मारयो वाकौ,
प्रान-प्रिय मारयो रन करन पछारयो तैं" ॥५४७॥

यह अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के वाक्य हैं। दुर्योधन की जंघा विदीर्ण करने की भीमसेन की प्रतिज्ञा के कारण दुर्योधन को मारने में असमर्थ अर्जुन द्वारा दुर्योधन के परम-प्रिय कर्ण का बध किया जाना कहा गया है। दुर्योधन के साथ कर्ण का साक्षात् सम्बन्ध है।

---

* तूने अपना हृदय जलाया। † देखकर। ‡ चुनचुन कर।

परंपरागत सम्बन्धी का तिरस्कार—

"तो मुख-छबि सौं हारि जग भयो कलंक समेत,
सरद-इन्दु अरविंदमुखि ! अरविंदनि दुख देत" ॥५४८॥

कंजमुखी नायिका की मुख-कान्ति द्वारा पराजित चन्द्रमा द्वारा मुख के साथ सादृश्य सम्बन्ध रखने वाले कमलों को दुःख दिया जाना कहा गया है।

यद्यपि 'प्रत्यनीक' सभी ग्रंथों में स्वतन्त्र अलङ्कार माना गया है। पर इसके साथ हेतूत्प्रेक्षा अवश्य लगी रहती है प्रत्यनीक में और हेतूत्प्रेक्षा में यही भेद माना गया है कि प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार किये जाने का चमत्कार विशेष है, किन्तु पण्डितराज इसे हेतूत्प्रेक्षा के अन्तर्गत ही मानते हैं।

भारतीभूषण में प्रत्यनीक का—

"बरन स्याम, तम नाम तम उभय राहु सम जान,
तिमिर हिं ससि-सूरज ग्रसत निसिदिन निश्चय मान।" ५४९

यह उदाहरण दिया है। इसमें प्रत्यनीक नहीं क्योंकि चन्द्रमा और सूर्य द्वारा तम को शत्रु (राहु) का सम्बन्धी समझ कर उसका (तम का) ग्रसन नहीं कहा है किन्तु तम को 'निसिदिन निश्चय मान' के प्रयोग द्वारा निश्चय रूप से राहू समझकर ग्रसन कहा गया है। अतः यहाँ प्रत्यनीक नहीं।

यदि यह दोहा—

राहू तैं न बसात कछु प्रबल सत्रु निज जानि,
तिमिर हिं ससि-सूरज ग्रसत तुल्य-नाम 'तम' मानि॥

इस प्रकार कर दिया जाय तो इसमें 'प्रत्यनीक' अलङ्कार हो जाता है— इसमें तम को (अन्धकार को) निश्चित रूप से राहु न जान कर राहु

के साथ 'तम' नाम की समानता का सम्बन्ध अन्धकार में मान कर राहु के सम्बन्धी तम का तिरस्कार कहा गया है।

——:*:——

(५६) काव्यार्थापत्ति अलङ्कार

दण्डापूपिका न्याय के अनुसार किसी कार्य की सिद्धि के वर्णन को काव्यार्थापत्ति अलङ्कार कहते हैं।

'आपत्ति' का अर्थ है आ पड़ना। अर्थापत्ति का अर्थ है अर्थ का आ पड़ना। इस अलङ्कार में किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं आ पड़ती है—हो जाती है। जैसे 'मूसा दण्ड को खा गया' ऐसा कहने पर दण्ड से चिपके हुए मालपूओं का मूसे द्वारा खाया जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है। दण्डापूपिका न्याय इसीको कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ 'जिसके द्वारा कोई कठिन कार्य सिद्ध हो सकता है। उसके द्वारा सुगम कार्य सिद्ध होना क्या कठिन है' ऐसा वर्णन किया जाता है।

उदाहरण—

सुत मिस लै हरि नाम जब कटी अजामिल पास,
जो सुमरत श्रद्धा सहित उनहिं कहाँ भव त्रास ॥५५०॥

पुत्र के नाम कहने मात्र से यम की पाश कटना कठिन कार्य है। यहाँ "अपने पुत्र 'नारायण' के नाम कहने मात्र से अजामिल की यम-पाश कट गई।" इस कथन के सामर्थ्य से जो श्रद्धायुक्त श्री हरिनाम कीर्तन करते हैं उनका संसार-ताप नष्ट होना स्वतः सिद्ध कहा गया है।

कामिनि-जुगल-उरोज ये निकसे निज-हिय-भेद,
औरन हिय-भेदन करत इनहि कहाँ चित खेद ॥५५१॥

'जिन उरोजों ने अपना हृदय भेदन किया है' इस कथन के सामर्थ्य से उरोजों को दूसरे के हृदय भेदन करने में दया का न होना स्वतः सिद्ध कहा गया है।

"लाज को लेप चढ़ाइ के अंग पची सब सीख को मंत्र सुनाइकै,
गारडू ह्वै ब्रज-लोग थक्यो करि औषध बेसक सौंह दिवाइकै,
ऊधौ! सो को 'रसखान' कहै जिन चित्त धरौ तुम ऐसे उपायकै,
कारे बिसारे को चाहै उतारयो अरे! विष बावरे राख लगायकै" ५५२

यहाँ 'श्रीकृष्ण रूप काले विषधर-सर्प के विष से व्याकुल हम लोगों पर जब शिक्षा रूपी गारुडीय मंत्रों आदि के उपचार का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा' यह कहकर' तब हम लोगों पर उद्धवजी! तुम्हारे द्वारा ज्ञान के उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता है' यह बात स्वयं सिद्ध होना कहा गया है।

"प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन-जल से स-विनोद उन्हें फिर सींचा,
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी भी जान न पाई जिसको"॥५५३॥

यहाँ 'भरतजी के आशय को जब जन्म देने वाली उनकी माता भी न जान सकी' इस कथन के सामर्थ्य से 'उस भरत के आशय को दूसरा कौन जान सकता है' यह बात स्वयं सिद्ध होना कहा गया है।

काव्यार्थापत्ति अलङ्कार श्लेष-मूलक होता है तो अधिक चमत्कारक हो जाता है। जैसे—

तरुनी-स्तन-मंडल लग्यो लोटत हार लखात,
है मुक्तन की यह दसा का रसिकन की बात ।५५४॥

इस पद्य में 'मुक्तन' पद श्लिष्ट है—इसके 'मोती' और 'मुक्त जन' दो अर्थ हैं।
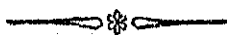
(६०) काव्यलिङ्ग अलङ्कार

जहाँ कारण को वाक्यार्थता और पदार्थता होती है वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है।

'काव्यलिङ्ग' में 'काव्य' और 'लिङ्ग' दो शब्द हैं। 'काव्य' शब्द का प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्र में माने हुए 'लिङ्ग' से पृथक्ता करने के लिए किया गया है। 'लिङ्ग' शब्द का अर्थ है हेतु अर्थात् कारण। काव्यलिङ्ग अलङ्कार में जिस बात को सिद्ध करना सापेक्ष होता है उसको सिद्ध करने के लिये उसका कारण वाक्य के अर्थ में अथवा पद के अर्थ में कहा जाता है। अतः इसके दो भेद हैं—

(१) वाक्यार्थता अर्थात् सारे वाक्य के अर्थ में कारण कहा जाना।

(२) पदार्थता अर्थात् एक पद के अर्थ में कारण कहा जाना।

वाक्यार्थता का उदाहरण—

सब तीरथ चित्त ! लजावतु हैं रु सकावतु जाहि उधारन कों,
कर कानन लावतु हैं सब देव घिनावतु नैंक निहारन कों,
करुना करि गङ्ग ! उमङ्ग भरी हो अहो ! अब मोहिं उधारन कों,
तुम गर्व विदारन हो करती सबको, अघ-औघ निवारन कों॥५५५॥

यहाँ चौथे पाद में श्रीगङ्गाजी को सारे तीर्थ और देवताओं का गर्व विदीर्ण करने वाली कही गई है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इसका कारण पहिले के तीनों पादों के सारे वाक्यार्थ में कहा गया है। अर्थात् इस कथन से गर्व-हरण करने के कथन की सिद्धि की गई है।

"कनक* कनक† ते सौगुनो मादकता अधिकाय,
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय"॥५५६॥

---

* सुवर्ण। † धतूरा।

धतूरे से सोने को सौगुना अधिक कहने का कारण उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कहकर इस कथन को सिद्ध किया है।

"तीय सिरोमनि सीय तजी जिहिं पावक की कलुसाई दही है,
धर्म-धुरंधर बंधु तज्यो पुरलोगन की विधि बोलि कही है,
कीस, निसाचर की करनी न सुनी न विलोक न चित्त धरी है,
राम सदा सरनागत की अनखौंही अनैसी सुभाय सही है"५५७

यहाँ चौथे चरण में कहे हुए—'श्रीरघुनाथजी शरणागत के अनुचित कार्यों को भी सदा सहन करते हैं' इस वाक्य को सिद्ध करने के लिये इसका कारण सुग्रीव और विभीषण के चरित्र का उल्लेख करके बताया गया है।

"अब रहीम मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम,
साँचे से तो जग नहीं झूठे मिलैं न राम"॥५५८॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के वर्णन का उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कारण कहा गया है।

पदार्थता का उदाहरण—

"जिन उपाय औरैं करै यहै राख निरधार,
हिय वियोग-तम टारिहै विधु-वदनी यह नार"॥५५९॥

यहाँ वियोग रूप तम को दूर करने का कारण विधु-वदनी (चन्द्र-मुखी) इस एक पद के अर्थ में कहा गया है।

काव्यलिङ्ग में जो 'कारण' कहा जाता है उस कारण का 'कारण' शब्द द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है—वह अर्थ द्वारा बोध हुआ करता है*। अतः—

---

* 'गम्यमानहेतुत्वकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेन प्राचीनैः काव्यलिङ्गताऽभ्युप गमात्।' उद्योत काव्यलिङ्ग प्रकरण।

रक्षक और सुशिक्षक—
पालक भी प्रजा के असाधारण थे,
अतः दिलीप पिता थे
निज-पिता केवल जन्म के कारण थे।।५६०।।

यहाँ 'अतः' शब्द के प्रयोग द्वारा कारणता स्पष्ट कह दी गई है। यहाँ यह अलङ्कार नहीं है।

'परिकर' और काव्यलिंग का पृथक्करण—

पूर्वोक्त परिकर अलङ्कार में पदार्थ या वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है वही वाच्यार्थ को पोषित करता है, जैसे—

कलाधार द्विजराज तुम ताप-हरन विख्यात,
क्रूर-करन सों दहत क्यों मो अबला के गात।।५६१।।

यहाँ (परिकर में) चन्द्रमा के 'कलाधर' आदि विशेषण हैं, इनके अर्थ में जो महत्व प्रतीत होता है वही विरहिणी के उपालम्भ रूप वाच्यार्थ को समर्थन करता है, केवल कलाधार आदि शब्द नहीं। पर काव्यलिङ्ग में साक्षात् पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण भाव को प्राप्त होते हैं—जैसे—"हिय वियोग-तम टारि है विधु वदनी यह नारि" में "विधु-वदनी" पद ही वियोग रूपी तम को दूर करने में कारण है—इसमें किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति की आकांक्षा नहीं है।

आचार्य मम्मट ने काव्यलिङ्ग का नाम हेतु या काव्यहेतु भी लिखा है*। आचार्य दण्डी और महाराजा भोज ने तो काव्यलिङ्ग को 'हेतु' अलङ्कार के अन्तर्गत ही कारक हेतु नाम से लिखा है। और 'हेतु' के भाव साधन और अभाव-साधन आदि उपभेद लिखे हैं। 'कविप्रिया' में भी हेतु अलङ्कार दण्डी के काव्यादर्श के मतानुसार लिखा है। किन्तु

* देखिये काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ० ८२४।

सम्भवतः महाकवि केशव ने दण्डी के हेतु का स्वरूप नहीं समझा अतः वे उदाहरण देने में सफल नहीं हो सके हैं। दण्डी ने अभाव हेतु का—

करि कंपित चंदन बनहिं परसि मलय पवमान,
पथिकन के जिय लैन कों आयो यह पवमान ॥५६२॥

यह (जिसका यह अनुवाद है वह संस्कृत पद्य) उदाहरण देकर कहा है कि मलय पवमान (पवन) को पथिकों के प्राण-हरण (अभाव) का साधन कहा जाने के कारण यहाँ अभाव साधन हेतु अलङ्कार है। कविप्रिया में अभाव-हेतु का—

"जान्यो न मैं मद जोबन को उतर्यो कब काम को काम गयोई,
छांड़न चाहत जीव कलेवर जोर कलेवर छांड़ि दयोई,
आवत जात जरा दिन लीलत रूप जरा सब लीलि लयोई,
'केसव' राम रटौं न रटौं अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई।"५६३

यह उदाहरण दिया है। इसमें राम नाम के स्मरण करने रूप कारण के बिना ही काम का नष्ट होना आदि कार्य कहे गये हैं, जैसा कि 'अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट है। कारण के अभाव में कार्य का होना तो विभावना अलङ्कार का विषय है। अतः यहाँ अभाव हेतु नहीं। इसी प्रकार भाव-अभाव हेतु का कवि प्रिया में—

"जा दिन ते वृषभानुलली हि अली ! मिलये मुरलीधर तें ही,
साधन साधि अगाध सबै बुधि सोधि औ दूत अभूतन में ही,
ता दिन तें दिनमान दुहूंन के 'केसव' आवत बात कहे ही,
पीछै अकास प्रकासै ससी, बढ़ि प्रेम समुद्र रहै पहिले ही"५६४

यह उदाहरण दिया है। इस पद्य में काव्यादर्श के—

"पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्,
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः।"

—काव्यादर्श २।२४७

इस पद्य से भाव लिया गया है। किन्तु दण्डी ने इसे चित्र-हेतु के उदाहरण में दिया है न कि भाव-हेतु के उदाहरण में। यद्यपि इसमें कार्य-कारण पौर्वापर्य रूप अतिशयोक्ति (अत्यन्तातिशयोक्ति) है। पर दण्डी ने इसको अतिशयोक्ति के भेदों में न लिखकर चित्र-हेतु के अन्तर्गत लिखा है।

भारतीभूषण में काव्यलिङ्ग का यह लक्षण लिखा है 'समर्थन योग्य कथितार्थ का ज्ञापक कारण द्वारा समर्थन किया जाना।' किन्तु 'ज्ञापक' कारण अनुमान अलङ्कार में होता है, न कि काव्यलिङ्ग में।*

——:*:——

(६१) अर्थान्तरन्यास अलङ्कार

सामान्य† का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने को 'अर्थान्तरन्यास' कहते हैं।

अर्थान्तरन्यास का अर्थ है अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का न्यास अर्थात् रखना। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में एक अर्थ (सामान्य या विशेष) के समर्थन करने के लिये अन्य अर्थ (विशेष या सामान्य) रक्खा जाता है। अर्थात् सामान्य वृत्तान्त का विशेष वृत्तान्त द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है। सामान्य और विशेष

---

* "हेतुस्त्रिधा भवति ज्ञापको निष्पादकः समर्थश्चेति। तत्र ज्ञापको अनुमानस्य विषयः।"—साहित्यदर्पण काव्यलिङ्ग प्रकरण।

† सब लोगों से साधारणतः सम्बन्ध रखने वाली बात को सामान्य और किसी विशेष (खास) एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली बात को विशेष कहते हैं।

में प्रायः एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत होता है। यह चार प्रकार का होता है—

(१) विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन।
(२) सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन।
(३) विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन।
(४) सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन।

विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन—

लागत निज-मन दोष तें सुंदर हू विपरीत,
पित्त-रोग-बस लखत नर स्वेत संखहू पीत ॥५६५॥

'अपने चित्त के दोष से सुन्दर वस्तु भी बुरी लगती है' इस सामान्य बात का 'यहाँ पित्त-रोग (पाण्डुरोग) वाले को सफेद शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष-अर्थ के कथन द्वारा समर्थन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'लागत' और उत्तरार्द्ध में 'लखत' यह दोनों क्रियाएँ साधर्म्य से कही गई हैं।

"बड़े न हूजे गुननि बिनु बिरद बड़ाई पाय,
कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़्यो न जाय"॥५६६॥

'विरद की बड़ाई पाकर अर्थात् केवल नाम बड़ा होने से गुण के बिना बड़ा नहीं हो सकता' इस सामान्य बात का यहाँ धतूरे के विशेष वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'केवल नाममात्र से बड़े न होना' और उत्तरार्द्ध के 'गहना न गढ़ा जाना' इन वाक्यों में निषेधात्मक क्रियाओं का साधर्म्य है।

"रहिमन नीच कुसंग सों लगत कलंक न काहि,
दूध कलारी-कर लखै को मद जानै नांहि"॥५६७॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य वृत्तान्त का उत्तरार्द्ध में दूध और कलारी के विशेष वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है।

सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन—

पाके वायू यदि घन! वहां देवदारू घिसावें,—
हो दावाग्नी-ज्वलित चमरी-चामरों को जलावें—
तो उसकी तू बरस, करना ताप-निःशेष क्योंकि—
दीनों ही के दुख-दमन को सम्पदा सज्जनों की॥५६८॥

मेघदूत में मेघ को यक्ष ने यह कहकर कि "हिमालय में वायु-वेग से परस्पर रिगड़ते हुए देवदारु के वृक्षों से उत्पन्न होने वाली दावाग्नि—जो चमरी गऊओं की पूँछ को जलाती है, उसे तू शमन करना" फिर इस विशेष बात का चौथे चरण की सामान्य बात द्वारा समर्थन किया है।

अधम पतित अति नीच जनों का अहो आप करना उद्धार—
छोड़ नहीं सकती हो गंगे! जिस प्रकार करुणा चितधार,
उसी प्रकार मुझे भी रहता अघ-ओघों से प्रेम अपार,
हो सकता क्या जननि! किसी से निज स्वभाव का है परिहार।५६९॥

यहाँ प्रथम के तीन पादों में श्रीगङ्गाजी के स्वाभाविक कार्यों की और वक्ता ने अपने स्वाभाविक कार्य की जो विशेष बात कही है, उसका चौथे पाद में सामान्य बात द्वारा समर्थन किया है।

"सरवर नीर न पीवहीं स्वात बूँद की आस,
केहरि कबहुँ न तृन चरैं जो व्रत करैं पचास।
जो व्रत करै पचास विपुल गज्जूहि विदारै,
धन ह्वै गरव न करै निधन नहिं दीन उचारै।
'नरहरि' कुलक स्वभाव मिटै नहिं जब लग जीवै,
बरु चातक मर जाय नीर-सरवर नहिँ पीवै"॥५७०॥

यहाँ चातक आदि के विशेष वृत्तान्त का 'कुल का स्वभाव नहीं मिटता' इस सामान्य द्वारा समर्थन किया गया है।

"भ्रमरी ! इस मोहन मानस के बस मादक है रस भाव सभी,
मधु पीकर और मदांध न हो, उड़जा बस है अब क्षेम तभी,
पड़ जाय न पंकज-बंधन में निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते स-विशेष किसी जन का सुखभोग कभी" ५७१

यहाँ भ्रमरी के विशेष वृत्तान्त का चतुर्थ पाद के सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है। इस उदाहरण में अर्थान्तरन्यास के साथ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार मिश्रित है।

विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन—

भगवान यदि रक्षक रहें रक्षा बनी रहती तभी,
अन्य कोई भी किसे क्या है बचा सकता कभी ?
मृत्यु-मुख जाता पहुँच घर में सुरक्षित भी न क्या,
किंतु रहता है बचा रण में अरक्षित भी न क्या ॥५७२॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध के विशेष कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। 'सुरक्षित' के साथ 'अरक्षित' का वैधर्म्य है।

सामान्य द्वारा विशेष का वैधर्म्य से समर्थन—

"वारिधि तात हुतो विधि सो सुत आदित-सोम सहोदर दोऊ,
रंभ रमा भगिनी जिनके मघवा मधुसूदन से बहनोऊ,
तुच्छ तुषार परै नहिँ होय इतो परिवार सहाय न सोऊ,
टूटि सरोज गिरै जल में सुख संपति में सबकै सब कोऊ" ५७३

यहाँ कमल के विशेष वृत्तान्त का चौथे पाद में 'सुख सम्पत्ति में सबकै सब कोऊ' इस सामान्य के कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

श्लेष मिश्रित अर्थान्तरन्यास बहुत मनोरंजक होता है—

मलयानिल यह मधुर सुगन्धित आ रहा,
सभी जनों के हृदय प्रीति उपजा रहा,

दाक्षिण्य से सम्पन्न जाते हैं वहीं,
होते हैं वे प्रेम पात्र सर्वत्र ही ॥५७४॥

यहाँ 'दाक्षिणय' शब्द श्लिष्ट है—इसके गुणवान (चतुर व्यक्ति) और दक्षिण दिशा से सम्बन्ध रखने वाला—यह दो अर्थ हैं।

शरद में अनुरक्त विकसित चंद्रमा को देखकर,
प्रभा-हत प्रावृट विचारी गई होकर विकलतर,
क्योंकि हो जाते पयोधर रमणियों के भ्रष्ट जब,
है कहाँ प्रिय-प्रेम का सौभाग्य उनको सुलभ तब* ॥५७५॥

यहाँ 'पयोधर' और 'भ्रष्ट' शब्द श्लिष्ट हैं—वर्षा ऋतु के पक्ष में 'मेघ रहित' और कामिनी पक्ष में 'गलित-उरोज' अर्थ है।

अर्थान्तरन्यास का प्रयोग उर्दू के कविगणों ने भी किया है—

"देख छोटों को है अल्लाह बड़ाई देता,
आस्मां आँख के तिल से दिखाई देता" ॥५७६॥

यहाँ 'ईश्वर छोटों को भी बड़ाई देता है' इस सामान्य का 'आँख के छोटे तिल से आकाश जैसी विसाल वस्तु दिखाई देती है' इस विशेष द्वारा समर्थन किया गया है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का पृथकरण—

विश्वनाथ का मत है† कि हेतु (कारण) तीन प्रकार का होता है‡। ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। जहाँ ज्ञापक-हेतु होता है वहाँ

---

* यहाँ शरद और वर्षा ऋतु को परस्पर में दो सपत्नि नायिका और चन्द्रमा को नायक सूचित किया गया है।

† देखिए साहित्यदर्पण काव्यलिङ्ग प्रकरण।

‡ वास्तव में हेतु दो प्रकार का होता है ज्ञापक और कारक। ज्ञापक हेतु किसी वस्तु का ज्ञान कराता है जैसे धूंआ, अग्नि का ज्ञान कराता

अनुमान अलङ्कार होता है। जहाँ समर्थक हेतु होता है वहाँ अर्थान्तर-न्यास और जहाँ निष्पादक हेतु होता है वहाँ काव्यलिङ्ग होता है। जैसे काव्यलिङ्ग के पूर्वोक्त—'कनक कनक तें सौ गुनौ.........' (सं० ५५६) इस उदाहरण में धतूरे को सुवर्ण से अधिक मादक कहने की बात सिद्ध नहीं हो सकती है जबतक कि इसका कारण नहीं कहा जाता, अतः इस वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा रहती है इसीलिए यह कह कर कि 'धतूरे के तो खाने से विक्षिप्त होता है पर सुवर्ण के प्राप्त होने मात्रसे प्रमत्त होजाता है' सिद्ध की गई है अतः यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ का उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ निष्पादक-हेतु है। और अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थ निराकांक्ष रहता है—वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे 'पाके वायू...' (सं० ५६८) में दावाग्नि को शमन करने का जो उपदेश है वह स्वयं सिद्ध है—उसको सिद्ध करने के लिए कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ जो—'दीनों ही के दुख दमन को संपदा उत्तमों की' कहा गया है। वह उस उपदेश वाक्य को युक्ति-युक्त बनाने के लिए केवल समर्थन है। इसी आधार पर आचार्य रुय्यक* और विश्वनाथ ने कार्य-कारण भाव द्वारा समर्थन में भी अर्थान्तरन्यास का—

> सहसा करिय न काज कछु विपद्-मूल अविचार,
> बिना बुलाए आतु है संपत जहाँ बिचार ॥५७७॥

यह (जिसका अनुवाद है वह संस्कृत पद्य) उदाहरण दिया है।

है—धूँआ ज्ञापक-हेतु है। और कार्य को उत्पन्न करने वाला कारक-हेतु होता है जैसे 'अग्नि' धूँआ का उत्पादक है अतः अग्नि कारक-हेतु है। विश्वनाथ ने कारक-हेतु को ही दो भेदों में विभक्त करके उसके निष्पादक (सिद्ध करने वाला) और समर्थक (समर्थन करके वाला) दो भेद बतलाये हैं।

* देखिये अलङ्कारसर्वस्व काव्यलिङ्ग प्रकरण।

रुय्यक और विश्वनाथ का कहना है—इसमें सम्पत्ति के आने रूप कार्य द्वारा 'सहसा न करना' इस कारण का समर्थन किया गया है। पूर्वार्द्ध में जो उपदेशात्मक वाक्य है वह निराकांक्ष है—इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं अतः यहाँ काव्यलिङ्ग नहीं।

किन्तु पण्डितराज* और काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार† एवं अप्पय्य दीक्षित‡ कार्य-कारण सम्बन्ध द्वारा समर्थन में काव्यलिङ्ग ही मानते हैं, न कि अर्थान्तरन्यास। उनका कहना है कि वाक्यार्थ चाहे साकांक्ष हो अथवा निराकांक्ष यदि कार्य-कारण सम्बन्ध में भी अर्थान्तरन्यास माना जायगा तो काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण परस्पर में मिल जायँगे, अतः सामान्य-विशेष सम्बन्ध में अर्थान्तरन्यास और कार्य-कारण सम्बन्ध में काव्यलिङ्ग माना जाना ही युक्ति युक्त है।

दृष्टान्त और उदाहरण अलङ्कार से अर्थान्तरन्यास का पृथकरण—

'दृष्टान्त' में समर्थ्य और समर्थक दोनों सामान्य या दोनों विशेष होते हैं। और वहाँ सामान्य का सामान्य से एवं विशेष का विशेष से समर्थन होने में समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान न रहकर विम्ब-प्रतिबिंब भाव प्रधान रहता है। किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य समर्थक दोनों में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है। अर्थात् सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन होता है और समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान रहता है§।

---

* देखिये रसगङ्गाधर अर्थान्तरन्यास प्रकरण।

† देखिये काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० ८०४, ८०७।

‡ देखिये कुवलयानन्द अर्थान्तरन्यास प्रकरण।

§ देखिये उद्भटाचार्य का काव्यालङ्कारसार संग्रह बोंबे सीरीज अँग्रेज़ी नोट पृ० ६७।

उदाहरण अलङ्कार में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है और अर्थान्तरन्यास में 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता।*

(६२) विकस्वर अलङ्कार

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर उस (सामान्य) का विशेष द्वारा समर्थन किये जाने को विकस्वर अलङ्कार कहते हैं ।

'विकस्वर' का अर्थ है विकाश वाला† । विकाश का अर्थ है स्फुट‡ । विकस्वर अलङ्कार में किसी विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ से किया गया समर्थन सन्तोषप्रद न मानकर फिर उसको स्फुट करने के लिये (भली प्रकार स्पष्ट करने के लिये) दूसरे विशेष को—उपमा द्वारा या अर्थान्तरन्यास की रीति से—समर्थन किया जाता है ।

उपमा द्वारा—

रत्न-जनक हिमवान के कहियत हिम न कलंक,
छिपत गुणन में दोष इक ज्यों ससि-करन ससंक ॥५७८॥

'बहुत से रत्नों को उत्पन्न करने वाले हिमाचल के हिम (बर्फ) का होना कलङ्क नहीं कहा जा सकता' इस विशेष अर्थ का यहाँ 'बहुत से गुणों में एक दोष छिप जाता है' इस सामान्य से समर्थन किया गया है फिर 'जैसे चन्द्रमा की किरणों के प्रकाश में शश का चिह्न' इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है ।

---

* देखिये रसगङ्गाधर अर्थान्तरन्यास प्रकरण ।

† देखिये अमरकोष की भरत टीका ।

‡ 'विकाशो विजने स्फुटे'—विजयकोष शब्दकल्पद्रुम ।

"कौरव-दल पांडव सगर-सुत जादौं जेते
जात हू न जाने ज्यों तरैया परभात की।
बली, बेन, अंबरीष, मानधाता, प्रहलाद
कहिये कहां लौं कथा रावन जजाति की।
वेहू न बचन पाये काल-कौतुकी के हाथ
भांति भांति सेना रची घने दुख घात की।
च्यार च्यार दिनको चवाव सब कोऊ करो,
अंत लुटि जैहैं जैसे पूतरी* बरात की"॥५७६॥

यहाँ 'कौरव आदि भी काल के हाथ से नहीं बच सके' इस विशेष वृत्तान्त का 'चार चार दिन को चवाव सब कोऊ करो' इस सामान्य वृत्तान्त से समर्थन करके फिर इस सामान्य वृत्तान्त का 'लुटि जैहैं जैसे पूतरी बरात की' इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है।

अर्थान्तरन्यास रीति से—

काक ! कर्ण-कटु-शब्द रहित तू बैठा रह स्वच्छंद अभी—
आम्रलता-मकरंद पान कर, पिक समझेंगे तुझे सभी,
स्थल-प्रभाव से सभी वस्तु क्या धन्य नहीं हो जाती हैं,
नृप-ललाट पर पंक-बिंदु मृगमद ही जानी जाती हैं॥५८०॥

यहाँ काक के विशेष वृत्तान्त का 'स्थान की महिमा से सभी वस्तु धन्य हो जाती हैं' इस सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन करके फिर इसका 'राजा के मस्तक पर कीचड़ का बिन्दु भी कस्तूरी ही समझी जाती है' इस विशेष वृत्तान्त द्वारा अर्थान्तरन्यास की रीति से समर्थन किया गया है।

---

* बरात की फुलवाड़ी में जो कागज की पुतली बनी हुई होती हैं।

'विकस्वर' को कुवलयानन्द में स्वतंत्र अलङ्कार लिखा है। अलङ्कार सर्वस्व आदि में ऐसे उदाहरण अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत दिखलाये हैं। पण्डितराज ने विकस्वर के प्रथम प्रकार को उदाहरण अलङ्कार के और दूसरे प्रकार को अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत माना है। वस्तुतः विकस्वर अलङ्कार अर्थान्तरन्यास और उदाहरण अलङ्कार के अन्तर्गत ही है।

——:※:——

(६३) प्रौढोक्ति अलङ्कार

उत्कर्ष का जो कारण न हो उसे कारण कल्पना किये जाने को प्रौढोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

'प्रौढोक्ति' में प्रौढ उक्ति होती है। प्रौढ का अर्थ है प्रवृद्ध* अर्थात् बढ़ा हुआ। प्रौढोक्ति अलङ्कार में बढ़ाकर कहने के लिये उत्कर्ष के अहेतु को उत्कर्ष का हेतु कहा जाता है।

विमल-नीर-जलजात† जसुना-तीर-तमाल‡ सम,
दुति राधा-हरि-गात सुमरित-भव-बाधा मिटहिं ॥५८१॥

जल का निर्मल होना कमल की मनोहरता के उत्कर्ष का कारण नहीं है—जहाँ निर्मल जल नहीं होता है वहाँ भी वैसेही सुन्दर कमल उत्पन्न होते हैं जैसे निर्मल जल में होते हैं। और न तमाल वृक्ष की श्यामलता के उत्कर्ष का कारण यमुना का तट ही है किन्तु यहाँ इनको उत्कर्ष के कारण कल्पना किये गये हैं। रसगङ्गाधर और कुवलयानन्द में 'प्रौढोक्ति' को स्वतंत्र अलङ्कार माना गया है, किन्तु उद्योतकार का कहना है कि यह सम्बन्धातिशयोक्ति के अन्तर्गत है।

———

* देखिये अमरकोश। † निर्मल जल में होने वाले कमल। ‡ यमुना के तट पर उत्पन्न श्याम रंग का एक जाति का वृक्ष।

(६४) मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार

किसी बात का मिथ्यात्व* सिद्ध करने के लिये कोई दूसरा मिथ्या अर्थ कल्पना किये जाने को 'मिथ्याध्यवसिति' अलङ्कार कहते हैं।

मिथ्याध्यवसिति में मिथ्या और अध्यवसिति दो शब्द हैं। मिथ्या का अर्थ है झूठ और अध्यवसिति का अर्थ है निश्चय अर्थात् मिथ्यात्व का निश्चय। इस अलङ्कार में लक्षणानुसार मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है।

सस सींगन के धनु लिये गगन-कुसुम† धरि माल,
खेलत बंध्या-सुतन संग तव अरि-गन छितिपाल!॥५८२॥

'राजा के शत्रु होने को झूठा सिद्ध करने के लिए यहाँ 'खरगोश के सींग होना' आदि असत्य कल्पनाएँ की गई हैं।

'उद्योत' कार का कहना है कि यह अलङ्कार असम्बन्ध में सम्बन्ध वाली अतिशयोक्ति के अन्तर्गत है न कि भिन्न। दूसरा मत यह है कि इसमें मिथ्यात्व सिद्ध करके के लिए दूसरा मिथ्यार्थ कल्पना किया जाना नवीन चमत्कार है। पण्डितराज ने इसे 'प्रौढोक्ति' के ही अन्तर्गत माना है।

---

(६५) ललित अलङ्कार

प्रस्तुत धर्मी‡ को वर्णनीय वृत्तान्त के प्रतिबिम्ब वर्णन किये जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

---

* झूठापन। † आकाश-पुष्प। ‡ जिसके समक्ष में कहा जाय उस व्यक्ति को।

'ललित' का अर्थ इच्छित (इप्सित) भी है—'ललितःइप्सितः'—मेदिनी कोश। ललित अलङ्कार में इच्छित अर्थात् वर्णनीय वृत्तान्त का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

सेतु बांधिबो चहतु है तू अब उतरै वारि ॥५८३॥

प्रमाद में धन खोकर निर्धन हो जाने पर धन की रक्षा का उपाय पूछने वाले व्यक्ति के प्रति किसी सज्जन का यह कथन है। धन न रहने पर धन की रक्षा के प्रश्न का उत्तर, प्रस्तुत—प्राकरणिक तो यह है कि 'अब उपाय पूछना व्यर्थ है' किन्तु इस प्रकार न कहकर उसका प्रतिबिम्ब 'तू जल नहीं रहने पर अब पुल बाँधना चाहता है' यह कहा है।

और कहा नहिं सुन्दरी भुवि सीता हि अनूप,
ऐंचत चंदन-साख को तुम छेड़यो फनि-भूप॥५८४॥

रावण के प्रति मन्दोदरी को कहना तो यह था कि 'श्रीजानकीजी के हरण से तुमने श्रीरामचन्द्रजी को कुपित करके बड़ा अनिष्ट किया है' यह न कह कर उसका 'चन्दन की शाखा को खेंचते हुये तुम सर्पराज को छेड़ बैठे' यह प्रतिबिम्ब कहा है।

ललित अलङ्कार को स्वतन्त्र अलङ्कार स्वीकार करने में आचार्यों का मतभेद है। ललित को स्वतन्त्र अलङ्कार मानने वाले आचार्यों का कहना है कि—

(१) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है और ललित में वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है—अर्थात् प्रकरणगत श्रोता के सम्मुख कहा जाता है।

(२) 'समासोक्ति' में प्रस्तुत वृत्तान्त में अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति कराई जाती है। 'ललित' में प्रस्तुत का (वर्णनीय वृत्तान्त का) प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(३) 'निदर्शना' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन किया

जाकर उन (दोनों) में एकता का आरोप किया जाता है। ललित में केवल प्रस्तुत का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(४) 'रूपकातिशयोक्ति' में पदार्थ का अध्यवसान होता है अर्थात् अभेद ज्ञान का निश्चय होता है—उपमान द्वारा उपमेय का निगरण होता है। ललित में प्रस्तुत वाक्य का अप्रस्तुत रूप में प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

किन्तु ललित अलङ्कार का 'पर्यायोक्ति' और 'निदर्शना' से पृथक्करण बड़ा कठिन है। कुवलयानन्द में नैषधीयचरित के जिस पद्य का—

अति गौरव का यह कारण आज, हुआ भवदीय समागम है,
कहिए वह कौनसा देश किया, मधु-मुक्त-दशा-वन के सम है,
शुभ नाम तथा कहिये यह भी किस हेतु किया इतना श्रम है,
जन जो कि उदार सदाशय वे करते न महाशय संभ्रम हैं।

यह अनुवाद है, उसे ललित के उदाहरण में देकर कहा है कि दमयन्ती ने नल को 'आप कहाँ से आये हैं' इस वाक्य के प्रतिबिम्ब रूप—'आपने किस देश को वसन्त की शोभा से विमुक्त कर दिया है' यह कहा है। पण्डितराज इस पद्य में पर्यायोक्ति अलङ्कार मानते हैं, न कि ललित। उनका कहना है कि यहाँ उस देश का (जहाँ से नल आया है) शोभा रहित होना कार्य है और नल द्वारा उस देश का छोड़ा जाना कारण है यहाँ कार्य के द्वारा कारण का कथन प्रकारान्तर से (भंग्यन्तर से) किया गया है अतः पर्यायोक्ति है।

इसीप्रकार काव्यप्रकाश में रघुवंश के जिस पद्य का—

कहां अल्प मेरी मती कहां दिव्य रघुवंस,
सागर-तरिबो उडुप सों चाहतु हौं मति-भ्रंस ॥५८६॥

यह अनुवाद है, उसे निदर्शना के उदाहरण में दिया है। पण्डित-राज इस पद्य में ललित अलङ्कार मानते हैं। और कुवलयानन्द में

उपर्युक्त 'सेतु बांधिवो चहतु है अब तू उतरै वारि' यह उदाहरण जो ललित अलङ्कार का दिया है उसमें उद्योतकार निदर्शना मानकर ललित को निदर्शना के अन्तर्गत बताते हैं।
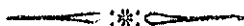
(६६) प्रहर्षण अलङ्कार

प्रहर्षण का अर्थ है प्रकृष्ट हर्षण अर्थात् अत्यन्त हर्ष। प्रहर्षण अलङ्कार में अत्यन्त हर्षकारक पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन होता है। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम प्रहर्षण

उत्कण्ठित* पदार्थ की बिना यत्न के सिद्धि होने के वर्णन को प्रथम प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

"मेघन सों नभ छाइ रह्यो बन-भूमि तमालन सों भई कारी,
सांझ भई डरि है घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी!
यों सुनि नंद-निदेस चले दुहु कुंजन में हरि-भानु दुलारी,
सोइ कलिंदी के कूल इकंत की केलि हरै भव-भीति हमारी।"५८७

नन्दजी द्वारा साथ जाने की आज्ञा मिल जाने पर यहाँ श्रीराधा-माधव को उनके उत्कण्ठितार्थ की—यमुना-तट पर जाने की—बिना ही यत्न सिद्धि होना वर्णन है।

"हेरिबे हेत बिहंग के मानस ब्रह्म सरूपहि में अनुरागे,
भाय भरथ्थ सो भेट्यो नहीं पुलके तन यों 'लछिराम' सुभागे,
मंजु मनोरथ फैलि फल्यो पर आने सबै तप पूरन पागे,
मोंज मढ़े उमड़े करुना खड़े श्रीरघुनाथ जटायु के आगे।"५८८

---

* जिस पदार्थ में सब इन्द्रियों का सुख माना जाता है उसकी प्राप्ति के लिये उत्कट इच्छा की जाती है उसको उत्कण्ठा कहते हैं।

जटायु अपने मनमें ब्रह्म को अनुभव करने की इच्छा करता ही था इतने में श्रीरघुनाथजी के आजाने पर उसको बिना यत्न उत्कण्ठित अर्थ—ब्रह्म-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होना कहा गया है।

"भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं,
स्यामाजू आपनी ऊँची अटा पैं छकी रसरीति मलार हिं गावैं,
ता समैं मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावैं,
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावैं।" ५८९

श्रीवृषभानुनन्दिनी के दर्शन का उत्कण्ठित लाभ बिना ही यत्न के यहाँ श्रीकृष्ण को होना वर्णन है।

द्वितीय प्रहर्षण

वाञ्छित अर्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ होने के वर्णन को द्वितीय प्रहर्षण अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् अपनी इच्छा की हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए उस इच्छा से भी अधिक लाभ होना।

फिरत लोभ कोडीन के छाछ बेचिबे काम,
गोप-ललिन पायो गलिन महा इंद्रमनि स्याम ॥५९०॥

ब्रजाङ्गनाओं को छाछ बेचकर कौड़ियों के लाभ का उद्यम करते हुए महेन्द्र नीलमणि (अर्थात् श्रीकृष्ण) के मिलने रूप अधिक लाभ होना वर्णन है।

मांगता दो चार जल की बूँद है,
विकल चातक ग्रीष्म से पाकर व्यथा,
जलद सब जल-पूर्ण कर देता धरा,
महत् पुरुषों की कहें हम क्या कथा ॥५९१॥

दो चार जल के कण की इच्छा करने वाले चातक को यहाँ मेघ द्वारा सारी पृथ्वी को जलपूर्ण करने का अधिक लाभ होना वर्णन है। इस पद्य में अर्थान्तरन्यास भी मिश्रित है।

तृतीय प्रहर्षण

उपाय की खोज द्वारा साक्षात् फल के लाभ होने के वर्णन को तृतीय प्रहर्षण अलङ्कार कहते हैं।

सर भीतर ही पकड़ा गज का पग आकर ग्राह भयंकर ने,
लड़ते-लड़ते बल क्षीण गयंद हुआ निरुपाय लगा मरने,
जब लौं हरि-भेंट के हेतु सरोज की खोज गजेंद्र लगा करने,
करुनानिधि आ पहुंचे तबलौं अविलंब वहां दुख को हरने॥५६२॥

यहाँ अपनी रक्षा के लिये भगवान् को अर्पण करने कमल रूप उपाय की खोज करने के द्वारा गजराज को साक्षात् दीनबन्धु भगवान् के आगमन होने का लाभ होना वर्णन है।

"पाती लिखी अपने कर सों दई हे 'रघुनाथ' बुलाइकै धावन,
और कह्यो मुख-पाठ यों बेगि कृपा करि आइये आवत सावन,
भांति अनेकन के सनमान कै दै बकसीस पठायो बुलावन,
पायो न पौरि लौं जान कहा कहौं बीचहि आय गयो मनभावन।"

विदेश से नायक को बुलाने के लिये भेजे हुए दूत के पहुँचने रूप उपाय के मध्य में ही यहाँ नायक का आगमन रूप साक्षात् फल का लाभ होना कहा गया है।

उद्योतकारने* प्रथम प्रहर्षण अलङ्कार में कारणान्तर के सुयोग द्वारा कार्य की सिद्धि होने के कारण प्रहर्षण को 'समाधि' अलङ्कार के

* देखिये काव्यप्रकाश उद्योत व्याख्या पृ० ५५४।

अन्तर्गत माना है। पण्डितराज* ने और अप्पय्य दीक्षित† ने प्रहर्षण को स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा है।

---

(६७) विपादन अलङ्कार

वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध लाभ होने के वर्णन को विपादन अलंकार कहते हैं।

विपादन शब्द विषाद से बना है। विषाद का अर्थ है विशेष दुःख। यह अलङ्कार पूर्वोक्त 'प्रहर्षण' का प्रतिद्वन्द्वी है। प्रहर्षण में वाञ्छित अर्थ की सिद्धि द्वारा प्रहर्ष होता है और विपादन में वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध लाभ द्वारा दुःख।

जायगी बीत ये रात सुहायगी वो अरुनोदय की अरुनाई,
भानु-विभा विकसायगी औ खुलिजायँगी कंज-कली हू सुचाई,
यों जिय सोचति ही अलिनी नलिनी-गत-कोप प्रदोष-रुकाई,
हाय ! इतेक में आ गजनी रजनी ही में पंकजनी धरि खाई॥५६४

सूर्य के अस्त होने पर कमल में रुकी हुई भौंरी सोच तो यह रही थी कि 'सूर्योदय के समय कमल खिलने पर मैं इस बन्धन से छूट जाऊँगी' किन्तु यह न होकर उस कमल को हथिनी ने रात्रि में ही उठा कर खालिया, अतः विरुद्ध लाभ होना कहा गया है।

सुन श्री रघुनन्दन का अभिषेक सहर्ष प्रफुल्लित गात हुआ,
अति उत्सुक चाह रहे सब थे सुख-कारक जो कि प्रभात हुआ,
वर-कैकइ के मिस से सहसा वह दारुण वज्र निपात हुआ,
बनवास के दृश्य दुख-प्रद में परिवर्तित हा! वह प्रात हुआ।५६५

---

* देखिये रसगङ्गाधर पृ० ४०४—५।

† देखिये कुवलयानन्द प्रहर्षण प्रकरण।

राज्याभिषेक सुनकर अयोध्या की प्रजा उस आनन्द को देखने की अभिलाषा कर रही थी किन्तु वह न होकर उसके विरुद्ध श्रीरघुनाथजी के वनवास का दुःखप्रद दृश्य उपस्थित होना वर्णन है।

बहु द्योस बिदेस बिताय पिया घर आवन की घरी आली भई,
वह देस कलेस त्रियोग बिथा सब भाखी यथा वनमाली भई,
हँसि के निसि 'बेनी प्रबीन' कहै जब केलि-कला की उताली भई,
तब या दिसि-पूरब पूरव की लखवैरनि सौंति सी लाली भई।५१६

सखी के प्रति नायिका की इस उक्ति में क्रीड़ा की अभिलाषा रखने वाली नायिका को अरुणोदय हो जाने के कारण निराश होना वर्णन है।

उद्योतकार विषादन अलङ्कार को विषम अलङ्कार के अन्तर्गत बताते हैं। पण्डितराज का कहना है कि विषम अलङ्कार में और विषादन में यह भिन्नता है कि विषादन अलङ्कार में अभीष्ट अर्थ की इच्छा मात्र होती है और विषम अलङ्कार में अभीष्ट अर्थ का उद्योग किया जाता है।

——:※:——

(६८) उल्लास अलङ्कार

एक के गुण और दोष से दूसरे को गुण और दोष प्राप्त होने के वर्णन को उल्लास अलङ्कार कहते हैं।

उल्लास शब्द उत् और लश से बना है। यहाँ उत् उपसर्ग का अर्थ प्रबल और लश धातु का अर्थ सम्बन्ध है। अतः उल्लास का अर्थ है प्रबल सम्बन्ध। उल्लास अलङ्कार में एक पदार्थ के प्रबल गुण या दोष के सम्बन्ध से दूसरे को गुण या दोष प्राप्त होना कथन किया जाता है।

गुण से गुण—

सुमनन की सौरभ हरत बिरहिन हू के प्रान,
गंग-तरंगन सों वहू पावन है पवमान* ॥५६७॥

गङ्गाजी के पावन गुणों द्वारा यहाँ फूलों की सुगन्धि और वियोगी जनों के प्राण हरण करने वाले पवन को पवित्र होजाने रूप गुण की प्राप्ति है।

"गेह में लगे हैं तिय-नेह में पगे हैं पूर—
लोभ में जगे हैं औ अदेह तेह समुना।
कुटिल कुढंगन में क्रूरन के संगन में,
छके रतिरंगन में नंगन तें कमु ना।
'ग्वाल' कवि भनत गरूर भरे अतिपूर,
जानिये जरूर जिन्हें काहू की जु गमु ना।
लहर करैं ते हरि-लोक में लहरि करैं,
लहर तिहारी के लखैया मातु जमुना" ॥५६८॥

यहाँ यमुनाजी की तरङ्गों के दर्शन द्वारा पतितों को विष्णु-लोक की प्राप्ति रूप गुण होना वर्णन है।

दोष से दोष—

रहिबो उचित न मलय तरु! या कुवंस बनमांहि,
घिसत परस्पर ह्वै अनल सिगरो वन पजराहि ।५६९॥

यहाँ बाँसों के परस्पर घिसने से अग्नि-प्रकट होने रूप दोष से सारे वन के दग्ध हो जाने रूप दोष का होना कहा गया है।

---

* पवन।

गुण से दोष—

फल क्या नर के दृग का जननी ! यदि दीरघ वे मनहारी भी हों,
धिक हैं धिक कर्ण तथा वह भी यदि शोभित कुंडल धारी भी हों,
जिनसे अति रम्य उतंग तरंग तुम्हारी कभी जो निहारी न हों,
जिनसे ध्वनि कर्ण-रसायन ये सुनपाई जो मातु ! तुम्हारी न हों।

यहाँ श्रीगङ्गाजी के तरङ्गों की ध्वनि के गुण से उनके न सुनने वालों के कानों को धिक्कार रूप दोष कहा गया है।

इस छन्द के वाच्यार्थ में तो 'उल्लास' अलङ्कार है, जैसा कि यहाँ स्पष्ट किया गया है। और व्यंग्यार्थ में 'विनोक्ति' की ध्वनि है अतः गङ्गा-लहरी के जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है उसे रसगङ्गाधर में 'विनोक्ति' की ध्वनि और 'उल्लास' दोनों के उदाहरण में दिखाया गया है।

छोटे और बड़े जहाज जल में जो दीखते हैं खड़े,
है वो दृश्य विचित्र किन्तु हमको हैं हानिकारी बड़े,
ले जाते सब भारतीय-धन वे हा ! अन्न को भी वहाँ,
लाते हैं सब ऊपरी चटक की चीजें विदेसी यहां ॥६०१॥

यह बम्बई के समुद्र-तट का दृश्य वर्णन है। जहाजों के दृश्य की शोभा के गुण से जहाजों द्वारा भारतवर्ष का धन—कच्चा माल रूई, सन आदि विदेश ले जाने और ऊपरी चमक की विदेशी वस्तुओं के यहां आने से, इस देश की हानि होने रूप दोष कहा गया है।

उल्लास के इस भेद की रचना उर्दू काव्य में भी मिलती है—

"पान खा, खा न हँस इस दरजा तू ऐ दुश्मने जां,
अभी मर जायँगे खूं में लबो दंदान कई" ॥६०२॥

पान खाकर हँसने के गुण से यहाँ दर्शक को रक्त-वमन होने का दोष प्राप्त होना कहा गया है।

दोष से गुण—

"सूंघि स्वाद लै बांदरनि तज्यो मान मति माख,
किये न चूरन जतन करि रतन ! लाभ गनि लाख" ॥६०३॥

यहाँ बन्दरों की मूर्खता के दोष से रत्न का चूर्ण न होना, यह गुण कहा गया है।

उल्लास को कुवलयानन्द में स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। किन्तु 'उद्योतकार' उल्लास के पिछले दोनों भेदों को 'विषम' अलङ्कार के अन्तर्गत बतलाते हैं कुछ आचार्य उल्लास को 'काव्यलिङ्ग' के अन्तर्गत मानते हैं।*

—:※:—

(६९) अवज्ञा अलङ्कार

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण दोष प्राप्त न होने के वर्णन को 'अवज्ञा' अलङ्कार कहते हैं।

अवज्ञा का अर्थ है अनादर। किसी पदार्थ का अनङ्गीकार करना भी अनादर है। अवज्ञा अलङ्कार पूर्वोक्त 'उल्लास' का विरोधी है। उल्लास में अन्य के गुण दोषों का अङ्गीकार है और अवज्ञा में अन्य के गुण दोषों का अनङ्गीकार।

गुण से गुण के न होने में—

करि वेदांत विचार हू सठहि विराग न होय,
रंच न मृदु मैनाक भो निसिदिन जलनिधि-सोय ॥६०४॥

यहाँ वेदान्त शास्त्र के विचार रूप गुण से खल को वैराग्य प्राप्ति रूप गुण का न होना कहा गया है।

---

* देखिए रसगङ्गाधर उल्लास प्रकरण।

"डरपोक पने की तजी नहिं बान मँजे खल ! छिद्र विधानन में,
बदली नहिं बानी सुहानी कछू रहे पूरे भयानक तानन में।
सुचि भोजन में रुचि कीन्हीं नहीं सब खाइबो सीखो मसानन में,
करतूत कहौ भला कौन करी जो बसे तुम स्यारजू ! कानन में"।६०५

कानन (वन) में बस कर स्यार को बनवासी-विरक्तजनों के उत्तम गुणों का प्राप्त न होना यहाँ कहा गया है।

दोष से दोष के न होने में—

अनल-भाल-तल गल-गरल लसत सीस-कटि व्याल,
हरत न हर-तन-दुति तदपि नहिं भव-दारुन-ज्वाल ॥६०६॥

यहाँ ताप करने वाले अग्नि, विष और सर्पों के संग के दोष से श्रीमहादेवजी में क्रूरता आदि दोषों का अभाव कहा गया है।

'अवज्ञा' अलङ्कार कुवलयानन्द में स्वतन्त्र निरूपण किया गया है। कुछ आचार्य इसको पूर्वोक्त विशेषोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि विशेषोक्ति की भांति अवज्ञा में भी कारण के होते हुए कार्य का अभाव वर्णन किया जाता है।

——:※:——

(७०) अनुज्ञा अलङ्कार

किसी उत्कट गुण की लालसा (इच्छा) से दोष वाली वस्तु की भी इच्छा की जाने के वर्णन को 'अनुज्ञा' अलङ्कार कहते हैं।

'अनुज्ञा' में 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है अनुकूल और 'ज्ञा' धातु का अर्थ है ज्ञान। अनुज्ञा का अर्थ है अनुकूल ज्ञान। अनुज्ञा अलङ्कार में दोष वाली वस्तु को अपने अनुकूल जानकर उसकी इच्छा की जाती है।

"काहू सों माई! कहा कहिये सहिये जु सोई 'रसखान' सहावैं,
नेम कहा जब प्रेम लियो तब नाचिये सोई जो नाच नचावैं,
चाहतु हैं हम और कहा सखि ! क्योंहूँ कहूँ पिय देखन पावैं,
चेरिय सों जु गुपाल रचे तौ चलौरी सबै मिलि चेरी कहावैं" ६०७

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त होने की लालसा से दासी होने रूप दोष की इच्छा का यहाँ वर्णन है ।;

कपि ! यह तव उपकार है जीरन मो तन मांहि,
इच्छुक प्रत्युपकार के विपदा चाहत ताहि ॥६०८॥

हनुमानजी के प्रति श्रीरघुनाथजी ने यह कहा है कि श्रीजनकनन्दिनी के सन्देश लाने का हम पर जो तुमने उपकार किया है वह हमारे में ही जीर्ण हो जाय—हमारे द्वारा तुम्हारे पर प्रत्युपकार करने का अवसर ही न आवे क्योंकि जो प्रत्युपकार करना चाहता है वह अपने ऊपर उपकार करने वाले उपकारी के विषय में यह प्रतीक्षा करता है कि 'उसके ऊपर (उपकार करने वाले पर) कब विपत्ति आवे और कब मैं इस पर प्रत्युपकार करूँ ।' यहाँ 'हनुमानजी पर कभी विपद का समय न आय' इस गुण की लालसा से प्रत्युपकार न करने रूप दोष की इच्छा वर्णन की गई है ।

"प्रीति है तुम्हारी फिर भीति किसकी है मुझे,
आती है विपत्ति जो-जो उन्हें तुम आने दो ।
नैक डर डूबने का मुझको नहीं है नाथ !
प्रेम-सरिता में मुझे क्षेम से नहाने दो ।
आग अनुराग की लगी है उर-धाम में जो,
उसको बुझावो मत, मुझे जल जाने दो ।
फूल कर सुख से न भूल कहीं जाऊँ तुम्हें,
दुःख ही सदैव देव ! मुझको उठाने दो" ॥६०९॥

यहाँ दुःख में भगवान् का स्मरण रहने रूप गुण की लालसा से दुःख रूप दोष की इच्छा करना वर्णित है।

'अनुज्ञा' को कुवलयानन्द और रसगङ्गाधर में स्वतंत्र अलङ्कार माना है। अन्य आचार्यों के मतानुसार 'अनुज्ञा' पूर्वोक्त विशेष अलङ्कार के अन्तर्गत है*।

भारतीभूषण में अनुज्ञा अलङ्कार का—

"गुरु समाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ,
अछत राम राजा अवध मरिय मांगि सब कोउ"॥६१०॥

यह उदाहरण दिया है। पर इस दोहे में अयोध्या की प्रजा द्वारा मरण रूप दोष की इच्छा नहीं की गई है किन्तु प्रजा द्वारा यह इच्छा की गई है कि 'हम लोगों के मरण समय तक राम-राज्य ही रहे अर्थात् हमारे जीतेजी अन्य राजा न होकर राम-राज्य चिरकाल तक स्थिर रहे' अतः यहाँ अनुज्ञा नहीं।

(७१) तिरस्कार अलङ्कार

गुण वाली वस्तु का भी किसी दोष युक्त होने के कारण तिरस्कार किये जाने के वर्णन को 'तिरस्कार' अलङ्कार कहते हैं।

तिरस्कार का अर्थ है निरादर। यह अलङ्कार पूर्वोक्त 'अनुज्ञा' का विरोधी है। अनुज्ञा में दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है और तिरस्कार में गुण वाली वस्तु का अनादर किया जाता है।

---

* देखिये काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या विशेष अलङ्कार प्रकरण।

तिरस्कार अलङ्कार को पण्डितराज ने नवीन निरूपण किया है।

जिन ह्वै बहु श्रिय बिभव तिय गज तुरंग अरु बाग ,
जिनके बस नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग ॥६११॥

भगवद्भक्ति के बाधक रूप दोष युक्त होने के कारण यहाँ वैभव आदि का तिरस्कार वर्णन है।

विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मरजाना भला,
सह के अपमान सुधारस ले निज जीवन को न गिराना भला,
यह गौरव-पूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपनाना भला,
वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं अति निंद्य नहीं दिखलाना भला।

इस पद्य में 'अनुज्ञा' और 'तिरस्कार' दोनों मिश्रित हैं। प्रथम पाद में सन्मान रूप गुण युक्त होने के कारण विष द्वारा मर जाने रूप दोष की इच्छा की जाने में अनुज्ञा है और दूसरे पाद में अपमान रूप दोष युक्त होने के कारण अमृत के अनादर किये जाने में तिरस्कार है।

——:o:——

(७२) लेश अलङ्कार

दोष को गुण अथवा गुण को दोष कल्पना करने को लेश' अलङ्कार कहते हैं।

'लेश' का अर्थ है एक अंश या भाग। इसमें गुण वाली वस्तु के एक अंश में दोष या दोष वाली वस्तु के एक अंश में गुण दिखाया जाता है।

दोष को गुण—

"रूख रूख के फलन को लेत स्वाद मधु-छाक,
बिन इक मधुरी बानि के निधरक डोलत काक" ॥६१२॥

काक में मीठी-वाणी न होने रूप दोष में यहाँ बहुत से वृक्षों के फलों का रसास्वादन और स्वतन्त्र फिरना, यह गुण कल्पना किया गया है। इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' मिश्रित है।

अंध हैं धन्य अनन्य अहो ! धन अंधन के मुख कों न लखावैं,
पांगुरे हू जग-बंध सदा, नहिं जाचक ह्वै किहिं के घर जावैं,
मूकहु हैं बड़भागी तथा करि चाटुता जो किहिं कों न रिझावैं,
हैं बहिरे स्तुति-जोग न क्यों खल के कटु-बैन न जो सुनि पावैं।

यहां अन्धता, पंगुता, मूकता और बधिरता रूप दोषों में एक एक गुण कल्पना किये गए हैं।

"रहिमन' विपदा हू भली जो थोरे दिन होय
हित अनहित या जगत में जानि परतु सब कोय" ॥६१४॥

यहां विपदा रूप दोष में हितैषी और अहितैषी जनों की परीक्षा हो जाने का गुण कल्पना किया गया है।

वर कुपुत्र जग मांहि नेह-फाँस सतपुत्र सों,
जग सब दुखद लखाहिं ह्वै विराग को हेतु वह ॥६१५॥

यहाँ कुपुत्र रूप दोष में वैराग्य प्राप्त होने रूप गुण कल्पना किया गया है।

गुण को दोष—

मृगमद ! जिन यह गरब कर मो सुगन्ध विख्यातु,
दीन लीन-वन निज-जनक प्रान-हीन करवातु ॥६१६॥

यहाँ कस्तूरी के सुगन्ध रूप गुण में अपने उत्पादक मृगों के मरने का कारण होने का दोष कल्पना किया गया है।

'व्याजस्तुति' अलङ्कार में प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ के विपरीत तात्पर्य होता है। 'लेश' में यह बात नहीं। जैसे 'मृगमद जिन'……'

में कस्तूरी की स्तुति अभीष्ट नहीं किन्तु वह उत्पादक की प्राण-नाशक होने के कारण उसकी निन्दा ही की गई है। और 'अवज्ञा' अलङ्कार में उत्कट गुण की लालसा से दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है और 'लेश' में दोष वाली वस्तु में गुण, या गुणवाली वस्तु में दोष कल्पना किया जाता है।

—:※:—

(७३) मुद्रा अलङ्कार

प्रस्तुत अर्थ के पदों द्वारा सूचनीय अर्थ के सूचन किए जाने को 'मुद्रा' अलङ्कार कहते हैं।

'मुद्रा' नामाङ्कित मुहर या चपड़ास को कहते हैं। इसी लोकप्रसिद्ध मुद्रा न्याय के अनुसार इस अलङ्कार का नाम मुद्रा है। जैसे नामाङ्कित मुहर या चपड़ास द्वारा किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सूचन किया जाता है, उसी प्रकार मुद्रा अलङ्कार में प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ का सूचन किया जाता है। यह अलङ्कार सम्भवतः कुवलयानन्द में नवीन लिखा गया है।

न मुदितवदना ही पुष्पिताग्रा लखाती,
न सु-कुसुमविचित्रा स्रग्धरा भी दिखाती,
न ललित इससे यों हारिणी शालिनी है,
यह मृदु पद वाली सुन्दरी मालिनी है॥६१७॥

यह किसी मालिनी※ (मालिन) का वर्णन है। मालिनी के प्राकरणिक-वर्णन के पदों द्वारा यहाँ इस छन्द का 'मालिनी' नाम सूचन किया गया है।

※ मालिन के पक्ष में यह अर्थ है कि यह मुदितवदना यद्यपि पुष्पिताग्रा नहीं है अर्थात् इसके आगे फूलों की डलिया नहीं है न

"करुणे क्यों रोती है ?
'उत्तर' में और अधिक तू रोई,
मेरी विभूति है जो,
उसको भवभूति क्यों कहे कोई" ॥६१८॥

'साकेत' के इस पद्य में 'करुणा' के प्राकरणिक वर्णन के प्रसंग में 'उत्तर' और 'भवभूति' पदों द्वारा महाकवि भवभूति के करुण रस पूरित 'उत्तर रामचरित' नाटक का सूचन किया गया है।

नाटकों में वक्ष्यमाण अर्थात् आगे को कहे जाने वाले प्रासंगिक अर्थ के सूचन में भी यह अलङ्कार देखा जाता है जैसे—

नीति रीति जो चलत तिहिं तिर्यक होय सहाय,
कुपथ चलै तिहिं कों तजहिं सोदर हू जग मांय ॥६१९॥

महाकवि मुरारि कृत संस्कृत के 'अनर्घराघव' नाटक के जिस पद्य का यह अनुवाद है, वह नाटक के प्रारम्भ में ही सूत्रधार द्वारा कहा गया है। इस में किये जाने वाले श्री रघुनाथ-चरित्र नाटक के विषय का प्रथम ही सूचन किया गया है, कि नीतिपथानुयायी भगवान् रामचन्द्र की तिर्यक योनि—वानर रीछों—ने भी सहायता की और जय हुई तथा कुपथगामी रावण को उसके सहोदर-भाई विभीषण ने भी त्याग दिया और उसकी पराजय हुई। यह उदाहरण कुवलयानन्द की अलङ्कार-चन्द्रिका टीका में दिखाया गया है। किन्तु हमारे विचार में यहाँ सामान्य निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है। क्योंकि इस पद्य में

विचित्र पुष्पों की माला ही लिये हुए है और न इसकी अपेक्षा जो लज्जा-शील (दूसरी मालिन) फूलों के हारवाली है वह सुन्दर है। यह कोमल चरणों वाली 'मालिनी' सुन्दर है। मालिनी छन्द के पक्ष में यह अर्थ है कि 'यह प्रमुदितवदना' 'पुष्पिताग्रा' 'स्रग्धरा' 'कुसुमविचित्रा' 'हारिणी' और 'सालिनी' छन्द नहीं है यह कोमल पदावली वाला मालिनी छन्द है।

जो सामान्य बात कही गई है वह प्रस्तुत (प्राकरणिक) नहीं,—श्रीराम और रावण का विशेष वृत्तान्त सूचन करना प्रस्तुत है, वह न कह कर यहाँ सामान्य वृत्तान्त कहा गया है।

——:※:——

(७४) रत्नावली अलङ्कार

जिनका साथ कहा जाना प्रसिद्ध हो ऐसे प्राकरणिक अर्थों के क्रमानुसार वर्णन को 'रत्नावली' अलङ्कार कहते हैं।

रत्नावली का अर्थ है रत्नों की पंक्ति। इस अलङ्कार में रत्नों की पंक्ति की भाँति क्रमानुसार प्राकरणिक अर्थों का क्रमशः वर्णन होता है।

नव-नील सरोजन कों इहि के जुग-दीरघ-नैनन पत्र दियो,
गज-कुंभन सों इहिके कुच-कुंभन पूरब-पच्छ स-दच्छ ठयो,
अति बंक निसंक भई भृकुटी स्मर के धनु को अनुवाद छयो,
पुनि हास विलास भरे मुख सों इन खंडन चंद्र प्रकाश कियो।६२०

नायिका की अंग-शोभा के इस वर्णन में विद्वानों के शास्त्रार्थ का क्रम* वर्णन किया गया है। यह अलङ्कार कुवलयानन्द में ही है।

---

* विद्वज्जनों के शास्त्रार्थ में यह क्रम प्रसिद्ध है कि प्रथम शास्त्रार्थ के लिये पत्र दिया जाता है, फिर पूर्व पक्ष किया जाता है फिर प्रतिपक्षी के लेख का अनुवाद और उसके पीछे खण्डन किया जाता है। यहाँ यही क्रम दिखाया गया है कि इस नायिका के दीर्घ नेत्रों ने नवीन नीले कमलों को शास्त्रार्थ के लिये पत्र दिया है, कुच रूप कुम्भों ने हाथी के कुम्भों से पूर्व-पक्ष किया है, बांकी भृकुटियों ने कामदेव के धनुष का निःशंक अनुवाद किया है और हास्ययुक्त मुख ने चन्द्रमा के प्रकाश का खण्डन कर दिया है।

(७५–७६) तद्गुण और पूर्वरूप अलङ्कार

अपना गुण त्याग कर उत्कट गुण वाली निकटवर्ती दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण करने के वर्णन को 'तद्गुण' अलङ्कार कहते हैं।

तद्गुण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए काव्यप्रकाश में कहा है— 'तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीतितद्गुणः'। अर्थात् किसी वस्तु में अन्यदीय गुण का होना। इस अलङ्कार में लक्षणानुसार अन्यदीय गुण का ग्रहण होता है।

यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ रंग और रूप लिया गया है† ।

"अति सुंदर दोनों कानों में जो कहलाते शोभागार,
एक एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर-प्रतिबिम्ब-युक्त था कांत कपोल युग्म उस काल,
कभी श्वेत था कभी हरा था कभी-कभी होता था लाल।"६२१

यहाँ दमयन्ती के कपोलों द्वारा अपना गुण त्याग कर समीपवर्ती अनेक रत्न-जटित कर्ण-भूषण का श्वेत, हरा और रक्त गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

दूसरे का गुण ग्रहण करके जहाँ फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है वहां भी 'तद्गुण' होता है।

अरुण कांति से अश्व-सूर्य के भिन्न वर्ण हो जाते हैं,
रैवत-गिरि के निकट पहुँच जब प्रतिभा उसकी पाते हैं।
तब अपना ही नील-वर्ण फिर पाकर वे दृग आते हैं,
अरुणोदय का दृश्य एक, कवि माघ हमें बतलाते हैं॥६२२॥

† 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूत्रे वृकोदरे।' —केशव कोश।

माघ कवि कृत शिशुपाल-वध में यह रैवतक पर्वत का वर्णन है। सूर्य के सारथी अरुण की प्रभा से सूर्य के रथ के नीले रंग के अश्वों का भिन्न वर्ण हो जाने के पश्चात् रैवतक गिरि के समीप आने पर उसके नीले प्रतिबिम्ब द्वारा फिर उनका वही नीला वर्ण हो जाना वर्णन है।

"लखत नीलमनि होत अलि ! कर विद्रुम दिखरात,
मुकता को मुकता बहुरि लख्यो तोहि मुसक्यात" ॥६२३॥

यहाँ मोतियों द्वारा नायिका के नेत्रों का नील गुण फिर हाथ में रक्खे जाने पर हाथ का रक्त गुण ग्रहण करके पुनः अपने गुण के समान नायिका के हास्य का श्वेत गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

कुवलयानन्द में पिछले दोनों (संख्या ६२२–६२३) उदाहरणों में पूर्व रूप अलङ्कार माना है। काव्यप्रकाश में इस प्रकार के उदाहरण तद्गुण के अन्तर्गत ही दिखाये गये हैं। वस्तुतः कुछ विशेषता भी नहीं है अतः तद्गुण ही माना जाना युक्तियुक्त है।

और देखिये—

"कालिह ही गूंथि बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी यह आला
आय कहां ते गई पुखराज की, संग गई जमुना-तट बाला,
न्हात उतारी मैं 'बेनीप्रवीन' हँसे सुनि बैनन नैन विसाला,
जानति ना अँग की बदली, सबसों बदली बदली कहै माला।"

यहाँ यद्यपि कञ्चन-वर्णा नायिका के अंग-प्रभा का मोतियों की माला द्वारा पीत गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है किन्तु इस वर्णन में तद्गुण गौण है और भ्रान्ति प्रधान है अतएव तद्गुण यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार का अंग मात्र है।

—:*:—

(७७) अतद्गुण अलङ्कार

समीपवर्ती वस्तु के गुण का ग्रहण किया जाना सम्भव होने पर भी ग्रहण नहीं किये जाने को अतद्गुण अलङ्कार कहते हैं।

अतद्गुण अलङ्कार पूर्वोक्त तद्गुण का विरोधी है। अतः तद्गुण के विपरीत इस अलङ्कार में लक्षण के अनुसार अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण नहीं किया जाता है।

उदाहरण—

आप अपना हृदय उज्वल कह रहे,
रंग उस पर प्रिय! नहीं चढ़ता कहीं,
राग पूरित हृदय में रखती उसे,
रक्त फिर भी वह कभी होता नहीं ॥६२५॥

यहाँ नायिका के राग भरे हुए (अनुराग युक्त अथवा श्लेषार्थ-रंग भरेहुए) हृदय के रक्त गुण द्वारा नायक के उज्ज्वल हृदय का रक्त होना (उज्ज्वल वस्तु का रक्त वस्तु में रहकर रक्त होना) सम्भव होने पर भी रक्त न होना कहा गया है।

प्रकृत द्वारा किसी कारण वश अप्रकृत का रूप नहीं ग्रहण किये जाने में भी अतद्गुण होता है। जैसे—

कालिंदी के असित और सित गंगा के जल में स्थित तू—
स्नान नित्य करता रहता है तरण-केलि में हो रत तू,
किंतु नहीं घटती बढ़ती वह तेरी विमल शुभ्रता है,
राजहंस ! तेरे में क्या ही अकथनीय अनुपमता है ॥६२६॥

गंगाजल के श्वेत गुण का और यमुनाजल के नील गुण का हंस द्वारा ग्रहण न किये जाने का कारण यहाँ राजहंस होना कहा गया है।

तद्गुण और अतद्गुण का उल्लास और अवज्ञा से पृथक्करण—

एक के गुण से दूसरे को गुण होने में 'उल्लास' और एक के गुण से दूसरे को गुण न होने में अवज्ञा अलङ्कार कहा गया है, पर उल्लास और अवज्ञा से तद्गुण और अतद्गुण में यह भेद है कि उल्लास और अवज्ञा के लक्षणों में 'गुण' शब्द है वह 'दोष' शब्द का प्रतिपक्षी है—वहाँ एक के गुण से दूसरे स्थान पर गुण के होने और न होने में उसी के गुण का मिलना और न मिलना नहीं है। किन्तु सद्गुरु के उपदेश से अच्छे और बुरे शिष्यों के जैसे ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति होती है उसी प्रकार उसके गुण से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रसिद्ध गुण का होना और न होना है। किन्तु तद्गुण और अतद्गुण के लक्षणों में 'गुण' शब्द है वह दूसरे के गुण से ही रंगना और न रंगना है, जैसे रक्त-रंग से सफेद वस्तु का रक्त होना और मलिन वस्तु का न होना। यद्यपि 'अवज्ञा' और अतद्गुण दोनों अलङ्कार कारण के होते हुए कार्य न होने रूप 'विशेषोक्ति' अलङ्कार के अन्तर्गत आ जाते हैं पर इनमें दूसरे के गुण का ग्रहण न होने रूप विशेष चमत्कार होने के कारण उल्लास और तद्गुण के विरोधी रूप में इन्हें भिन्न अलङ्कार माने गये हैं।

---

(७८) अनुगुण अलङ्कार

दूसरे की समीपता से अपने स्वाभाविक गुण के उत्कर्ष होने को 'अनुगुण' अलङ्कार कहते हैं।

'अनु' और 'गुण' मिलकर अनुगुण शब्द बना है। यहाँ 'अनु' उपसर्ग का अर्थ आयाम* (दीर्घता या बढ़ना) है। अर्थात् गुण का

---

* देखिये शब्द कल्पद्रुम।

बढ़ना। अनुगुण अलङ्कार में किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का अन्यदीय गुण के सम्बन्ध से उत्कर्ष होना कहा जाता है।

कपि पुनि मदिरा-मत्त ह्वै बिच्छु डसै पुनि ताहि,
तापर लागै भूत तब विकृति कहा कहिजाहि ॥६२७॥

यहाँ बन्दरों के स्वतःसिद्ध वैकृत का मद्यादि से और भी अधिक वैकृत होना कहा गया है।

"काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली, जानि,
तिय विसेष पुनि चेरि कह भरत-मातु मुसकानि" ॥६२८॥

यहाँ मन्थरा के स्वतःसिद्ध कौटिल्य का स्त्री और दासी होने से आधिक्य वर्णन है।

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'अनुगुण' को स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा है। उद्योतकार ने इसको तद्गुण के अन्तर्गत बताया है। किन्तु तद्गुण में गुण शब्द का प्रयोग वर्ण (रंग) के अर्थ में है और अनुगुण में 'गुण' का प्रयोग इस अर्थ में नहीं अतः यह तद्गुण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

——:*:——

(७६) मीलित अलङ्कार

किसी वस्तु के स्वाभाविक अथवा आगन्तुक* साधारण (एक समान) चिह्न द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान† होने के वर्णन को मीलित अलङ्कार कहते हैं।

मीलित का अर्थ है मिलजाना। मीलित अलङ्कार में नीरक्षीर न्याय के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर छिप जाती है।

---

* किसी कारण वश आये हुए। † दिखाई न देना, छिपाया जाना।

स्वाभाविक-धर्म द्वारा तिरोधान—

"पान-पीक अधरान में सखी ! लखी नहिं जाय,
कजरारी-अँखियान में कजरा री ! न लखाय"॥६२८॥

यहां नायिका के अधरों की स्वाभाविक रक्तता के साधारण (समान) चिह्न धारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान—छिपजाना है। इसी प्रकार स्वाभाविक कजलौटे नेत्रों में कज्जल का छिप जाना है।

आगन्तुक-धर्म द्वारा तिरोधान—

नृप ! तेरे भय भगि वसत हिम-गिरि-गुह अरि जाय,
कंपित पुलकित रहत वे भीत न तऊ लखाँय ॥६२९॥

किसी राजा के प्रति उक्ति है—तेरे से भयभीत होकर हिमालय की गुफाओं में निवास करने वाले तेरे शत्रु-गण यद्यपि वहाँ तेरे भय के कारण कम्पायमान रहते हैं फिर भी वहाँ के लोग उन्हें हिमालय के शीत से कम्पित समझते हैं। यहाँ हिमालय के शीत-जनित समझी हुई कम्पा द्वारा राजा के भय-जनित कम्पा का छिप जाना है। हिमालय के शीत से शत्रुओं को कम्पा होना आगन्तुक है न कि स्वाभाविक।

पूर्वोक्त 'तद्गुण' में साधारण (तुल्य) चिह्न वाली वस्तु का तिरोधान नहीं है किन्तु उत्कट-गुण वाली वस्तु का केवल गुण ग्रहण है। जैसे श्वेत मोतियों को विद्रुम का गुण प्राप्त होना। किन्तु 'मीलित' के 'पान पीक' आदि उदाहरणों में अधरों की अधिक रक्तता रूप तुल्य-धर्म द्वारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान है।

इसको काव्यादर्श में अतिशयोक्ति का एक भेद माना है।

———:※:———

(८०) सामान्य अलङ्कार

प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ गुण की समानता कहने की इच्छा से एकात्मता वर्णन को 'सामान्य' अलङ्कार कहते हैं।

सामान्य का अर्थ है समान का भाव। सामान्य अलङ्कार में प्रकृत और अप्रकृत का साम्य कहा जाता है। अर्थात् अप्रस्तुत के समान गुण न होने पर भी समान गुण कहने के लिए अत्यक्त-गुण वाले (अपना गुण नहीं छोड़ने वाले) प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ एकात्मता वर्णन की जाती है।

चंद्र-मुखी लखि चांदनी चंदन-चर्चित चारु,
सजि पट भूषन कुसुम सित मुदित कियो अभिसारु ॥६३०॥

यहाँ अप्रस्तुत चन्द्रमा के समान प्रस्तुत कामिनी में वस्तुतः कान्ति न होने पर भी चन्द्रमा की कान्ति के समान कहने की इच्छा से शुक्लाभिसारिका (चन्दनादि से सफेद सिंगार करके प्रिय के निकट अभिसार करने वाली) नायिका की चन्द्रमा के साथ एकात्मता (एक रूपता) वर्णन की गई है।

कुवलयानन्दकार ने जहाँ 'सादृश्य से कुछ भेद प्रतीत नहीं होता है' वहाँ भी यह अलङ्कार माना है। जैसे—

रतनन के थंभन घने लखि प्रतिबिंब समान,
सक्यो न अंगद दशमुखहिं सभा मांहि पहिचान ॥६३१॥

यहाँ रत्न-स्तम्भों में रावण के अनेक प्रतिबिम्बों के सादृश्य में और साक्षात् रावण में कुछ भेद की प्रतीत न होना कहा है।

"दोसंगनगौरन के गौर के उछाहन में
छाई उदैपुर में बधाई ठौर ठौर है।

दैखो भीम राना या तमासो ताकिबे के लिये
माची आसमान में बिमानन की भौर है।
कहै 'पद्माकर' त्यों धोखे मा उमा के गज—
गौनिन की गोद में गजानन की दौर है।
पार पार हेला महामेला में महेस पूछें
गौरन में कौनसी हमारी गनगौर है" ॥६३२॥

यहाँ गनगौरों के उत्सव में गौरीजी की समानता किसी में न होने पर भी अनेक सुन्दरी नायिकाओं में और श्रीगौरीजी में भेद की अप्रतीति वर्णन की गई है।

सामान्य और मीलित का पृथक्करण—

'मीलित' में बलवान् वस्तु द्वारा उसी गुणवाली निर्बल वस्तु के स्वरूप का तिरोधान होता है। और 'सामान्य' में दोनों वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत होने पर भी गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीति होती है। लक्षण में 'अत्यक्त निजगुण' के कथन द्वारा 'तद्गुण' से पृथक्ता की गई है क्योंकि 'तद्गुण' में निजगुण त्याग कर दूसरे का गुण ग्रहण होता है। सामान्य में निज गुण का त्याग नहीं होता है।

———:※:———

(८१) उन्मीलित अलङ्कार

सादृश्य होने पर भी कारण-विशेष द्वारा भेद की प्रतीति के वर्णन को 'उन्मीलित अलङ्कार' कहते हैं।

'उन्मीलित' अलङ्कार पूर्वोक्त 'मीलित' का विरोधी है। अर्थात् मीलित के विपरीत इस अलङ्कार में एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर भी किसी कारण-वश पृथक् प्रतीत होने लगती है।

"चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाय,
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाय" ॥६३३॥

यहाँ चम्पक के पुष्प जैसी अंग कांती वाली श्रीजानकीजी में और चम्पा की माला में भेद प्रतीत न होने पर, चम्पक की माला के कुम्हलाने रूप कारण द्वारा भेद ज्ञात होना कहा गया है।

"देखिबे को दुति पून्यो के चंद की हे 'रघुनाथ' श्रीराधिका रानी,
आइ बिलोर के चौंतरे ऊपर ठाढ़ी भई सुख सौरभ सानी,
ऐसी गई मिलि जोन्ह की ज्योति सों रूप की रासि न जाति बखानी,
बारन तें कछु भौंहन तें कछु नैनन की छवि तें पहिचानी" ॥६३४

यहाँ चन्द्रमा की चाँदनी से श्रीराधिकाजी का भेद उनके श्यामवर्ण के केशों आदि द्वारा ज्ञात होना कहा है।

"मिलि चंदन-बैंदी रही गोरे मुख न लखाय,
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै त्यों-त्यों उघरत जाय" ॥६३५॥

गौर वर्णा नायिका के भाल पर चन्दन की बैंदी का भेद यहाँ मद-पान की रक्तता के कारण ज्ञात होना वर्णन है।

उन्मीलित अलङ्कार को और इसी से मिलते हुए 'विशेषक' नामक अलङ्कार को कुवलयानन्द में पूर्वोक्त 'मीलित' और सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) मानकर भिन्न लिखे गये हैं। पर काव्यप्रकाश में इन दोनों को 'सामान्य' के अन्तर्गत माने गये हैं। 'उद्योतकार' ने स्पष्टता की है कि 'कारणविशेष द्वारा भेद प्रतीत होने पर भी जिस अभेद की प्रथम प्रतीति हो चुकी है, वह अभेद दूर नहीं हो सकता'। जैसे 'चंपक हरवा..............' (संख्या ६३३) में चंपक की कान्ति के साथ अंग-कान्ति का जो अभेद प्रथम जाना गया है, वह (चम्पक के कुम्हला जाने पर उनका भेद ज्ञात होने पर भी) दूर नहीं हो सकता, अतएव

ऐसे स्थल पर 'सामान्य' अलङ्कार ही है। इसलिए यहाँ 'विशेषक' अलङ्कार नहीं लिखा है।

———:*:———

(८२) उत्तर अलङ्कार

'उत्तर' का अर्थ स्पष्ट है। उत्तर अलङ्कार में चमत्कारक उत्तर होता है। यह दो प्रकार का होता है।

प्रथम उत्तर

उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्न का अनुमान किया जाने अथवा बारबार प्रश्न करने पर असम्भाव्य (अप्रसिद्ध) बारबार उत्तर दिये जाने को प्रथम 'उत्तर' अलङ्कार कहते हैं।

यह दो प्रकार का होता है—

(क) उन्नीत प्रश्न। अर्थात् व्यंग्य युक्त उत्तर सुन कर ही प्रश्न की कल्पना किया जाना।

(ख) निबद्ध-प्रश्न। अर्थात् कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध (दुर्ज्ञेय) उत्तर दिया जाना।

उन्नीत प्रश्न—

बनिक! नहीं गजदंत इत सिंहछाल हू नाहिं,
ललितालक-मुख-सुत-बधू है मेरे घर मांहि ॥६३६॥

हाथी दाँत और सिंह की चर्म के ग्राहक के प्रति यह वृद्ध-व्याध का उत्तर वाक्य है। इसी उत्तर-वाक्य द्वारा ग्राहक के 'क्या तेरे यहाँ हाथी दाँत और सिंह-चर्म हैं?' इस प्रश्न का अनुमान हो जाता है। और वृद्ध व्याध का दूसरा वाक्य (दोहे का उत्तरार्द्ध) यदि साभिप्राय

समझा जाय तो यह अभिप्राय है कि 'मेरा पुत्र अपनी सुन्दर अलकों वाली रूपवती स्त्री में ऐसा आसक्त है कि उसे छोड़कर वह कहीं बाहर जाता ही नहीं'।

यह श्लेष-गर्भित भी होता है—

सुवरन* खोजत हौं फिरौं सुंदरि ! देस-विदेस,
दुरलभ है यह समुझि जिय चिंतित रहौं हमेस ॥६३७॥

यह किसी तरुणी के प्रति किसी नागरिक की उक्ति है। इसमें तरुणी के इस प्रश्न की कल्पना की जाती है कि 'तुम चिन्ता-ग्रस्त किस लिये हो ?'

निबद्ध-प्रश्न—

कहा विषम ? है दैव-गति सुख कह ? निरुज सुअंग,
का दुरलभ ? गुन-गाहक हि, दुख कह ? दुरजन-संग ॥६३८॥

यहाँ 'कहा विषम' आदि कई प्रश्नों के 'दैव-गति' आदि कई अप्रसिद्ध उत्तर दिये गये हैं।

पण्डितराज का मत है कि उन्नीत प्रश्न और निबद्ध प्रश्न दोनों ही में प्रश्नोत्तर कहीं साभिप्राय (व्यंग्य-युक्त) और कहीं व्यंग्य-रहित होते हैं। निबद्ध-प्रश्न में व्यंग्य-युक्त प्रश्नोत्तर का उन्होंने यह उदाहरण दिया है—

मृगलोचनि ! क्यों कृश-गात बता ? यह व्याधि तुम्हारी असाध्य है क्या?
पथ-भ्रष्ट हुए पथिकों से कभी कुल-कामिनियाँ कहीं साध्य हैं क्या?
कहिये न, तथापि कृपा करके यह अंतर में कुछ आधि है क्या?
घर जाकर पूछिये क्यों न वहाँ निज कामिनि से यह व्याधि है क्या ? ६३९

---

* सुवर्ण अथवा सुन्दर रूप।

प्रोषितपतिका नायिका का और किसी पथिक का यह परस्पर में प्रश्नोत्तर है। प्रथम पाद में 'तू कृश क्यों है' इस प्रश्न में 'जो कारण कहेगी तो मैं उसका उपाय करूँगा' यह अभिप्राय है। दूसरे पाद में नायका द्वारा दिये गए उत्तर में 'इसका कारण मैं पतिव्रता परपुरुष के प्रति नहीं कह सकती और न तू उपाय ही कर सकता है' यह अभिप्राय है। तीसरे पाद के पथिक के दूसरे प्रश्न में 'अरसिक जनों के हठ मात्र पातिव्रत्य में क्या है' यह अभिप्राय है। चौथे पाद में नायिका द्वारा दिये गये उत्तर में यह अभिप्राय है कि 'जो मेरी दशा है वही दशा तेरी पत्नी की भी है उसका उपाय कर—अपने जलते हुए घर को छोड़कर दूसरे के घर की अग्नि बुझाने का शौक क्यों करता है' ?

इस निबन्ध प्रश्न में और 'परिसंख्या' में यह भेद है कि वहाँ लोक-प्रसिद्ध उत्तर का दूसरी वस्तु के निषेध में तात्पर्य होता है और अप्रसिद्ध उत्तर भी नहीं होते। और यहाँ 'दैवगति' आदि उत्तरों का 'विषमता' मात्र कहने में ही तात्पर्य है, न कि किसी दूसरी वस्तु के निषेध में और यहाँ अप्रसिद्ध उत्तर है।

उत्तर अलङ्कार का काव्यलिंग और अनुमान से पृथक्करण—

'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार में निष्पादक-हेतु होता है और इस (उत्तर) अलङ्कार में उत्तर-वाक्य, प्रश्न का उत्पादक या निष्पादक, हेतु नहीं किन्तु उसका ज्ञापक (बोध कराने वाला) होता है। यद्यपि-ज्ञापक-हेतु 'अनुमान' अलङ्कार में होता है। परन्तु अनुमान अलङ्कार में साध्य और साधन दोनों कहे जाते हैं। उत्तर अलङ्कार में केवल उत्तर-वाक्य ही कहा जाता है। उद्योतकार का कहना है कि काव्यलिंग की संकीर्णता (मिला-वट) मान लेने पर भी उत्तर अलङ्कार में उत्तर-वाक्य द्वारा प्रश्न की कल्पना की जाने का चमत्कार विशेष होने के कारण इसे स्वतन्त्र अलङ्कार माना जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

'उत्तर' अलङ्कार के इस भेद को 'प्रश्नोत्तर' अलङ्कार भी कहते हैं। और अन्तर्लापिका भी कहते हैं।

———:※:———

(८३) सूक्ष्म अलङ्कार

किसी इङ्गित (नेत्र या भृकुटी-भङ्गादि की चेष्टा) या आकार से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ (रहस्य) को किसी युक्ति से सूचित किये जाने को 'सूक्ष्म' अलङ्कार कहते हैं।

सूक्ष्म का अर्थ है, तीक्ष्ण-बुद्धि द्वारा सहृदय जनों के जानने योग्य रहस्य※। इस अलङ्कार में लक्षणानुसार सूक्ष्म अर्थ का सूचन किया जाता है।

चेष्टा द्वारा लक्षित सूक्ष्म—

विट-हिय प्रश्न सहेट को समुझि तिया परबीन,
लीला-कमल समेटि हँसि सैनन सूचन कीन ॥६४४॥

संकेत (मिलने) का समय पूछने के इच्छुक अपने प्रेमी को नायिका ने कमल को मूँदने की चेष्टा से—रात्रि का समय सूचन किया है, क्योंकि कमल रात्रि में मुँद जाते हैं। यहाँ संकेतकाल का प्रश्न सूक्ष्म अर्थ इङ्गित (चेष्टा) द्वारा लक्षित है।

आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्म—

"मोर पखा-ससि सीस धरैं श्रुति में मकराकृत कुंडल धारी,
काछ्र कछे पट-पीत मनोहर कोटि मनोजन की छबि बारी,
'छत्रपती' भनि लै मुरली कर आइ गये तहँ कुंजबिहारी,
देखत ही चख लाल के बाल प्रवाल की माल गले बिच डारी॥

※ सूक्ष्मः तीक्ष्णमतिसंवेद्यः—काव्यप्रकाश वृत्ति।

यहाँ रक्त नेत्र द्वारा रात्रि में अन्य गोपी के समीप रहना जानकर नायिका ने इस रहस्य को प्रवाल की माला कुञ्जविहारी को पहिराने की युक्ति द्वारा सूचन किया है।

कुवलयानन्द में इङ्गित और आकार के सिवा जहाँ उक्ति द्वारा सूक्ष्म-अर्थ सूचित किया जाता है, वहाँ भी सूक्ष्म अलङ्कार माना है—

संकेतस्थल प्रश्न जान हरि का गोपांगना ने वहाँ,
बैठी देख व्रजांगना निकट में चातुर्य से यों कहा—
कैसी निश्चल हैं सरोज-दल पै बैठी बलाका वहाँ
मानो मर्कत-पात्र में अयि सखी ! सीपीं धरी हों कहाँ॥६४६॥

श्रीकृष्ण द्वारा किये हुए संकेत स्थान के प्रश्न को समझ कर गोपी ने यहाँ सखी के प्रति—'देख कमलपत्र पर वहाँ बक पक्षी कैसे निश्चल बैठे हुए हैं' इस उक्ति द्वारा उस स्थान को निर्जन होने के कारण बकों की निर्भयता सूचन करके नायक को एकान्त का संकेत स्थान सूचित किया है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में यदि संकेत स्थान का प्रश्नोत्तर स्पष्ट न कहा जाता तो यहाँ अलङ्कार न होकर 'ध्वनि' हो सकती थी।

आकार-लक्षित-सूक्ष्म अर्थ के ज्ञाता द्वारा साकूत चेष्टा की जाने में कुवलयानन्द में 'पिहित' अलङ्कार माना है। परन्तु काव्यप्रकाश में इसे सूक्ष्म का ही एक प्रकार माना गया है। पिहित का विषय अन्य है वह आगे पिहित के लक्षण और उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

(८४) पिहित अलङ्कार

एक अधिकरण में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से जहाँ आविर्भूत अ-समान अर्थान्तर को आच्छादित कर लेता है वहाँ पिहित अलङ्कार होता है।

पिहित का अर्थ है आच्छादन करना—किसी दूसरे पदार्थ को ढक लेना। पिहित अलङ्कार में एक अधिकरण (आश्रय) में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से दूसरी वस्तु को—ऐसी वस्तु को जो उसके समान न हो—ढक लेता है। लक्षण में 'अ-समान' का प्रयोग पूर्वोक्त 'मीलित' से पृथक्ता बतलाने के लिए किया गया है। क्योंकि मीलित में समान गुण (चिह्न) द्वारा अन्य वस्तु का तिरोधान है। यह लक्षण रुद्रट कृत काव्यालङ्कार के अनुसार है। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में पिहित का लक्षण—

'पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम् ।'

यह लिखा है अर्थात् दूसरे के वृत्तान्त को जानने वाले व्यक्ति द्वारा साभिप्राय चेष्टा किया जाना। किन्तु इस लक्षण द्वारा न तो पिहित के नामार्थ का चमत्कार ही किसी अंश में सूचित होता है और न इसके द्वारा पूर्वोक्त सूक्ष्म अलङ्कार से पिहित की पृथक्ता ही हो सकती है। दीक्षितजी ने स्वयं कुवलयानन्द में पिहित का वही उदाहरण दिया है। जिसको काव्यप्रकाश में सूक्ष्म के उदाहरणों में दिया गया है।

रुद्रट ने अपने लक्षणानुसार पिहित का—

मृदु ससि-कला-कलाप सम सखि ! तव तन-दुति माँहि,
यह कृशता प्रिय-बिरह की काहू कों न लखाहि ॥६४७॥

यह (जिसका अनुवाद है वह पद्य) उदाहरण दिया है। यहाँ चन्द्र-कला के तुल्य अङ्ग की कान्ति और प्रिय-वियोग जनित कृशता इन दोनों का एक ही (नायिका का शरीर) आश्रय है। अङ्ग-कान्ति से कृशता अ-समान है—इन दोनों का भिन्न-भिन्न रूप है—अङ्ग-कान्ति रूपी गुण की प्रबलता से नायिका के शरीर में आविर्भूत (प्रकट होने वाली) कृशता का आच्छादन होना कहा गया है।

रुद्रट के लक्षण और इस उदाहरण द्वारा पिहित अलङ्कार की 'सूक्ष्म' से स्पष्ट पृथक्ता हो जाती है।

—:※:—

(८५-८६) व्याजोक्ति और युक्ति अलङ्कार

गुप्त रहस्य—किसी प्रकार प्रकट हो जाने पर—कपट से छिपाये जाने को व्याजोक्ति अलङ्कार कहते हैं ।

व्याजोक्ति का अर्थ है व्याज से उक्ति अर्थात् कपट (छल) से कहना । व्याजोक्ति अलङ्कार में गुप्त रहस्य प्रकट हो जाने पर कपटोक्ति से अर्थात् किसी बहाने से छिपाया जाता है ।

अपन्हुति से व्याजोक्ति का प्रथक्करण—

पूर्वोक्त अपन्हुति अलङ्कार में जिस बात को छिपाई जाती है उस बात का पहिले कथन करके निषेध पूर्वक छिपाई जाती है और छेकापन्हुति में भी अपनी कही हुई बात का ही अन्य अर्थ करके उसे निषेध पूर्वक छिपाई जाती है किन्तु व्याजोक्ति में जिस बात को छिपाई जाती है उस को पहिले न तो वक्ता द्वारा कही जाती है और न निषेध ही किया जाता है।*

उदाहरण—

तुहिनाचल ने अपने कर सों हर-गौरी के लै जब हाथ जुटाये,
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भये मन में सकुचाये,
'गिरि के कर में अति सीत अहो' कहि यों वह सात्विक-भाव दुराये,
वह संकर हों मम संकर, जो हँसि के गिरि के रनवास लखाये।†

---

* देखिये साहित्यदर्पण व्याजोक्ति प्रकरण ।

† यह श्रीशिव-पार्वती के विवाह प्रसङ्ग का वर्णन है । पार्वतीजी के पिता हिमाचल ने जब शिवजी का और पार्वतीजी का पाणिग्रहण (हथलेवा जुड़ाने का कार्य) करवाया उस समय पार्वतीजी के हाथों के स्पर्श से उत्पन्न प्रेम-जन्य कम्प और रोमाञ्च आदि सात्विक भावों को श्रीशङ्कर द्वारा यह बहाना करके कि 'ओहो ! हिमाचलजी के हाथों में बड़ी शीतलता है' छिपाया जाना समझकर देवाङ्गनाएँ हँसने लगीं ।

यहाँ श्रीशिव-पार्वती के विवाह में पाणि-ग्रहण के समय पार्वतीजी के स्पर्श से उत्पन्न कम्पादिक सात्विक भावों को, महादेवजी ने 'हिमालय के हाथों में बड़ी शीतलता है' ऐसा कह कर छिपाए हैं।

"बैठी हुती व्रज की वनितान में आइ गयो कहुं मोहनलाल है,
ह्वै गई देखते मोद मई सु निहाल भई वह बाल रसाल है,
रोम उठे तन काँप्यो कछू मुसक्यात लख्यो सखियान की जाल है,
'सीरी बयारि बही सजनी' उठि यों कहि कैं उन ओढ्यो जु साल है।"

यहाँ नायक को देख कर रोमाञ्च आदि सात्विक भाव उत्पन्न हुए उनको नायिका ने 'सीरी बयारि बही' कह के इस बहाने से वस्त्र ओढ़ कर छिपाया है।

कुवलयानन्द में क्रिया आदि द्वारा छिपाये जाने में भी व्याजोक्ति अलङ्कार माना है। जैसे—

चतुर अली सँग की छली आत गली लखि लाल,
ढके पुलक अनुराग के करि प्रनाम तब बाल ॥६५०॥

यहाँ श्रीकृष्ण को देखकर अनुराग-जन्य रोमाञ्चों को गोपाङ्गना ने प्रणाम करने की क्रिया से छिपाया है।

"ललन चलन सुन पलनु में अँसुवा झलके आय,
भई लखान न सखिन हू झूठें ही जमुहाय" ॥६५१॥

यहाँ अश्रु आदि सात्विक-भावों को जम्हाई की क्रिया द्वारा छिपाये गये हैं। कुवलयानन्द में अपने रहस्य को छिपाने के लिये क्रिया द्वारा दूसरे को वञ्चन करने को 'युक्ति' नामक भिन्न अलङ्कार माना है। किन्तु वह व्याजोक्ति के अन्तर्गत ही है। स्वयं कुवलयानन्दकार ने उपर्युक्त 'चतुरअली ......' इस उदाहरण को व्याजोक्ति में लिख कर फिर 'युक्ति' अलङ्कार के प्रकरण में इसी को 'युक्ति' का उदाहरण भी बतलाया है।

(८७) गूढ़ोक्ति अलङ्कार

अन्योद्देशक वाक्य को दूसरे के प्रति कहा जाने को 'गूढ़ोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

गूढ़ोक्ति अर्थात् गूढ़ (गुप्त) उक्ति। गूढ़ोक्ति अलङ्कार में अन्योद्देशक अर्थात् अन्य के प्रति वक्तव्य को निकटस्थ अन्य व्यक्ति से गुप्त रखने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति कहा जाता है।

"खिले फूल हौं भौंर घने वन बाग यों स्वामिनी को परखावनो है,
लखि या विधि गौरि के पूजन कों 'लछिराम' हियो हरखावनो है,
पहिले ही मराल मयूर चकोर सिलिंदन को मडरावनो हैं,
हँसि बोली अली भली मैथिली की फिरि काल्हि इतैं सँग आवनो है।"

जनकपुर की फुलवारी में सीताजी की सखी को 'हम कल्ह फिर यहाँ आयँगी' यह बात श्रीरघुनाथजी के प्रति कहना अभीष्ट था, परतटस्थ अन्य व्यक्तियों से छिपाने के लिये श्रीरघुनाथजी को न कह कर उसने (सखी ने) अपनी सखियों को कहा है।

"एरी बीर! सावन सुहावन लग्यो है यह,
अब तौ उमंग निज हिय की पुजैहैं री।
सोरहू सिँगार करि द्वादस अभूषण हू,
'रसिकबिहारी' अंग अति ही सजैहैं री।
सखिन दुराय गुरु लोगन बचाय दीठि,
निपट अकेली संग काहू कों न लैहैं री।
बीतैं निसिजाम जब चंद छिपि जैहै तबै,
तेरे भौन झूलन हिंडोल आज ऐहैं री ॥६५३॥"

यहाँ अपने प्रेमी पुरुष को संकेत का स्थान सूचन करने के लिये नायिका ने अपने प्रेमी को न कह कर अपनी सखी को कहा है।

काव्यनिर्णय में 'गूढ़ोक्ति' का—

"अभिप्राय जुत जहँ कहिय काहू सों कछु बात।"

यह लक्षण लिख कर उदाहरण भी इसी के अनुसार दिखाया है। यह लक्षण गूढ़ोक्ति का अपूर्ण है। गूढोक्ति के लक्षण में 'अन्योद्देशक वाक्य को अन्य के प्रति कहा जाना' यह अवश्य कहना चाहिये।

उद्योतकार का कहना* है कि 'गूढोक्ति' ध्वनि काव्य है—अलङ्कार का विषय नहीं। क्योंकि गूढ़ोक्ति में दूसरे को सूचित किया जाता है, वह स्पष्ट नहीं कहा जाता है—व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित होता है। अलङ्कार वहीं हो सकता है जहाँ व्यंगार्थ उक्ति द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है।

———:✲:———

(८८) विवृतोक्ति अलङ्कार

उक्ति-चातुर्य से छिपाये हुये रहस्य को जहाँ कवि द्वारा प्रकट कियाजाता है, वहाँ 'विवृतोक्ति' अलङ्कार होता है।

विवृतोक्ति का अर्थ है विवृत (खुली हुई) उक्ति विवृतोक्ति। विवृतोक्ति अलङ्कार में श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग आदि द्वारा चातुर्य से छिपाये हुये रहस्य को कवि द्वारा प्रकट करके खोल दिया जाता है।

"जो गोरस चाहतु लियो तो आवहु मम-धाम,
यों कहि या जक सों हरिहि किय सूचन निज ठाम"॥६५४

श्रीकृष्ण के प्रति गोपाङ्गनाने पूर्वार्द्ध में श्लिष्ट-शब्द 'गोरस' द्वारा कहे हुए रहस्य को उत्तरार्द्ध में कवि ने प्रकट कर दियाहै। यहाँ शब्द-श्लेष द्वारा छिपाए हुये रहस्य को प्रकट किया गया है।

---

* देखिये काव्यप्रकाश की प्रदीप और उद्योत व्याख्या पृ० ५४३

मेरो मन न अचातु है सुनि झूठी रस वात,
हँसि जब यों तिय ने कह्यो लाल लगाई गात ॥६५५॥

नायिका द्वारा नायक के प्रति पूर्वार्द्ध में कहे हुए रहस्य को कवि ने उत्तरार्द्ध में प्रकट कर दिया है। यहाँ अर्थ-शक्तिमूलक व्यंग्यार्थ को कवि द्वारा प्रकट किया गया है।

यहाँ विवृतोक्ति के उदाहरण कुवलयानन्द में दिखाये गये उदाहरणों के अनुसार लिखे गये हैं। परन्तु ये उदाहरण पूर्वोक्त व्याजोक्ति के उदाहरणों के समान ही हैं अतः विवृतोक्ति अलङ्कार हमारे विचार में व्याजोक्ति से पृथक् नहीं, जब कि पूर्वोक्त—'चतुर अली सँगकी छली (संख्या ६५०) इस उदाहरण में कुवलयानन्दकार ने व्याजोक्ति स्वीकार की है।

———*———
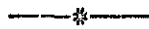
(८६) लोकोक्ति अलङ्कार

प्रसङ्ग प्राप्त लोक-प्रसिद्ध किसी कहावत के उल्लेख किए जाने को 'लोकोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

लोकोक्ति जन समुदाय में प्रचलित कहावत को कहते हैं।

"बिन आदर पाय कै बैठि ढिंगा अपनी रुख दै सुख लीजतु है,
अपमान औ मान परेखो कहा अपनी मति में चित दीजतु है,
कवि 'ठाकुर' काम निकारिबे के लिये कोटि उपाय करीजतु है,
अपने उरझे सुरझाइबे को सबही की खुसामद कीजतु है।"६५६

यहाँ चौथे पाद में लोकप्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"गई फूलन काज हौं कुंजन आज न संग सखी जु अचानक री!
हरि आय गये भजि जाऊँ कितै जितही जित काँटन सों जकरी,
कवि 'नेही' कहै अति काम छयो सुनौ मारग रोकि रह्यो तक री,
सुनरी सजनी! गति ऐसी भई जैसे 'मारनो बैल गली सँकरी।"

यहाँ 'मारनो बैल गली सँकरी' इस लोक-प्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"मुसकाई मिथिलेश-नंदिनी प्रथम देवरानी फिर सौत—
अंगीकृत है मुझे किंतु तुम नहीं मांगना मेरी मौत,
मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करते रहने देना,
कहते हैं इसको ही 'अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।"

लक्ष्मणजी से प्रेम-याचना करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी से शूर्पणखा द्वारा प्रेम-भिक्षा माँगने पर जानकीजी की शूर्पणखा के प्रति इस उक्ति में 'अँगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ लेने' की लोकोक्ति का उल्लेख है।

——:*:——

(६०) छेकोक्ति अलङ्कार

अर्थान्तर-गर्भित लोकोक्ति को 'छेकोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

'छेक' का अर्थ चतुर है। छेकोक्ति में चातुर्य युक्त अन्यार्थ गर्भित लोकोक्ति कही जाती है।

मो सों का पूछत अरी! बार बार तुम खोज,
जानतु है जु भुजंग ही भुवि भुजंग के खोज ॥६५६॥

निशाचरियों द्वारा जानकीजी से हनुमानजी के विषय में पूछने पर जानकीजी द्वारा उत्तरार्द्ध में कही हुई लोकोक्ति में यह अर्थान्तर गर्भित है कि तुम्हारी राक्षसी माया को तुम राक्षस ही जान सकते हो।

जमुना तट दृग रावरे लगे लाल-मुख ओर,
चोरन की गति कों सखी! जानतु है जग चोर ॥६६०॥

लज्जिता नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में जो उत्तरार्द्ध में लोकोक्ति है, उसमें यह अर्थान्तर गर्भित है कि 'तू क्यों छिपाती है, मुझसे तेरी यह प्रेमलीला छिपी नहीं है'।

—:*:—

(६१) अर्थ-वक्रोक्ति अलङ्कार

अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थ-श्लेष से दूसरा अर्थ कल्पना किये जाने को 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

वक्रोक्ति का अर्थ है बाँकी-टेढ़ी-उक्ति। वक्रोक्ति अलङ्कार में अन्योक्त वाक्य का वक्रोक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है।

गिरजे! कहु भिक्षुकराज कहां? बलि-द्वार गये वह हैं न यहां,
हम पूछत हैं वृषपालहिं कों वह तो ब्रज गौन चरानु वहां,
नृत तांडव आज रच्यो कितु है? जमुनातट-वीथिन होतु तहां,
भयो सागर-सैल-सुतान में आज परस्पर यों उपहास महा॥६६१॥

यहाँ श्रीलक्ष्मीजी द्वारा 'भिक्षुक कहाँ हैं?' इत्यादि श्रीमहादेवजी के विषय में पूछे हुए प्रश्न वाक्यों को पार्वतीजी ने श्रीविष्णु भगवान् के विषय में कल्पना कर कर के 'बलि द्वार गये' इत्यादि टेढ़े उत्तर दिये हैं। यहाँ 'भिक्षुक' आदि पदों के स्थान पर 'मंगता' आदि पदों के बदलने पर भी 'वक्रोक्ति' बनी रहती है, इसलिए यह अर्थ-शक्ति-मूला अर्थ-वक्रोक्ति है। शब्द-शक्ति-मूला वक्रोक्ति शब्दालङ्कार प्रकरण में पहिले लिखी गई है।

"हे भरत भद्र! अब कहो अभीप्सित अपना,
सब सजग होगये भंग हुआ ज्यों सपना,
हे आर्य! रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी,
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी,

पाया तुमने तरु तले अरण्य बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा"॥६६२॥

चित्रकूट में भरतजी से श्रीरघुनाथजी द्वारा 'अभीप्सित' पद का जिस अभिप्राय से प्रयोग किया गया है, भरतजी ने उसका अन्य अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया है।

——:※:——

(६२) स्वभावोक्ति अलङ्कार

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा या प्राकृतिक दृश्य के चमत्कारक वर्णन को 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

स्वभावोक्ति का अर्थ उक्त लक्षण से स्पष्ट है।

"सुंदर सजीला चटकीला वायुयान एक
मैया! हरे कागज का आज मैं बनाऊँगा।
चढ़के उसी पर करूँगा नभ की मैं सैर
बादल के साथ साथ उसको उड़ाऊँगा।
मंद मंद चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहां
चहक चहक चिड़ियों के संग गाऊँगा।
चंद्र का खिलौना मृगछौना वह छीन लूंगा,
मैया की गगन की तरैया तोड़ डालूंगा"॥६६३॥

यहाँ बच्चों की स्वाभाविक चेष्टा का वर्णन है।

"आगे धेनु धारि हैरी ग्वालन कतार तामें
फेरि टेरि टेरि धोरी धूमरीन गोन तें।
पोंछि पुचकारिन अँगोछनि सों पोंछि पोंछि
चूमि चारु चरन चलावै सुवचन तें।

कहै 'महबूब' धरी मुरली अधर वर
फूंक दई खरज निखाद के सुरन तें।
अमित अनंद भरे कंद-छबि वृंदावन
मंद गति आवत मुकुंद मधुवन तें"॥६६४॥

यहाँ गौ चारण से आते हुए श्री नन्दनन्दन का स्वाभाविक चित्ताकर्षक दृश्य वर्णन है।

सायंकाल गिरे दिनेश-कर की लाली मनोमोहिनी,
होती है तब दिव्य वारनिधि की क्या ही छटा सोहिनी,
झागों से विशदाभ रक्त-छवि पा ऊँची तरंगावली,
आती है अति दूर से फिर वही जाती वहां है चली॥६६५॥

यह बम्बई के समुद्र-तट की तरङ्गों के स्वाभाविक मनोहारी दृश्य का वर्णन है।

"छाई छवि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही और मुररेरे के।
कहै 'रत्नाकर' उमगि तरु-छाया चली
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के।
घर घर साजैं सेज अंगना सिंगारि अंग
लौटत उमंग भरे बिछुरे सवेरे के।
जोगी जती जंगम जहाँ ही तहाँ डेरे देत
फेरे देत फुदकि विहंगम बसेरे के"॥६६६॥

इसमें सायंकाल के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन है।

'वक्रोक्तिजीवित' कार राजनक कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' को अलङ्कार नहीं माना है और स्वभावोक्ति को अलङ्कार मानने वाले आचार्यों पर—

'शरीरं, (स्वभावं) चेदलङ्कारः किमलं कुरुतेऽपरम् ।'

—वक्रोक्तिजीवित उन्मेष १।१४ ।

२४

यह आक्षेप किया है। किन्तु यह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले राजनक कुन्तक का दुराग्रह मात्र है। प्राकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णन वस्तुतः चमत्कारक और अत्यन्त मनोहारी होते हैं।

——:※:——

(९३) भाविक अलङ्कार

भूत और भावी भावों के प्रत्यक्ष की भांति वर्णन किये जाने को भाविक अलङ्कार कहते हैं।

'भाविक' शब्द में भाव और इक दो अवयव हैं। भाव का अर्थ है सत्ता (स्थिति) 'भूसत्तायां' और 'इक' प्रत्यय का अर्थ है रक्षा करना। भाविक अलङ्कार में भूत और भविष्यत् भाव को वर्तमान की भाँति कह कर उनकी रक्षा की जाती है।

"जा दिन ते ब्रजनाथ भटू! इहिं गोकुल ते मथुराहिं गये हैं,
छाकि रही तबतें छबि सों छिन छूटति ना छतियाँ में छये हैं,
वैसिय भांति निहारति हौं हरि नाचत कालिंदी कूल ठये हैं,
सत्रु सँहारि के छत्र धरयो फिर देखत द्वारिकानाथ भये हैं" ६६७

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा यमुना तट पर भूतकाल में किये गये नृत्य के दृश्य को तीसरे चरण में प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है।

"अवलोकते ही हरि सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े,
फिर धर्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो गये,
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे"॥६६८॥

यहाँ अर्जुन और श्रीकृष्ण को सम्मुख देख कर राजा युधिष्ठिर को मृतक अभिमन्यु के भूतकालिक दुःख का पुनः वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है।

"हा मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँद वारी,
तेही लता पुन देखत दुःख चले असुँवा अँखियान सों भारी,
आवति हौं जमुना तटकों नहिं जान परैं बिछुरैं गिरधारी,
जानतु हौं सखि! आवन चाहतु कुंजन ते कढ़ि कुंजविहारी।"६६६

यहाँ श्री नन्दनन्दन का कुञ्जों से निकल कर आने के भूतकालिक दृश्य को अन्तिम चरण में प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है।

कही जाय क्यों मानिनी! छवि प्रतिअंग अनूप,
भावी भूषन-भार हू लसत अवहिं तव रूप॥६७०॥

भविष्य में भूषणयुक्त होने वाली कामिनी के रूप को यहाँ वर्तमान में भूषण युक्त होना कहा है।

———:*:———

(६४) उदात्त अलङ्कार

उदात्त का अर्थ है—'उत्कर्षेण आदीयते गृह्यतेस्मेतिउदात्तम्।'* अर्थात् उत्कर्षता से वर्णन किया जाना। उदात्त अलङ्कार में वर्णनीय अर्थ का समृद्धि द्वारा अथवा महत्पुरुषों के अङ्ग-भाव द्वारा उत्कर्ष वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद हैं।

प्रथम उदात्त

अतिशय समृद्धि के वर्णन को प्रथम उदात्त अलङ्कार कहते हैं।

मुक्ताभाला अगणित जहाँ हैं वनी शंख सीपी,
दूर्वा जैसी विलसित मणी रत्न-वैदूर्य की भी।

* काव्यादर्श कुसुमप्रतिमा व्याख्या।

मूंगे के हैं कन-घन लगे देख बाजार-शोभा—
जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा॥६७१॥

इस पद्य में उज्जैनी के बाजार की असम्भव समृद्धि का कवि कल्पना कृत वर्णन है।

द्वितीय उदात्त

वर्णनीय अर्थ में महत्पुरुषों के अङ्ग भाव होने के वर्णन को द्वितीय उदात्त कहते हैं।

"जिनके परत मुनि-पतनी पतित तरी,
जानि महिमा जो सिय छुवत सकानी है।
कहै "रतनाकर" निषाद जिन्हैं जोग जानि,
धोए बिनु धूरि नाव निकट न आनी है।
ध्यावैं जिन्हें ईस औ फनीस गुन गावैं सदा,
नावैं सीस निखिल मुनीस-गन ज्ञानी है।
तिन पद पावन की परस-प्रभाव-पूंजी,
अवध-पुरी की रज-रज में समानी है"॥६७२

अयोध्या के इस वर्णन में भगवान् श्रीरामचन्द्र को अङ्ग भाव है—'जिस अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी के ऐसे महत्वपूर्ण चरणों की रज मिली हुई है' इस कथन से अयोध्या की महिमा का उत्कर्ष वर्णन किया गया है।

महा महिमतम विष्णु-लोक को तज, जो था शोभा-भण्डार—
वन-विहार-हित और देखने दिव्य अयोध्या का शृङ्गार—
रवि-कुल-कमल-दिवाकर होकर किया विष्णु ने यहीं निवास,
रावण-वध मिष मात्र क्योंकि था वह उनका भ्रू-भंग विलास।

भारतवर्ष के इस वर्णन में भगवान् विष्णु के अवतार श्रीरामचन्द्रजी को अङ्ग भाव है।

—:*:—

(६५) अत्युक्ति अलङ्कार

शौर्य और औदार्य आदि के अत्यन्त मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति अलङ्कार कहते हैं।

अत्युक्ति का अर्थ स्पष्ट है।

"झूमत मतंग मति तरल तुरंग ताते,
रति-राते जरद जरूर मांगि लाइबो।
कहैं "पदमाकर" सो हीरा लाल मोतिन के,
पन्नन के भाँति भाँति गहने जराइबो।
भूपति प्रतापसिंह! रावरे विलोक कवि,
देवता विचारैं भूमि लोकें कब जाइबो।
इंद्र-पद छोड़ि इंद्र चाहतु कविंद्र पद,
चाहै इंदरानी कवि-रानी कहवाइबो"॥६७४॥

यहाँ औदार्य की अत्युक्ति है।

जब से निरखी उसने छवि है मुसकान-सुधा नँदनंदन की,
तब से रहती उनमें अनुरक्त दशा कुछ और हुई मन की,
हिलती चलती न कहीं क्षण भी सुध भूल गई सब है तन की,
सखि! है उसकी गति दीपशिखा अनुरूप विहीन-प्रभंजन की।

यहाँ प्रेम की अत्युक्ति है।

"घूंघट खुलत अबै उलटु ह्वैजैहैं 'देव'
उद्धत-मनोज जग जुद्ध-जूटि-परैंगो।
को कहै अलीक बात, सोक है सुरोक* सिद्ध—
लोक तिहुँलोक की लुनाई लूटि परैंगो।
दैयनि! दुराव-मुख नतरु तरैयनि को—
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैंगो।

---

* सुरों का ओक (स्थान) = स्वर्ग।

तो चितै सकोच सोचि सोचि मृदु मूरछि कै,
छौरते छपाकर छता सो छुटि परैगो"॥६७६

यहाँ नायिका के सौन्दर्य की अत्युक्ति है।

"गोपिन के अँसुवान के नीर पनारे बहे बहिके भये नारे,
नारेन हू ते भईं नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कँगारे,
वेगि चलौ तौ चलौ ब्रज कों 'कवि-तोष' कहे बहु प्रानन प्यारे,
वे नद चाहतु सिंधु भये अब सिंधु ते ह्वै हैं हलाहल भारे"॥६७७॥

यहाँ विरह की अत्युक्ति है।

काव्यप्रकाश में यह अलङ्कार नहीं लिखा है। 'उद्योत' कार का मत है कि यह उदात्त के अन्तर्गत है। 'कुवलयानन्द'कार का मत यह है कि जहाँ समृद्धि का अतिशय वर्णन होता है, वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्य्यादि का अतिशय वर्णन होता है वहाँ 'अत्युक्ति' अलङ्कार होता है और सदुक्ति में अर्थात् जहाँ कुछ सम्भव वर्णन होता है वहाँ 'असम्बन्धातिशयोक्ति' होता है। जैसे—

जुग उरोज तेरे अली! नित-प्रति अधिक बढ़ाहिं,
अब तव भुज-लतिकान में क्यों हू नांहि समाहिं॥६७८॥

यहाँ 'उरोजों का भुजाओं के बीच में न समाना।' यह उक्ति कुछ सम्भव है अतः सम्बन्धातिशयोक्ति है और जहाँ सर्वथा असम्भव उक्ति होती है, वहाँ अत्युक्ति होती है, जैसे—

इहि विधि अलि! नित ही बढ़हिं तव उरोज सविकास,
यह विचार नहिं कीन्ह विधि अलप कियो आकास॥६७९॥

यहाँ कामिनी के उरोजों का आकाश में न समाना, यह सर्वथा असम्भव वर्णन है अतः यहाँ अत्युक्ति अलङ्कार है। वस्तुतः हमारे विचार में भी अत्युक्ति अलङ्कार 'अतिशयोक्ति' अथवा 'उदात्त' से पृथक् होने योग्य नहीं।

—:*:—

(६६) निरुक्ति अलङ्कार

योगवश से किसी नाम का और ही अर्थ कल्पना किये जाने को 'निरुक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

निरुक्ति का अर्थ है किसी शब्द या पद की व्युत्पत्ति युक्त व्याख्या करना। निरुक्ति अलङ्कार में किसी ऐसे शब्द की जो किसी व्यक्ति आदि का नाम हो—प्रसिद्ध यौगिक व्याख्या को छोड़कर यौगिकशक्ति से चमत्कारक कल्पना द्वारा अन्य व्याख्या की जाती है।

ताप करत अबलान को दया न कछु चित आतु,
तुम इन चरितन साँच ही दोषाकर विख्यातु ॥६८०॥

'दोषा' नाम रात्रि का है इसीसे चन्द्रमा का नाम दोषाकर है। यहाँ इस यौगिक अर्थ को छोड़कर विरहिणी की इस उक्ति में वियोगिनी स्त्रियों को ताप देने का दोष होने के कारण चन्द्रमा के 'दोषाकर' नाम का दोषों का भण्डार—यह अन्य यौगिक अर्थ कल्पना किया गया है।

"आपने आपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुवि पालैं सदाई,
केवल नामहि के भुवपाल कहावतु हैं, भुवि पालि न जाई,
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन में कल-कीरति पाई,
'केसव' भूपन की भुवि-भूपन भू-तन ते तनया उपजाई"

राजाओं को पृथ्वी के पालक होने के कारण भुविपाल कहे जाते हैं। यहाँ राजा जनक के प्रति विश्वामित्रजी के इस वाक्य में भुविपाल का 'तुमने पृथ्वी से तनया (सीताजी) उत्पन्न की है, अतः तुम्हारा भुविपाल नाम है' यह अन्यार्थ यौगिकशक्ति से जनक के विषय में कल्पित किया गया है। यदि 'भुविपाल' के स्थान पर इस प्रसङ्ग में 'भू-पति' शब्द का प्रयोग महाकवि केशवदास करते तो बहुत ही उपयुक्त होता।

"सूर-कुलसूर महा प्रबल प्रताप सूर,
चूर करिबे कौं म्लेच्छ क्रूर प्रन लीन्यो तैं।
कहै 'रतनाकर' विपत्तिनि की रेलारेल,
झेलि झेलि मातृभूमि-भक्ति-भाव भीन्यो तैं।
वंश को सुभाव अरु नाम को प्रभाव थापि,
दाप के दिल्लीपति कौं ताप दीह दीन्यो तैं।
घाट हलदी पै जुद्ध ठाटि अरि-मेद पाटि,
सारथ विराट मेदपाट नाम कीन्यो तैं"॥६८२॥

यहाँ मेदपाट देश का राणा प्रताप द्वारा 'म्लेच्छों के मेद (शरीर के अन्दर की चर्बी) से परिपूर्ण किया जाना' यह अन्यार्थ यौगिक-शक्ति से कल्पना किया गया है।

:※:

(६७) प्रतिषेध अलङ्कार

प्रसिद्ध निषेध का अनुकीर्तन किये जाने को प्रतिषेध अलङ्कार कहते हैं।

प्रतिषेध का अर्थ निषेध है। प्रतिषेध अलङ्कार में जिस बात का निषेध प्रसिद्ध हो उसका फिर निषेध किया जाता है। प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध निरर्थक होने के कारण अर्थान्तर-गर्भित निषेध में चमत्कार होने के कारण अलङ्कार माना गया है।

"तिच्छन वान विनोद यह छली ! न चोपर खेल" ॥६८३॥

यह तो प्रसिद्ध ही है कि युद्ध का कार्य चोपड़ का खेल नहीं है फिर यहाँ शकुनि के प्रति भीमसेन की इस उक्ति में—यह बाणों की क्रीड़ा है चोपड़ का खेल नहीं, इस प्रकार निषेध किया गया है उसमें—'तेरी कपट-चातुरी चोपड़ में ही चल सकती है, न कि युद्ध में।' यह उपहासात्मक अर्थान्तर गर्भित है।

"दारा की न दौर यह रार नहीं खजुवे की
बांधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को न वास ग्राम गोकुल को
देवी को न देहरा न मन्दिर गुपाल को।
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु वैरी कतलान कीन्हें
ठौर ठौर हासिल उगाहत हैं साल को।
बूड़त है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति !
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को" ॥६८४॥

यह तो प्रसिद्ध ही है कि शिवराज की दिल्ली पर चढ़ाई है वह दारा की दौर आदि नहीं है। फिर दारा की दौर आदि का यहाँ निषेध किया गया है, उसमें 'दारा की दौर आदि कार्य तो तूने सहज ही कर लिये थे, पर शिवराज का युद्ध तेरे से अजेय है' यह अर्थान्तर (अभिप्राय) गर्भित है।

"माजू महारानी कों बुलावो महाराजहू कों,
लीजै मतु कैकई सुमित्रा के जिय को।
राति कों सपत रिषिहू के बीच विलसत,
सुनौ उपदेस ता अरुंधती के पिय को।
'सेनापति' विश्व में बखाने विश्वामित्र नाम,
गूरू बोलि बूझिये प्रबोध करैं हिय को।
खोलिये निसंक यह धनुष न संकर को,
कुंवरि मयंकमुखी-कंकन है सिय को" ॥६८५॥

श्रीरघुनाथजी के प्रति विवाहोत्सव के समय मिथिला की रमणियों का उपहास है। 'सीताजी का कङ्कण, शिव-धनुष नहीं, यह तो प्रसिद्ध है। फिर धनुष का निषेध यहाँ इस अभिप्राय से किया गया है कि—कङ्कण के खोलने का कार्य धनुष-भङ्ग के कार्य से भी कठिन है।

'भाषाभूषण' में प्रतिषेध का—'मोहन कर मुरली नहीं कछु एक बड़ी बलाय ।' यह उदाहरण दिया है। ऐसे उदाहरण प्रतिषेध के नहीं हो सकते हैं। इसमें मुरली का निषेध करके उसमें बलाय का आरोप किया गया है अतः 'अपन्हुति' है।

—:※:—

(९८) 'विधि' अलङ्कार

सिद्ध वस्तु का विधान किये जाने को 'विधि' अलङ्कार कहते हैं।

'विधि' का अर्थ विधान है। यह अलङ्कार पूर्वोक्त प्रतिषेध के प्रतिद्वन्द्वी रूप में माना गया है। इसमें जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका फिर अर्थान्तर-गर्भित विधान किया जाता है।

तजु कर, सर मुनि-सुद्र पर द्विज-सिसु जीवन-हेत,
राम-गात है जिन तजी सीता गर्भ-समेत ॥६८६॥

शूद्र के तप करने के अधर्म से अल्प-वयस्क ब्राह्मण-बालक के मर जाने पर उस शूद्र पर बाण छोड़ते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र की यह अपने हाथ के प्रति उक्ति है। श्रीरामचन्द्र का हाथ उनका अङ्ग सिद्ध ही है, फिर अपने हाथ के प्रति 'तू राम का गात है' ऐसा विधान किया गया है। वह अपनी अत्यन्त कठोरता दिखाने के अभिप्राय से गर्भित है। और यह (अर्थान्तर) 'जिस रामचन्द्र ने गर्भिणी सीता का त्याग कर दिया' इस विशेषण से प्रकट किया गया है।

---

(९९) हेतु अलङ्कार

कारण का कार्य के सहित वर्णन करने को हेतु अलङ्कार कहते हैं।

हेतु और कारण एकार्थक शब्द हैं। कारण का कार्य के सहित अथवा कारण के साथ कार्य के अभेद वर्णन में हेतु अलङ्कार माना गया है।

कारण के साथ कार्य के वर्णन का उदाहरण—

मरु-मग लौं तेरो अधर विद्रुम-छाय लखाय।
कहु अलि! मन किहिं को न यह प्यास विकल करवाय* ॥६८७॥

यहाँ विद्रुम-छाय होने रूप कारण, पिपासाकुलित होने रूप कार्य के सहित कथन किया गया है।

कारण और कार्य के अभेद का उदाहरण—

"मोहि परम-पद मुकति सब तो पद-रज घनस्याम,
तीन लोक को जीतिबो मोहि बसिबो ब्रजधाम" ॥६८८॥

यहाँ श्रीनन्दनन्दन की चरण-रज कारण है और परमपद कार्य है। रज की परमपद से एकता कथन की गई है।

'रूपक' में उपमेय और उपमान का अभेद कहा जाता है और 'हेतु' में कारण और कार्य का अभेद होता है।

दण्डी, रुद्रट और कुवलयानन्दकार ने हेतु अलङ्कार लिखा है। आचार्य भामह और मम्मट आदि इसप्रकार के 'हेतु' में अलङ्कारता नहीं मानते हैं।

———:*:———

* हे अलि! मरुस्थल के मार्ग के समान विद्रुमच्छाय अर्थात् वृक्षों की छाया से रहित, (अधर पक्ष में मूँगे जैसी अरुण कान्ति वाला) तेरा अधर किसका मन प्यास से विकल नहीं कर देता है?

(१००) अनुमान अलङ्कार

साधन द्वारा साध्य का चमत्कार पूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलङ्कार कहते हैं।

'अनुमान' शब्द 'अनु' और 'मिति' से बना है। यहाँ 'अनु' का अर्थ लक्षण है*। लक्षण कहते हैं चिन्ह को†। और 'मिति' का अर्थ है ज्ञान‡। अतः अनुमान का अर्थ है अनुमितिकरणं अर्थात् चिन्ह द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान किया जाना§। अनुमान में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान किया जाता है।

जो वस्तु सिद्ध की जाती है उसे साध्य (लिङ्गि) और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है उसे साधन (लिङ्ग) अर्थात् चिन्ह कहते हैं। जैसे—धूँए से अग्नि का होना सिद्ध होता है। अर्थात् जहाँ धूँआ होता है वहाँ यह ज्ञान हो जाता है कि यहाँ धूँआ है तो अग्नि भी अवश्य है। धूँआ साधन (चिन्ह) है और अग्नि साध्य (ज्ञान का विषय) है। अनुमान अलङ्कार में कवि-कल्पित चमत्कारक साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कराया जाता है। और 'अनुमान' अलङ्कार में साधन होता है वह ज्ञापक-कारण होता है।

करतीं अपना अति चंचल ये जब बंक-कटाक्ष-निपात कहीं,
करता यह भी अविलंब सदा हृदि-वेधक-बाण-निपात वहीं,
रमणीजन के अनुशासन में रहके झखकेतन$ है सच ही,
कर पुष्पशरासन ले उनके चलता चल-हस्त पुरःसर ही।६८६

---

* देखिये शब्दकल्पद्रुम। † 'चिन्हं लक्ष्म च लक्षणः।' अमरकोश। ‡ देखिये शब्दकल्पद्रुम। § 'प्रतीतिलिङ्गिनी लिङ्गादनुमानमदूषितात्।' —काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ११२। $ कामदेव।

यहाँ 'कामदेव को स्त्रियों के 'आज्ञाकारी होना साध्य है—सिद्ध करना अभीष्ट है।' इस बात का ज्ञान—स्त्रियों का कटाक्षपात जहाँ-जहाँ होता है—वहां वहीं कामदेव अपने बाण तत्काल छोड़ता है' इस साधन द्वारा कराया गया है।

प्रिय-मुख-ससि निहचैं बसतु मृगनैंनी हिय-सद्म।
किरन-प्रभा तन-पीतता मुकुलित हैं दृग पद्म॥६६०॥

वियोगिनी नायिका के शरीर की पीतता और मुकुलित नेत्र साधन हैं, इस साधन द्वारा नायिका के हृदय में उसके पति के मुख-चन्द्र का निवास सिद्ध किया गया है। यहाँ रूपक मिश्रित अनुमान है—मुख आदि में चन्द्रमा आदि का आरोप किया गया है।

"होते अरविंद से तो आयकें मिलिंद वृन्द
लेते मधु-बुंद कंद तुन्द के तरारे ये।
खंजन से होते तो प्रभंजन परस पाय
उड़ते दुहुंधा ते न रहते नियारे ये।
'ग्वाल' कवि मीन से मृगन से जो होते तोपैं
वन-वन मांहि दोऊ दौरते करारे ये।
यातें नैन मेरे खरे लोह से हैं काहे तें कि
खैंचे लेत प्यारी! चख-चुंबक तिहारे ये"॥६६१॥

यहाँ नायिका के नेत्र-चुम्बक रूप साधन द्वारा नायक ने अपने नेत्रों का लोह रूप होना सिद्ध किया है। यहाँ नेत्रों को लोह होने का कारण 'प्यारी-चख-चुम्बक' इस वाक्य द्वारा कहा जाने पर भी 'काव्यलिङ्ग' नहीं हो सकता क्योंकि 'काहे तें कि' के प्रयोग से 'कारण' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।*

यद्यपि उत्प्रेक्षा में जैसे 'जानतु हौं' 'मानो' 'निश्चैं' आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, वैसे ही वाचक शब्दों का प्रयोग प्रायः अनुमान

* देखिये काव्यलिङ्ग प्रकरण।

में भी होता है किन्तु उत्प्रेक्षा में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय में उपमान के सादृश्य की सम्भावना में अनिश्चित रूप से किया जाता है और 'अनुमान' में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय-उपमान भाव (सादृश्य) के बिना साध्य को साधन द्वारा सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है।

'प्रत्यक्ष' आदि अन्य प्रमाणालङ्कार—

कुछ ग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि सम्भव और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों के अनुसार आठ प्रमाणालङ्कार माने हैं। किन्तु न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द ये चार और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रधान प्रमाण माने गये हैं—अन्य सब प्रमाण इनके अन्तर्गत माने गये हैं हमने केवल 'अनुमान' अलङ्कार ही लिखा है। क्योंकि अनुमान के सिवा प्रत्यक्षादि प्रमाणालङ्कार काव्यप्रकाश आदि में नहीं हैं। वस्तुतः इनमें लोकोत्तर चमत्कार न होने से यहाँ भी उनको लिख कर विस्तार करना अनावश्यक समझा है।

'रसवत्' आदि अलङ्कार—

इनके सिवा 'रसवत्' आदि सात अलङ्कार कुछ ऐसे ग्रन्थों में—जिनमें गुणीभूत व्यंग्य का विषय नहीं लिखा गया है—अलङ्कार प्रकरण में लिखे गये हैं। किन्तु रसवत् आदि में नाममात्र की अलङ्कारता है वास्तव में यह गुणीभूत व्यंग्य का विषय है और ये अलङ्कार रस, भाव आदि से सम्बन्ध रखते हैं। अतः हमने रसवत् आदि अलङ्कारों का निरूपण काव्यप्रकाश के आदर्श पर प्रथम भाग के गुणीभूत व्यंग्य के प्रकरण में (पाँचवें स्तवक में) किया है।

———:※:———

दशम स्तवक

अब शब्द और अर्थ के संकीर्ण (मिले हुए) भेद 'संसृष्टि' आदि लिखे जाते हैं—

संसृष्टि अलङ्कार

तिल-तन्दुल न्याय से कई अलङ्कारों की एकत्र स्थिति होने को 'संसृष्टि' अलङ्कार कहते हैं।

संसृष्टी का अर्थ है सङ्ग। 'संसृष्टी संसर्गे। संसर्गः सङ्गे*।' संसृष्टी अलङ्कार में एक स्थान पर (एक छन्द में) दो या दो से अधिक शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार तिल-तन्दुल न्याय से (तिल और चावल की भाँति एक दूसरे की अपेक्षा के बिना) पृथक्-पृथक् अपने-अपने रूप में स्थित रहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—

(१) शब्दालङ्कार संसृष्टि अर्थात् केवल शब्दालङ्कारों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

(२) अर्थालङ्कार संसृष्टि अर्थात् केवल अर्थालङ्कारों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

(३) उभयालङ्कार संसृष्टि अर्थात् शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

---

* देखिये चिन्तामणि कोष।

शब्दालंकार संसृष्टि—

"कुंडल जिय रक्षा करन कवच करन जय वार,
करन दान आहव करन करन करन बलिहार*" ॥६६२॥

यहाँ 'लाटानुप्रास' और 'यमक' दोनों शब्द के अलङ्कारों की संसृष्टि है। पहिले तीनों पादों में एक ही अर्थ वाले 'करन' शब्द की अन्वय-भेद से कई वार आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है। और चौथे पाद में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले 'करन' शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक है। यहाँ एक छन्द में वह दोनों अपने-अपने स्वरूप में तिल और तन्दुल (चावल) की तरह पृथक्-पृथक् स्थित हैं। अतः संसृष्टि है।

अर्थालंकार संसृष्टि—

वासन्ती के कुरवक घिरे कुंज के पास जो कि—
देखेगा तू सु-बकुल तथा रक्त-पत्री अशोक,
चाहें दोनों मम-सहित वे दोहदों के बहाने—
मत्कान्ता से मुख-मधु तथा पाद बांया छुवाने ॥६६३॥

मेघदूत में यक्ष द्वारा उसके घर में बनी हुई पुष्प-वाटिका का वर्णन है। 'मम सहित' पद में सहोक्ति है और दोहद के बहाने से मुख के मधु की और बायाँ पाद छूने की इच्छा के कथन में सापन्हव प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, अतः सहोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

"विद्रुम और मधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति,
'देवजू' कंज खिलै टटके हटके भटके खटके गिरा गावति,

---

* प्राण की रक्षा करने वाले कुण्डल और जय की रक्षा करने वाले कवच का दान करने वाले और युद्ध करने वाले कर्ण के हाथों की बलिहारी है।

पांव धरे अलि ! ठौर जहां तेहिँ ओरतें रंग की धारसी आवति,
मानों मजीठ की माट ढुरी इक ओरतें चांदनी बोरति जावति"।

यहाँ पूर्वार्द्ध के दोनों पादों में विद्रुम आदि उपमानों का निरादर किया गया है अतः प्रतीप है। उत्तरार्द्ध में उक्त-विषया उत्प्रेक्षा है अतः इन दोनों अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

उभयालंकार संसृष्टि—

"पावक सो नैनन लग्यो जावक लाग्यो भाल।
मुकुर* होहुगे नैक में मुकुर† बिलोको लाल" ॥६६५॥

यहाँ 'उपमा' और 'यमक' की संसृष्टि है। पूर्वार्द्ध में नायक के भाल पर लगे हुए अन्य नायिका के जावक को (पैरों में लगाने के रंग को) पावक की उपमा दी गई है। उत्तरार्द्ध में भिन्न अर्थ वाले 'मुकुर' शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक है। अतः शब्दार्थ उभय अलङ्कारों की संसृष्टि है।

"औरन के तेज तुलजात हैं तुलान बिच
तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत
तेरे गुन गन की न गिनती गनाइये।
'ग्वाल' कवि अमित प्रवाहन की थाह होत
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हू को पारावार पाइयत
तेरे परापार को न पारावार पाइये" ॥६६६॥

यहाँ अन्य नद-नदियों से यमुनाजी का आधिक्य वर्णन किये जाने में व्यतिरेक अर्थालङ्कार है। और 'त' 'ग' 'प' की अनेक बार

---

* अपनी बात से मुकुर (हट) जावोगे। † दर्पण।

आवृत्ति में वृत्यानुप्रास तथैव चतुर्थ चरण में एकार्थक 'पारावार' शब्द की आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है और यह दोनों शब्दालङ्कार हैं अतः यहाँ उभयालङ्कार संसृष्टि है।

—:※:—

सङ्कर अलङ्कार

नीर-क्षीर न्याय के अनुसार मिले हुए अलङ्कारों को सङ्कर अलङ्कार कहते हैं।

सङ्कर का अर्थ है अत्यन्त मिला हुआ—'सङ्करः व्यामिश्रत्वे।'* सङ्कर अलङ्कार में नीर-क्षीर न्याय के अनुसार एक से अधिक अलङ्कार मिले रहते हैं। अर्थात् दूध में जल मिल जाने की तरह कई अलङ्कारों का एकत्र मिल जाना। इसके तीन भेद हैं:—

(१) अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर।
(२) सन्देह सङ्कर।
(३) एकवाचकानुप्रवेश सङ्कर।

अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर

जहाँ कई अलङ्कार अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर होता है।

अङ्गाङ्गीभाव संकर में एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार का अङ्ग होता है अर्थात् एक दूसरे का उपकारक होना, एक के बिना दूसरे की सिद्धि न होना।

नरपति ! तो अरि अङ्गना लूटीं सब बटमार,
अधर बिंब-दुति गुंज गुनि हरे न मुकता-हार ॥६६७॥

अधर-बिम्ब के सङ्ग से मोतियों के हारों को गुञ्जाफल की कान्ति प्राप्त होने में 'तद्गुण' है। और मोतियों के हारों को गुञ्जाफल समझ

* देखिये चिन्तामणि कोष।

कर न लूटने में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार है। यहाँ तद्गुण की सहायता से भ्रान्तिमान् हो सकता है, क्योंकि जब तक अधर-बिम्ब से मोतियों में गुञ्जाफलों की तद्गुणता प्राप्त न हो तब तक भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। और 'भ्रान्ति' के उपकार से ही तद्गुणालङ्कार अत्यन्त चमत्कारक हो सकता है। अतएव इनका परस्पर में अङ्गाङ्गी भाव है।

श्री गङ्गा-तट के वहां निकट ही हैं अद्रि ऊंचे सभी,
छा लेती उनको सफेद घन की आके घटाएं कभी,
हो जाते हिम के पहाड़ सम वे सौन्दर्य-शाली महा,
आता है महिमा विलोकन अहो ! मानो हिमाद्री वहां॥

हरिद्वार के गङ्गा-तट का वर्णन है। मेघों से आच्छादित पर्वतों को बर्फ के पहाड़ों की उपमा दी गई है, वह (उपमा) इस दृश्य में जो हिमाद्री की उत्प्रेक्षा की गई है उसका अंग है। क्योंकि जब तक पर्वतों को बर्फीले पहाड़ों की उपमा न दी जाय तब तक उस दृश्य में हिमाद्री की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। और इस उत्प्रेक्षा द्वारा यहाँ उपमा के चमत्कार में अभिवृद्धि हो गई है।

"डार-द्रुम-पालन बिछौना नव-पल्लव के,
सुमन झगूला सोहैं तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव'
कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी दै।
पूरित पराग, सो उतारा करैं राईनोन,
कंज-कली-नायिका-लतानि सिर सारी दै।
मदन-महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रात हिये लावत गुलाब चुटकारी दै"*॥६६६॥

* प्रातःकाल गुलाब चटक रहा है, वह मानो कामदेव रूप राजा के बसन्त रूप बालक को चुटकी देकर उसे हृदय से लगा रहा है। वृक्षों

यहाँ वृक्षों की टहनियों आदि में जो पालना आदि का 'रूपक' है, वह गम्योत्प्रेक्षा का अंग है। क्योंकि यदि वसन्त ऋतु को कामदेव के बालक का रूपक न किया जाय तो गुलाब के पुष्पों के खिलने के शब्दों में चुटकारी देने की उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती।

जटा सम दीपति सों ललित सुसोहत है,
कलित-कलँक कर रुद्राच्छन माल है।
मारे बियोगिन कों अकारन तिहि कारन ही,
मानों बिराग कियो धारन बिसाल है।
भूषित प्रकाश अस तारन की रास वही,
आस पास जाके तल बिखरे कपाल है।
ऐसो नभ-थान है स्मशान के समान जामें,
भस्म-दुतिमान ससि राजत रसाल है* ॥७००॥

की डालियाँ उस बालक का पालना है। नवीन पत्ते, बिछौना है। पुष्प, झगूला है। पवन उस पालने को झुला रहा है। मयूरादिकों की कूक है वह उससे बातें कर रहे हैं, कोकिला मानों हाथों से ताली देकर उसे हँसाती हैं, पुष्प का पराग है, वह मानों कमल कली रूप नायिकाओं के शिर पर साड़ी उढ़ा कर राई नोंन किया जाता है।

* यहाँ आकाश को श्मशान रूप और चन्द्रमा को योगी रूप वर्णन किया है। चन्द्रमा की कान्ति है, वह जटा के समान है, कर (किरण अथवा श्लेषार्थ हाथ) में कलंक है वह रुद्राक्ष की माला धारण की हुई है। विरहीजनों का बिना कारण नाश करने के कारण मानों वैराग्य (रक्तता का अभाव अर्थात् श्वेत कान्ति) धारण किया है, ऐसा भस्म की कान्ति वाला चन्द्रमा ताराओं के समूह रूप जिसमें नर-कपाल बिखरे हुए हैं ऐसे श्मशान के तुल्य आकाश में शोभित हो रहा है।

यहाँ चन्द्रमा की कान्ति को जटा की तथा आकाश को श्मशान की उपमा दी गई है। चन्द्रमा के कलंक में रुद्राक्ष माला का रूपक है। 'वियोगियों को अकारण मारने के कारण' इस वाक्य में उत्प्रेक्षा है। 'विराग' पद में श्लेष है (विराग का अर्थ चन्द्रमा पक्ष में रक्तता का अभाव—श्वेतता है और योगी के पक्ष में राग-रहित अर्थात् विषयों में अनासक्त रहना है) इन चारों अलंकारों का यहाँ परस्पर में अङ्गाङ्गीभाव इस प्रकार है:—

(१) उपमा और उत्प्रेक्षा यहाँ श्लेष का अंग है क्योंकि यदि चन्द्रमा की कान्ति को जटा की उपमा और आकाश को श्मशान की उपमा नहीं दी जाय एवं वियोगियों को अकारण मारने की उत्प्रेक्षा न की जाय तो 'विराग' पद में श्लेष द्वारा विषयों से विरक्त होना यह श्लेपार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता—क्योंकि जटा का धारण, श्मशान का निवास और वियोगियों को अकारण मारना कहा जाने पर ही चन्द्रमा को विरक्त कहना सिद्ध हो सकता है। और 'विराग' पद में जो श्लेष है वह उक्त उपमा एवं उत्प्रेक्षा का अंग है क्योंकि विराग का (चन्द्रमा की श्वेतता का) श्लेष द्वारा दूसरा अर्थ—'वैराग्य' नहीं किया जाय तो चन्द्रमा की कान्ति को जटा की उपमा; एवं आकाश को श्मशान की उपमा और 'वियोगियों के अकारण मारने के कारण' यह हेतु-उत्प्रेक्षा सिद्ध नहीं हो सकती।

(२) 'कर' शब्द में यहाँ श्लेष है ('कर' के चन्द्रमा की किरण और हाथ दो अर्थ हैं) वह कलंक में जो रुद्राक्ष की माला का रूपक है, उसका अंग है—जब तक 'कर' का (चन्द्रमा की किरण का) श्लेपार्थ—हाथ ग्रहण नहीं किया जाय, रुद्राक्ष-माला का धारण करना नहीं बन सकता। और यह रूपक नहीं किया जाय तो यह श्लेपार्थ ग्रहण नहीं हो सकता।

(३) चन्द्रमा की कान्ति को जटा की उपमा, कलंक में रुद्राक्ष-माला का रूपक, वियोगियों के मारने की उत्प्रेक्षा और 'विराग' में श्लेष

यह चारों न किये जायँ तो आकाश को श्मशान की उपमा नहीं दी जा सकती अतः यह चारों इस उपमा के अंग हैं।

यहाँ 'कलंक है वह रुद्राक्ष-माला के समान है' इस प्रकार कलंक को रुद्राक्ष-माला की उपमा नहीं मानकर 'कलंक है वही रुद्राक्ष-माला है'। इस प्रकार रूपक मानने का कारण यह है कि उपमा में उपमेय की और रूपक में उपमान की प्रधानता रहती है। अतः यदि यहाँ उपमा मानी जाय तो कलंक का हाथ में धारण किया जाना नहीं बन सकता। इसलिये उपमा नहीं मानी जा सकती। और रूपक में उपमेय-कलंक की प्रधानता न रहकर उपमान-रुद्राक्ष-माला की प्रधानता हो जाती है तब उसका (माला का) हाथ में धारण किया जाना सम्भव हो जाता है।

---※---

सन्देह-संकर अलङ्कार

बहुत से अलङ्कारों की स्थिति होने पर एक अलङ्कार का निर्णय न होने को सन्देह-संकर अलङ्कार कहते हैं।

जहाँ दो या दो से अधिक अलंकारों की एकत्र (एक छन्द में) सर्प और नकुल (नौला)तथा दिन और रात की भाँति—विरोध होने के कारण एक काल में स्थिति नहीं हो सकती है अर्थात् जहाँ किसी एक अलंकार के माने जाने में साधक (अनुकूलता) या दूसरे अलंकार के न माने जाने में बाधक (प्रतिकूलता) न होने के कारण किसी भी एक अलंकार का निश्चय नहीं हो सकता हो कि यह अलंकार है ? या यह ?— ऐसा सन्देह रहता है वहाँ सन्देह-संकर होता है।

जैसे रतनाकर कियो निरमल छवि गंभीर,
त्योंही विधि या जलधि को क्यों न मधुर हू नीर ॥७०१॥

यहाँ प्रस्तुत समुद्र के इस वर्णन में विशेषणों की समानता से किसी अप्रस्तुत राजा के व्यवहार की प्रतीति होने के कारण यह 'समासोक्ति' है ? अथवा समुद्र के अप्रस्तुत वर्णन द्वारा उसके समान गुण वाले किसी प्रस्तुत महापुरुष के चरित्र की प्रतीति होने के कारण 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है ? यह सन्देह होता है इन दोनों अलंकारों में निश्चित रूप से एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग नहीं हो सकता है अतएव सन्देह-संकर है ।

प्रिय है वह ही सखि ! मैं भी वही मधु-यामिनी चांदनी भी वह ही है,
यह शीतल-धीर-समीर वही मृदु मालति-गंध वही की वही है,
तटिनी-तट मंजुल कुंज वही उपभुक्त हमारी नवीन नहीं है,
फिर भी प्रिय-संगम की सजनी ! अति ही मन हो अभिलाप रही है*

यहाँ 'विभावना' अलंकार है या 'विशेषोक्ति' यह निर्णय नहीं हो सकता है । क्योंकि विभावना अलंकार तो इसलिए माना जा सकता है कि यहाँ वर (पति) और वसन्त की चाँदनी रात्रि आदि सामग्रियाँ नवीन (अनुपभुक्त) नहीं, अर्थात् वही पूर्वोपभुक्त कही गई हैं । उत्कण्ठा नवीन वस्तु के लिए ही हुआ करती है न कि पूर्वोपभुक्त वस्तु के लिए

---

* स्वाधीनपतिका नायिका की सखी के प्रति उक्ति है—जिसने मेरी कुमार अवस्था का हरण किया था (प्रथम समागम किया था) वही तो पति है, चैत्र की चाँदनी रात्रि भी वही है, वही प्रफुल्लित मालती (वासन्ती-पीत चमेली) है, वही मलय-मारुत है और मैं भी वही हूँ कोई भी वस्तु नवीन नहीं—सभी वस्तु पहले की उपभुक्त हैं, फिर भी नर्मदा तट की इन कुञ्जों में मेरे मन में प्रिय-समागम के लिए उत्कण्ठा हो रही है ।

अतः नवीनता रूप कारण के अभाव में उत्कण्ठा रूप कार्य होना कहा गया है जो कि विभावना के लक्षण के अनुसार है।

'विशेषोक्ति' अलंकार यहाँ इसलिए माना जा सकता है कि पहिले कई बार उपभुक्त वस्तु रूप कारण के होने पर भी अनुत्कण्ठा (उत्कण्ठा न होने) रूप कार्य का अभाव कहा गया है अर्थात् कारण के होने पर भी कार्य न होना कहा गया है, जो कि विशेषोक्ति के लक्षण के अनुकूल है।

अतएव विभावना और विशेषोक्ति इन दोनों में किसी एक का न तो यहाँ बाधक है, जिससे वह न माना जाय और न किसी एक का साधक ही है जिससे वही मान लिया जाय अतः सन्देह-संकर है।

नेत्रानंद विधायक अब इस चंद्रबिंब का हुआ प्रकाश,
चमक रहे थे उडुगण उनका रहा कहीं अब है न उजास,
इस अरविंद वृंद का फिर क्यों रह सकता था चारु विकास,
आश-निरोधक-तम* का अब भी हुआ न क्या निःशेष विनाश।

यहाँ 'यह काम का उदय करने वाला काल है' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा जाने से क्या 'पर्यायोक्ति' है? या नायिका के मुख-उपमेय का कथन न करके केवल चन्द्र-बिम्ब का कथन किये जाने के कारण 'रूप-कातिशयोक्ति' है†। अथवा 'इस' शब्द से मुख का निर्देश करके मुख में चन्द्रमा का अभेद होने से रूपक है?‡। अथवा 'इस' शब्द से मुख-

---

* चन्द्रमा के पक्ष में सब दिशाओं में व्याप्त अन्धकार और मुख पक्ष में सब अभिलाषाओं को रोकने वाली विरह-जन्य मूढ़ता।

† रूपकातिशयोक्ति मानी जायगी, तब उडुगण और अरविन्द, अन्य नायिकाओं के मुखों के उपमान मान लिये जायँगे।

‡ 'रूपक' माना जायगा तब दूसरे, तीसरे और चौथे चरण के वर्णनों में जो रूपकातिशयोक्ति है, उसे उस रूपक की अंगभूत मान ली जायगी।

प्रस्तुत और चन्द्रमा अप्रस्तुत का 'नेत्रानन्द विधायक' आदि एक धर्म कहा जाने के कारण दीपक है ? अथवा मुख और चन्द्रमा दोनों प्रस्तुतों का एक धर्म कहा जाने के कारण 'तुल्ययोगिता' है ? या संध्या समय में विशेषणों की समानता से मुख का बोध होने के कारण समासोक्ति है ? इत्यादि बहुत से अलंकारों का यहाँ सन्देह होता है अतः सन्देह-संकर है।

मिश्रित अलंकारों के निर्णय में साधक और बाधक का स्पष्टीकरण—

जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति में एक का साधक या दूसरे अलंकार का बाधक—इन दोनों में एक—होता है वहाँ एक अलंकार का निर्णय हो जाता है। अतः वहाँ सन्देह-संकर अलंकार नहीं होता। 'साधक' का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में अनुकूलता होना। और बाधक का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में प्रतिकूलता होना। अतः—

(१) किसी एक अलंकार के ग्रहण करने में जहाँ साधक होता है,

(२) या किसी एक अलंकार के ग्रहण करने में जहाँ बाधक होता है,

(३) या साधक और बाधक जहाँ दोनों होते हैं।

वहाँ 'सन्देह-संकर' अलंकार नहीं हो सकता, क्योंकि साधक या बाधक द्वारा एक अलंकार का निर्णय हो जाता है। जैसे—

छवि बढ़ातु मुख-चंद की चांदनि ज्यों दुति-हास ॥७०४॥

यहाँ 'मुखचन्द्र' में लुप्तोपमा और रूपक दोनों की प्रतीति होती है किन्तु यहाँ धर्म वाचक-लुप्ता उपमा ही मानी जा सकती है—न कि रूपक। बात यह है कि यहाँ मुख उपमेय है और

चन्द्रमा उपमान। उपमा में उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है और हास-द्युति धर्म का होना मुख में ही संभव है अतः यह (हास्य द्युति) मुख में अनुकूलता रखने के कारण उपमा का साधक है। यद्यपि 'मुख ही चन्द्र' इस प्रकार यहाँ यदि रूपक माना जाय तो हास्य-द्युति चन्द्रमा के भी प्रतिकूल (बाधक) नहीं, क्योंकि 'द्युति रूप हास्य' इस प्रकार 'हास-द्युति' का भी रूपक हो सकता है। फिर भी यहाँ 'हास-द्युति' उपमा का साधक होने के कारण उपमा ही मानी जायगी—न कि रूपक, क्योंकि जहाँ मुख्य अर्थ सम्भव होता है, वहाँ उसे छोड़कर गौण अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार—

अहो प्रकाशित है रह्यो देखहु यह मुखचंद ॥७०५॥

यहाँ 'मुखचंद' में 'मुख ही चंद' इस प्रकार रूपक ही माना जा सकता है न कि उपमा। रूपक के मानने में 'प्रकाशित' पद साधक है क्योंकि प्रकाशित होना मुख्यतया चन्द्रमा का धर्म होने के कारण चन्द्रमा के ही अनुकूल है। यद्यपि यहाँ—'चन्द्रमा के समान मुख प्रकाशित है' इस प्रकार उपमा मानने में 'प्रकाशित' पद उपमा का बाधक नहीं, फिर भी 'प्रकाशित' रूपक का साधक होने के कारण रूपक ही है—मुख्य अर्थ को छोड़ कर गौण-अर्थ नहीं ग्रहण किया जाता।

उक्त दोनों उदाहरण 'साधक' के हैं। अब बाधक के उदाहरण देखिये—

लक्ष्मी आलिंगन करतु नृप-नारायन तोहि ॥७०६॥

यहाँ 'नृप ही नारायण' इस प्रकार रूपक माना जायगा, न कि उपमा। क्योंकि 'नारायण के समान नृप' इस प्रकार उपमा मानने में 'लक्ष्मी आलिंगन करतु' वाक्य उपमा का बाधक है—नारायण के समान अर्थात् नारायण से अन्य के साथ लक्ष्मीजी द्वारा आलिंगन किये जाने के कथन में अनौचित्य है। इसी प्रकार—

नूपुर-सिंजित पद-कमल जग-जननी के मंजु,
बंदत हौं नितप्रति विजय करन, हरन दुख पुंजु ॥७०७॥

यहाँ 'कमल के समान पद' इस प्रकार उपमा ही मानी जा सकती है, न कि 'पद ही कमल' इस प्रकार रूपक। क्योंकि जब पद को कमल रूप कहा जाय तो कमल के अनुकूल धर्म (अन्य सामग्री) का वर्णन होना चाहिये। पर यहाँ 'नूपुर सिंजित' धर्म चरण का कहा गया है वह (नूपुर का शब्द) कमल में सम्भव न होने के कारण 'नूपुर सिंजित' पद रूपक का बाधक है। और चरणों में नूपुर का शब्द सम्भव होने के कारण उपमा के अनुकूल है, फिर भी 'नूपुर सिंजित' को उपमा का साधक न कहके रूपक का बाधक ही कह सकते हैं। क्योंकि विधि-उप मर्दन (साधक का अभाव) करने वाले बाधक का उसकी (साधक की) अपेक्षा बलवानता से ज्ञान हुआ करता है।

यह दोनों उदाहरण 'बाधक' के हैं।

कहीं साधक और बाधक दोनों होते हैं। जैसे—

मुख-ससि को चुंबन करत।

यहां चुम्बन किया जाना मुख का धर्म होने के कारण मुख के अनुकूल हैं अतः उपमा का साधक है। और यह (चुम्बन) चन्द्रमा का धर्म न होने के कारण चन्द्रमा के प्रतिकूल है अतः रूपक का बाधक है इसलिए यहाँ चन्द्रमा के समान मुख, इस प्रकार उपमा ही मानी जा सकती है न कि रूपक।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि साधक और बाधक द्वारा एक अलङ्कार का जहां निर्णय हो जाता है वहाँ सन्देह-संकर नहीं होता है।

केवल सन्देह-संकर ही नहीं जहाँ कहीं एक से अधिक अलङ्कारों का सन्देह उपस्थित हो, वहाँ साधक और बाधक द्वारा ही यह निर्णय हो सकता है कि यहाँ अमुक अलङ्कार माना जाना उचित है।

एक वाचकानुप्रवेश संकर अलङ्कार

एक ही आश्रय में स्पष्ट रूप से एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति को एकवाचकानुप्रवेश संकर कहते हैं।

लक्षण में एक आश्रय के कथन द्वारा एक 'पद' समझना चाहिए। जहाँ एक ही छन्द के पृथक् पृथक् पदों में एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति होती है, वहाँ पूर्वोक्त संसृष्टी अलङ्कार होता है।

आचार्य मम्मट ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों का एक पद में समावेश होने में यह अलङ्कार माना है। सर्वस्वकार रूय्यक ने केवल दो शब्दालङ्कार या केवल दो अर्थालङ्कारों के एक पद में समावेश होने में यह अलंकार माना है।

"डर न टरै नींद न परै हरै न काल-विपाक,
छिन-छाकै* उछकै† न फिरि खरौ विषम छवि-छाक‡" ॥७०८॥

यहाँ 'छविछाक' इस एक ही पद में 'छ' वर्ण की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास शब्दालंकार और 'छवि रूप मदिरा' यह रूपक अर्थालंकार है।

"लगि लगि ललित लतान सों लहि लहि मधुप मदंध,
आवत दच्छिन ओर तें मारुत मधुप-मदंध" ॥७०९॥

यहाँ 'मारुत मधुप मदंध' इस एक ही पद में मकार की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास और मारुत को मधुप रूप कहे जाने के कारण रूपक है।

---

* क्षण भर के सेवन मात्र से। † नशे का उतरना। ‡ रूप-लावण्य रूप-मदिरा।

उपवन-श्रिय के रचना किये,
मधु नये तन पत्र विशेष से,
मधुलिहान* महान मधुप्रदा,
कुरवका† रव कारण‡ हैं महा ॥७१७॥

यहाँ चौथे चरण में 'रवका' 'रवका' में यमक है और इसी पद में 'वकार वकार' में दूसरा यमक भी है अतः यह शब्दालंकारों का एकवाचकानुप्रवेश-संकर है।

संकर और संसृष्टि प्रायः सभी अलंकारों के हो सकते हैं।

शब्दालंकार और अर्थालंकारों का पृथक्करण

प्रश्न हो सकता है कि सभी अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हैं फिर किसी को शब्दालंकार, किसी को अर्थालंकार और किसी को शब्दार्थ-उभयालंकार कह कर पृथक् पृथक् भेद क्यों माना गया? इस विषयमें शब्द श्लेष के प्रकरण° में स्पष्टता की गई है, कि जो अलंकार शब्द के आश्रित रहता है, वह शब्द का और जो अर्थ के आश्रित रहता है वह अर्थ का माना जाता है। अर्थात् जहाँ किसी शब्द के चमत्कार के कारण किसी अलंकार की स्थिति रहती हो और उस शब्द को हटा देने से उस अलंकार की स्थिति न रह सकती हो वह शब्दालंकार है और जहाँ शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी उस अलंकार की स्थिति बनी रहती हो वह अर्थालंकार है। और जहाँ किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकारता रह सकती हो और किसी शब्द का परिवर्तन कर देने पर न रहती हो वह शब्दार्थ उभयअलंकार है। इनमें जिसकी प्रधानता होती है जिसमें अधिक चमत्कार होता है उसका व्यपदेश होता है अर्थात् उसके नाम से वह कहा जाता है। जैसे 'पुनरुक्त-

---

* भृङ्गों को। † पुष्प विशेष। ‡ भृङ्गों द्वारा शब्द किये जाने का कारण। ° देखिये पृ० २४, २५, २६।

वदाभास' का तीसरा भेद और 'परंपरित रूपक' आदि शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हैं अतः वास्तव में ये शब्दार्थ 'उभयाया-लंकार है। किन्तु 'पुनरुक्तवदाभास' में शब्द का चमत्कार और परंपरित रूपक' में अर्थ का चमत्कार अधिक है—प्रधान है—अतएव वस्तुस्थिति (असलियत) पर ध्यान न देकर पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार और परंपरित रूपक को अर्थालंकार माना गया है। इसी प्रकार जहाँ एक ही छंद में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों होते हैं वहाँ चमत्कार की प्रधानता के आधार पर जो प्रधान होता है, वह माना जाता है। जैसे—

"तो पर वारौं उरवसी सुनु राधिके! सुजान,
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरवसी समान" ॥७११॥

यहाँ 'उरवसी समान' में उपमा है, पर प्रधान चमत्कार उरवसी पद के यमक में होने के कारण शब्दालंकार प्रधान है। और—

"लता-भवन तें प्रकट भये तिहिं अवसर दुउ भाइ,
निकसे जनु जुग विमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ" ॥७१२॥

यहाँ 'जनुजुग' और 'विमल-विधु' पदों में 'ज' और 'व' वर्णों की आवृत्ति होने के कारण यद्यपि शब्द का अलंकार अनुप्रास भी है, किन्तु प्रधानतः यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण का लता-भवन में से निकलने पर मेघ-घटा के हट जाने पर दो चन्द्रमाओं के प्रकट होने की जो उत्प्रेक्षा की गई है उसी में अधिक चमत्कार होने के कारण अर्थालंकार प्रधान है। और—

"बैठी मलीन अली अवली किधौं कंज-कलीन सों ह्वै विफली है,
संभु गली बिछुरी ही चली किधौं नाग-लली अनुराग रली है,
तेरी अली! यह रोमबली की सिंगार-लता-फल बेली फली है,
नाभि-थली पै जुरे फल लै कि भली रसराज-नली उछली है।" ७१३

यहाँ मलीन, अली, अवली और कलीन इत्यादि के प्रयोगों द्वारा अनुप्रास शब्दालंकार और रोमावली में भ्रमरावली आदि अनेक सन्देह

किये जाने के कारण सन्देह अर्थालंकार है। यह दोनों अलंकार यहाँ प्रधान हैं क्योंकि दोनों ही में समान चमत्कार है अतः यहाँ शब्दार्थ-उभय अलंकार है।

इसी प्रकार 'पर्यायोक्ति' और 'समासोक्ति' आदि यद्यपि गुणीभूत व्यंग्य हैं, किन्तु उनमें वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार होने के कारण वाच्यार्थ की प्रधानता है अतः वे अलंकारों में गणना किये गये हैं।

—:※:—

अलंकारों के दोष*

यद्यपि प्रथम भाग के सप्तम स्तवक में निरूपित पूर्वोक्त दोषों के अन्तर्गत ही अलंकारों के दोष भी हैं। किन्तु स्पष्ट समझाने के लिये अलंकार-विषयक कुछ दोष यहाँ निरूपण किये जाते हैं।

'अनुप्रास' दोष।

प्रसिद्धि-अभाव, वैफल्य और वृत्ति-विरोध अनुप्रास के दोष हैं।

प्रसिद्ध-अभाव—

ऐसा वर्णन किया जाना जिसकी शास्त्रों में प्रसिद्धि न हो। जैसे—

---

* अलंकारों के दोष प्रकरण को लाला भगवानदीनजी ने अपनी अलंकार मंजूषा में हमारे 'अलंकारप्रकाश' से प्रायः अविकल ले लिया है यहाँ यह बात इसलिए लिखना आवश्यक हुआ है कि तदनुरूप यहाँ देखकर पाठक यह दोषारोपण हम पर न करें कि हमने अलंकार-मंजूषा से लिया है।

"रविजा कहेतैं रन जीते जोम जोरि जोरि,
जमुना कहेतैं जमु नाके होत हेर बिन।
भानु हेति कीरति प्रभानु के परम पुंज,
भानु-तनया के कहते ही फेर फेर बिन।
'ग्वाल कवि' मंजु मारतंडनन्दिनी के कहें,
महिमा मही में होत दानन के ढेर बिन।
दूरि जात दारिद दिनेश-तनुजा के कहै,
कहत कलिंदी के कन्हैया होत देर बिन" ॥७१४॥

यद्यपि श्रीयमुनाजी के नाम की महिमा से यमराज का त्रास मिटना कीर्ति का होना इत्यादि सभी बातें सम्भव है। पर रविजा के कहने से ही रणजीतै, भानुतनया के कहने से कीर्ति हो—यमुनाजी के अन्य नामों के कीर्तन से नहीं—इस प्रकार के नियम का वाक्य पुराण इतिहासों में कहीं नहीं देखा जाता। यहाँ केवल अनुप्रास के लिए कवि के ऐसा किया है अतः प्रसिद्धि-विरुद्ध है। यह पूर्वोक्त स० ४६ के 'प्रसिद्धि विरुद्ध' दोष के अन्तर्गत है।

वैफल्य—

अर्थात् शब्दों की आवृत्ति में चमत्कार न होना। जैसे—

"पजन, प्रयत्न सों संकेत परजंक पाय,
अफुद फुँदी के फंद फदन तुराय रे।
इलै उलै ओल आली ओलत अलीलैं आलैं,
होलैं हौलैं खोलै पल बोलै हाय हाय रे" ॥७१५॥

यहाँ वाच्यार्थ में कुछ विचित्रता नहीं, केवल अनुप्रास के लिये शब्दाडम्बर है अतः अनुप्रास व्यर्थ है। यह पूर्वोक्त (सं० ३८ वाले) 'अपुष्टार्थत्व' दोष के अन्तर्गत है।

वृत्ति-विरोध—

नवम स्तवक में निरूपित उपनागरिका आदि वृत्तियों के विरुद्ध रचना होना। जैसे—

"कवि 'पजनेश' केलि मधुप निकेत नव,
दर मुख दिव्य धरी घटिका लटी सी है।
विधु परवेप चक्र चक्र रवि रथ चक्र,
गोमती के चक्र चक्रताकृत घटी की है।
नीवी तट त्रिवली वली पै दुति कोसहुंड,
कुंडली कलित लोभ लतिका बटी की है।
उपटी की टीकी प्रभाटी की वधूटी की नाभि—
टीकी धुर्जटी की औ कुटी की संपुटी की है ॥७१६॥

शृङ्गाररस में 'उपनागरिका' वृत्ति के अनुकूल रचना न होकर यहाँ कठोर वर्णों वाली विरुद्ध रचना है। यह पूर्वोक्त (सं० १७) 'प्रतिकूल वर्णता' दोष के अन्तर्गत है।

यमक दोष

एक पाद में या दो पादों में अथवा चारों पादों में 'यमक' का प्रयोग किया जाना उचित है, तीन पादों में 'यमक' के प्रयोग में 'अप्रयुक्त' दोष है। जैसे—

"तो पर वारौं उरवसी सुनु राधिके! सुजान,
तू मोहन के उर वसी है उरवसी समान" ॥७१७॥

यहाँ 'उर्वशी' पद तीन पादों में है। यह पूर्वोक्त (सं० ३ वाले) 'अप्रयुक्त' दोष के अन्तर्गत है।

उपमा दोष

(१) न्यूनता, (२) अधिकता, (३) लिङ्ग-भेद, (४)

वचन-भेद, (५) काल-भेद, (६) पुरुष-भेद, (७) विधि-भेद, (८) असादृश्य, और (९) असम्भव। ये उपमा के दोष हैं।

(१) न्यूनता—

उपमेय की अपेक्षा उपमान में जाति-गत या परिमाण-गत अथवा समान धर्म-गत न्यूनता होना। जाति-गत जैसे—

चतुर सखिन के मृदु-वचन वासर जाय विताय,
पै निसि में चांडाल ज्यों मारत यह ससि आय।७१८॥

यहाँ चन्द्रमा को चाण्डाल की उपमा जाति-गत न्यून है।

परिमाण-गत, यथा—

सोहत अनल-पतंग सम यह रवि-रथ नभ मांहि।

यहाँ सूर्य के रथ को अग्नि के पतङ्ग की उपमा परिमाण में अत्यन्त न्यून है। कहाँ सूर्य का रथ ? और कहाँ अग्नि का पतङ्गा ? यह पूर्वोक्त (सं० २२ वाले) 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत हैं।

धर्म-गत न्यूनता। जैसे—

कृष्ण-अजिन-पट लसत मुनि सुचि मौंजी युत गात,
नील-मेघ के निकट जिमि नभ दिनमनि विलसात।७१९॥

यहाँ काली मृगछाला ओढ़े हुए और मौञ्जी (मूंज के कटिबंधन) युक्त मुनि को सूर्य की उपमा है। मृगछाला को तो नील मेघ की उपमा दी गई है पर मुनि की मौञ्जी को बिजली की उपमा नहीं कही गई अतः धर्म-गत न्यूनता है क्योंकि उपमेय में जिन जिन धर्मों का कथन किया जाय उनकी समता के लिए उपमान में भी वे सभी समान धर्म कहे जाने चाहिए। यह पूर्वोक्त (सं० २२ वाले) 'न्यूनपद' दोष के अन्तर्गत है।

(२) अधिकता—

उपमेय की अपेक्षा उपमान में जातिगत या परिमाणगत अथवा धर्मगत अधिकता होना। जातिगत अधिकता, यथा—

कमलासन आसीन यह चक्रवाक बिलसाहिं,
चतुरानन युग आदि में प्रजारचत ज्यों आहि।

यहाँ चक्रवाक को सृष्टि-निर्माता ब्रह्माजी की उपमा में जातिगत अत्यन्त आधिक्य है। कहाँ चकवा पक्षी? और कहाँ सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा?

परिमाणगत अधिकता—

कामिनि पीन उरोज युग नित नित अधिक बढ़ाहिं,
ह्वै घट से गज-कुंभ से अब गिरि से दरसाहिं॥ ७२१॥

यहाँ उरोजों को पर्वत की उपमा परिमाण-गत अत्यन्त अधिक है। यह भी पूर्वोक्त 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत है। उपमान की अधिकता के कारण उपमेय का अत्यन्त तिरस्कार प्रतीत होने लगता है अतः दोष है।

धर्म-गत अधिकता—

लसत पीतपट चाप कर मनहर वपु घनस्याम,
तड़ित इंद्र-धनु ससि सहित ज्यों निसि में घनस्यान॥ ७२२॥

यहाँ श्रीकृष्ण को नीलमेघ की पीतपट को बिजली की और धनुष को इन्द्रधनुष की उपमा तो उचित है पर श्रीकृष्ण तो शंख सहित नहीं कहे गये और मेघ को चन्द्रमा युक्त कहा गया अतः यहाँ उपमान में इस समान धर्म की अधिकता है। यह पूर्वोक्त (संख्या १३ वाले) अधिक पद दोष के अन्तर्गत है।

(३) (४) लिङ्ग और वचन भेद—

उपमान और उपमेय में पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग या एक वचन

अथवा बहुवचन समान होना चाहिये। जहाँ उपमान और उपमेय के वाक्यों में लिंग या वचन का भेद होता है वहाँ यह दोष होता है। जैसे—

कहे जांय कहु कौन विधि या नृप के गुन पुंजु,
मधुरे वच हैं दाख लौं चरित चांदनी मंजु ॥ ७२३ ॥

यहाँ 'वचन' उपमेय पुल्लिग और बहुवचन है किन्तु उपमान 'दाख' स्त्रीलिंग और एक वचन है, इनका साधारण धर्म 'मधुरे' बहुवचन कहा गया है जिसका अन्वय केवल 'वचन' पुल्लिग और बहुवचन के साथ हो सकता है 'दाख' के साथ नहीं, अतः लिंग और वचन भेद दोष है।

(५) काल भेद—

उपमेय और उपमान में काल (भूत भविष्यत् और वर्तमान) भेद होना। यथा—

रन में इमि सोभित भये राम-वान चहुँओर,
जिमि निदाघ-मध्यान्ह में नभ रवि-कर अति घोर ॥ ७२४ ॥

यहाँ 'शोभित भये' इस भूतकाल की क्रिया के साथ केवल 'राम-बाण' का अन्वय हो सकता है न कि 'रवि-कर' के साथ। 'रवि की किरण शोभा को प्राप्त हो रही हैं' इस प्रकार वर्तमान काल की क्रिया के साथ कहे जा सकते हैं, न कि भूतकालिक के साथ। अतः काल भेद दोष है।

(६) पुरुष भेद—

उपमेय और उपमान में उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष का भेद होना। यथा—

सोहत हौ प्यारी ! रुचिर पट कुसुंभ तन धारि,
लाल प्रवाल-प्रवाल-भव सुभग लता अनुहारि ॥ ७२५ ॥

यहाँ नायिका को 'प्यारी' सम्बोधन दिया गया है अतः उपमेय नायिका मध्यम पुरुष है, अतः उसके साथ 'सोहत हो' का अन्वय हो

सकता है। किन्तु उपमान 'लता' प्रथम पुरुष है उसके साथ 'सोहत हो' का अन्वय नहीं हो सकता अतः पुरुष भेद है।

(७) *विधि-भेद*—

विधि-वचन के भेद से उपमेय या उपमान के एक ही वाक्य के साथ अन्वय हो सकना—दोनों के साथ नहीं होना। जैसे—

गंगा लौं प्रवहहु सदा तव कीरति महाराज ॥ ७२६ ॥

यहाँ 'प्रवहहु' इस विधि-वचन का अन्वय केवल उपमेय 'कीर्ति' के साथ हो सकता है—न कि उपमान 'गंगा' के साथ। क्योंकि विधि अप्रवृत्त को प्रवृत्त करती है; किन्तु गङ्गाजी तो बह रही हैं, इनको 'प्रवहहु' यह विधि नहीं कही जा सकती। उपर्युक्त सं० ३, ४, ५, ६ और ७ के पाचों दोष पूर्वोक्त (सं० ३५ वाले) 'भग्न प्रक्रम' दोष के अन्तर्गत ही हैं।

(८) *असादृश्य*—

अप्रसिद्ध उपमा दी जाना। जैसे—

काव्य चंद्र रचना करत अर्थ किरन युत चारु।

काव्य और चन्द्रमा का सादृश्य अप्रसिद्ध है। यदि अर्थ को किरणों का सादृश्य प्रसिद्ध होता तो उसके सम्बन्ध से काव्य का और चन्द्रमा का सादृश्य—अप्रसिद्ध होने पर भी—कहा जा सकता था, पर अर्थ और किरण का सादृश्य भी प्रसिद्ध नहीं।

(९) *असम्भव*—

असम्भव उपमा दी जाना। जैसे—

धनु-मंडल सों परतु है दीपत सर खर-धार,
ज्यों रवि के परिवेस ते परत ज्वलित जल धार ॥ ७२६ ॥

यहाँ धनुष से छूटे हुए दीप्त बाणों को सूर्य-मण्डल से गिरती हुई ज्वलित जल की धाराओं की उपमा दी गई है। किन्तु सूर्य-मण्डल से ज्वलित धाराओं का गिरना असम्भव है। यह सं० ८ और ९ के दोनों दोष पूर्वोक्त अनुचितार्थ दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं।

उत्प्रेक्षा दोष

उत्प्रेक्षा में यथा, जैसे, इत्यादि शब्दों का प्रयोग दूषित है।

उत्प्रेक्षा में मनु, जनु, इव आदिक शब्द ही सम्भावना वाचक है न कि 'यथा' 'जैसे' आदि क्योंकि ये केवल सादृश्य (उपमा) वाचक है। यथा—

वापी विच प्रकटित अहो कमल-कोस यह दोय,
संक-मानि तिय दृगन ज्यों रहे संकुचित होय॥ ७२७॥

यहाँ 'मनु' के स्थान पर 'ज्यों' शब्द का प्रयोग केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु वाच्यार्थ की सुन्दरता भी नष्ट कर देता है। यह पूर्वोक्त (सं० ८ वाले) 'अवाचक' दोष के अन्तर्गत है।

उत्प्रेक्षा-मूलक अर्थान्तरन्यास दोष

उत्प्रेक्षा के समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास का प्रयोग दूषित है।

उत्प्रेक्षा में केवल मिथ्या कल्पना है—जो बात सत्य नहीं उसकी संभावना की जाती है—ऐसे उत्प्रेक्षित अर्थ के समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास का सहारा लेना अर्थात् समर्थन करना बिना दीवार के चित्र लिखने के समान अत्यन्त असमंजस है। यह पूर्वोक्त 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत है। जैसे—

रच्छत हिमगिरि मनु तमहिं गुफा लीन रवि-भीति,
सरणागत छोटेन पर करत बड़े जन प्रीति* ।७२८॥

'तम' अचेतन है उसे सूर्य से भय होना सम्भव नहीं केवल कल्पनामात्र—उत्प्रेक्षा है। इसी प्रकार हिमाद्रि द्वारा उसकी रक्षा किया जाना भी कहाँ सम्भव है? इस मिथ्या कल्पना के समर्थन के लिये यत्न—उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास का प्रयोग—करना सर्वथा व्यर्थ है।

समासोक्ति दोष

समासोक्ति में उपमान-वाचक शब्द का प्रयोग दूषित है।

समान विशेषणों के सामर्थ्य ही से अप्रस्तुत रूप उपमान का प्रकाश हो जाता है। फिर उसका शब्द द्वारा कथन पुनरुक्ति है अतः यह पूर्वोक्त (सं० ३८ वाले) 'अपुष्टार्थ' या (सं० ४१) वाले 'पुनरुक्त' दोष के अन्तर्गत है। यथा—

स्पर्श करत रवि-करन दिसि लखि उर ताप जु आन,
कामिनि अरु चिर दिवस-श्रिय गहन कियो बहु मान† ॥ ७२९ ॥

---

* सूर्य के भय से गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार की मानों हिमालय रक्षा कर रहा है। यह उचित ही है क्योंकि शरण में आये हुए छोटे जनों पर बड़े लोग कृपा किया ही करते हैं।

† ग्रीष्म वर्णन है। सूर्य द्वारा अपने करों से, (किरणों से, नायक पक्ष में हाथों से) दिशा को (अथवा अन्य नायिका को) स्पर्श करते देख कर हृदय में ताप बढ़ जाने के कारण कामिनी ने और चिर दिन श्री ने (दिन बड़े हो जाने रूप शोभा ने) अत्यन्त मान (दिन श्री के पक्ष में परिमाण और नायिका पक्ष में मान अर्थात् कोप) ग्रहण कर लिया।

यहाँ सूर्य और दिशा में जिस प्रकार समान विशेषणों से—सूर्य पुल्लिङ्ग और दिशा स्त्रीलिङ्ग होने के कारण—नायक और प्रतिनायिका की प्रतीत होती है, उसीप्रकार समान विशेषणों से ग्रीष्म के दिन की श्री (शोभा) में भी नायिका की प्रतीति हो जाती है। फिर यहाँ उपमान-वाचक 'कामिनी' पद का प्रयोग पुनरुक्ति है।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' दोष

अप्रस्तुतप्रशंसा में उपमेय-वाचक शब्द का प्रयोग दूषित है।

जैसे 'समासोक्ति' में समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीत हो जाती है, उसी प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी तुल्य विशेषणों द्वारा प्रस्तुत का प्रकाश हो जाता है फिर उस (प्रस्तुत) का शब्द द्वारा कथन अनावश्यक है। यथा—

फूल सुगन्ध न फल मधुर छांह न आवत काम,
सेमर तरु को कृपन ज्यों बढ़िबो निपट निकाम॥ ७३०॥

यहाँ अप्रस्तुत सेमर वृक्ष के वर्णन में तुल्य-विशेषणों द्वारा ही प्रस्तुत स्वार्थी धन-परायण कृपण की प्रतीति हो जाती है। फिर उसका 'कृपन' शब्द द्वारा कथन किया जाना व्यर्थ है, अतः यह पूर्वोक्त सं० ४१ वाले 'पुनरुक्ति' दोष के अन्तर्गत है।

इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के दोष भी पूर्वोक्त ६० दोषों के अन्तर्गत हैं।

अब प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थकार का कुछ परिचय—

वैश्य अग्रकुल मांहि इक विदित अरल पोद्दार,
तहँ प्रगटे मरुभूमि में पूरब पुरुष उदार।

वासी रामगढ़* त्यों निवासी मथुरा के, सेठ-
गुरुसहायमल्ल† देस देसन बखानिये।
जिनके घनस्याम‡ घनस्याम लौं ताने सित,
कीरति-वितान जग जाहिर प्रमानिये।
तिनके जैनारायन गुविन्द-पद भक्ती में,
परायन भये हैं सो दानी ब्रज मानियें।
उनको सुत ज्येष्ठ नाम जाको कन्हैयालाल,
काव्यकल्पतरु को प्रणेता ताहि जानियें ॥७११॥

ग्रन्थ रचना प्रयोजन—

काव्य-विषय अति गहन जहँ उरझी निज मति जान,
समुझन को कछु सुगम मग कियो ग्रंथ निरमान ॥ ७३२ ॥

साहित समुद्र है अगाध त्यों अपार याको,
पारावार आजलौं न काहू नर पायो है।
हौं तो मतिमंद कहा जानत प्रबंधन कों
कोविद कविंदन को चित्त हू भ्रमायो है।
भरतादिक कर्नधार कीन्हों निर्धार याको,
करि उपकार सुठि मारग बतायो है।
ताही द्वार जाय जेतो पहुँच सक्यों हौं तेतो,
मति अनुसार सार ताको समुझायो है ॥७३३॥

नम्र निवेदन—

लख्यो परत जग में न कछु निरगुन और अदोष,
सज्जन निज जिय समुझि यह प्रकटहिं गुन ढकि दोष ॥ ७३४ ॥

---

* जयपुर (स्टेट राजधानी) से लगभग ३० कोस के फासले पर सीकर राज्यान्तर्गत रामगढ़ प्रसिद्ध है। † ग्रन्थकर्त्ता के प्रपितामह पूज्यपाद सेठ गुरुसहायमल। ‡ ग्रन्थकर्त्ता के पितामह पूज्यपाद सेठ घनश्यामदास।

ग्रन्थ समर्पण—

नायक गुविंद वृषभानु-सुता नायिका है,
दूजे जग नायक औ नायिका न मानौं मैं।
रसिक वही हैं रिझवारहू वही हैं सांचे,
औरैं को रसिक रिझवार हू न जानौं मैं।
भूषन मिस चरित कहे जग-भूषन के,
औ सब ग्रसित आधि-व्याधिन प्रमानौं मैं।
तासों रचि ग्रंथ हित उनके विनोद पद—
उनहीं के अर्पि आज आनँद अघानौं मैं॥ ७३५॥

इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति अलङ्कारप्रकाश का रचना काल—

गुन-शर-निधि-ससि वर्ष* सुभ सित पख माधव मास,
तृतिया तिथि पूरन भयो अलंकार परकास॥ ७३६॥

द्वितीयावृत्ति—काव्यकल्पद्रुम—का रचनाकाल—

पूर्ण सिद्धि निधि भूमि शुभ† विक्रम वर्ष प्रमान,
काव्यकल्पतरु ग्रंथ यह निर्मित भयो सुजान॥७३७॥

प्रस्तुत तृतीय संस्करण का रचना काल—

उन्नीसौ इक्यानवे ‡ विक्रम वर्ष अनूप,
काव्यकल्पतरु ग्रंथ को परिवर्धित यह रूप॥ ७३८॥

ग्रन्थान्त मंगलाचरण—

गणपति सिद्धि अगार गुरु, गुविंद गंगा, गिरा।
पांचहु आदि 'ग' कार नित नव मम मंगल करहिं॥ ७३९॥

---

* संवत् १९५३ विक्रमी। † संवत् १९८० विक्रमी।

‡ इस परिवर्द्धित तृतीय संस्करण की रचना का समय विक्रमीय संवत् १९९१।

अन्य कवियों की रचनाओं की वर्ण-क्रम सूची जिनके पद्य उदाहरण रूप से इस ग्रन्थ में दिये गये हैं।

नम्बरों के अंक पद्यों की संख्याओं के हैं।

अयोध्यासिंह 'हरि औध'—१८४, ३०८, ४०५
अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण)—२१६ (२), ४६१, ५४६,
उत्तमचंद भंडारी(अलङ्कार आसय)—५३४।
उरदाम—२४२।
काशीराज (चित्रचन्द्रिका)—६४१।
कासीराम—३६६।
केशवदास (कविप्रिया)—८१, १५१, २२६, ४०६, ४१०, ४६०,
५६३, ५६४, ६४३, ६८१।
गणेशपुरीजी 'स्वामी' (कर्ण पर्व)—१३, १६, १६२, २३६, ४४३,
५००, ५१४, ५४७, ६६२।
ग्वाल (अलंकार भ्रम भंजन)—४६,(अन्य ग्रन्थ)१४३,१६५,२८६,२८८,
५०४,५२५,५६८,६२१,६६६,७१४।
गुलाबसिंह 'बूँदी'—७८, ११४, ३१२।
गुविंद—१०८, २६५।
गोकुल—४१, १०६।
गोपालशरणसिंह ठाकुर—१८८, ६०६, ६६२।
घनआनंद—५१८।
छत्रपति—६४५।
जगन्नाथ चौबे—४६८।
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'—८, ५६, ८६, १३१, १७५, २१२, २३८,
२६१, २७८, ३५१, ३८३, ४१२, ४३६,
४४७, ५३२, ५४२, ६६६, ६७२, ६८२।
जयदेव—१२४।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१६	सहृदयहृदयानुरञ्जक	सहृदयहृदयानुरञ्जकः
१६	६	पच्चे	पत्ते
२३	१	पुप्पकरिणी	पुष्करिणी
४०	२०	समुच्चयो	समुच्चयौ
४१	१६	प्रधान्येन	प्राधान्येन
५३	६	केवल दूसरी में	दूसरी में केवल
५७	१६	श्रौत्यमिति	श्रौत्यामिति
६२	१३	एन्द्री	ऐन्द्री
६४	८	कर-युक्त	कर-मुक्त
६४	२३	प्रतिद्वन्द्वता	प्रतिद्वन्द्विता
६५	१६	वैधर्म्म	वैधर्म्य
७१	६	जैधो	जैत्रो
८२	६	विपर्योपमा	विपर्यासोपमा
६४	१०	"अद्भुत निज···	अद्भुत निज···
६७	१४	परावार	पारावार
१०३	१०	ताद्रूपता	तद्रूपता
११३	२३	सुमंत	सुमंत्र
११६	२	ध्वनति	ध्वनित
११७	२१	लील	नील
११८	६	"संग में श्री	संग में श्री
१२१	२१	रघुवंश	विक्रमोर्वशीय नाटक
१२५	१०	निज	जिन
१२६	८-११	"मुसकान···कहीं"	मुसकान···कहीं
१२६	२०	बढ़ी	बढ़ी

१३६	१	तिङ्त	तिङन्त
१४१	६	उसीक	उसकी
१४४	७	अपनो	आपुनो
१४८	१०-११	"रतनहार''श्याम"	रतनहार''स्याम
१४६	२०	ललिताकिका	ललितालका
१५७	१०	निर्णित	निर्णीत
१७६	१८	'बोघ'	'बोधा'
१८५	१२	तरै	तेरे
१९३	१	दोनों अर्थ	अर्थ
१६६	१३	अतुरक्त	अनुरक्त
१६६	२१	परा	पड़ा
२०५	१५	का अर्थ उत्कर्ष	का उत्कर्ष
२४४	६	बक-चिलोकन	बंक-बिलोकन
२६८	५-१२	"पाण्डु व्यूह'''"	पाण्डु व्यूह'''
३००	५	जयद्रथ ने	जयद्रथ द्वारा
३१५	११	सामन्या	सामान्या
३२२	१०	विशेप को	विशेप का
३४७	१	तगुद्ण और अतद्ण	तद्गुण और अतद्गुण
३४७	११	रक्त-रग	रक्त-रंग
३५५	११	निबन्ध	निबद्ध
३६१	१२	वक्रा	वक्ता
३६४	१६	गोपाङ्गना ने	गोपाङ्गना के
३६५	६-११	"यहाँ विवृतोक्ति''' इत्यादि	ये छः लाइन भूल से छप गई हैं
३७१	१	हा	हौं
३६४	४	माना	माना